

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL
वर्ष 5, अंक 18, अप्रैल-जून 2018

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

मूल्य : 50/-रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...

नरेश मेहता
(15 फरवरी 1922 - 22 नवंबर 2000)



किरन धेनुएँ

उदयाचल से किरन धेनुएँ,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला!
पूँछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली,
दिखा रहे पथ, इस भूमि का
सारस सुना-सुना बोली,
गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता,
किरन धेनुओं का समूह
यह आया अंधकार चरता,
नभ की आग छौंह में बैठा, बजा रहा वंशी रखवाला!
ग्वालिन-सी ले दूब मधुर
वसुधा हँस-हँस कर गले मिली,
चमका अपने स्वर्ण सींग वे
अब शैलों से उतर चली,
बरस रहा आलोक दूध है,
खेतों खलिहानों में,
जीवन की नव किरन फूटती
मकई के धानों में,
सरिताओं में सोम दुह रहा, वह अहीर मतवाला!

(दूसरा सप्तक, सन् १९६६)

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-5, अंक- 18, अप्रैल-जून 2018

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

अमरवत पद अथैतनिक

व्यवस्थापन :

हेमंत सिंह, प्रियंका सिंह, परमजीत कुमार पंडित, विनीता लाल, संदीप प्रसाद, जीवन सिंह, पूजा प्रसाद।

विशेष सहयोग :

प्रो. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, विश्व भारती, शांतिनिकेतन
डॉ. शुभ्रा उपाध्याय: खुदीराम बोस कॉलेज, कोलकाता
डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता
निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता
डॉ. पुनीत कुमार राय: शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल
डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल

संपर्क:

0332675 7195/1686, 098314 97320, 098308 39032

ई-मेल : muktanchalquarterly2014@gmail.com

sinhameera48@gmail.com

pandeyarchanaphd@gmail.com

मुक्तांचल A/c- 50200014076551

HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007

IFSC CODE- HDFC0000219

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

मुक्तांचल अप्रैल-जून 2018

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षण	08 श्रीनारायण पाण्डेय :	रवीन्द्रनाथ, प्रेमचंद और मार्क्सवाद
	15 नित्यानंद तिवारी :	आज के 'नए समय' में विद्यापति की कविता
क्षेत्र	24 डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी :	जीवन-जगत की यथार्थ संवेदना के कवि महेन्द्र भटनागर
	30 डॉ. सेवाराम त्रिपाठी :	आज की चुनौतियाँ और जन संचार माध्यम
पुनर्पाठ	अनुशीलन	
	35 डॉ. हरeram पाठक :	'शेखर: एक जीवनी' - अंतःसंघर्ष का प्रामाणिक दस्तावेज
सृजन	39 रणजीत कुमार सिन्हा:	हिंदी उपन्यासों में किसान: तुलनात्मक अध्ययन
	विमर्श	
संसार	44 रमेश कुंतल मेघ :	अकुंठ बयान
	47 शशिभूषण द्विवेदी :	शताब्दी आकाओं के वर्चस्वी विमर्श और आगाह करता भक्तिकाल
संसार	पुनर्पाठ	
	53 रविभूषण :	दो जीवन मूल्यों के बीच 'वापसी'
संसार	गवेषणा	
	60 प्रो. दयाशंकर शुक्ल	गोपाल लाहोरी का 'रस विलास': एक अनुपलब्ध रचना
संसार	शोधार्थी की कलम से	
	65 विद्या रजक :—	केदारनाथ सिंह: सृष्टि के पक्षधर कवि
संसार	समय की शिला पर	
	69 भरत प्रसाद :—	कविता सघन आत्मीयता का अखंड-अटूट, भावसिक्त संवाद है
संसार	कविता	
	74 राज्यवर्द्धन :	पंचतंत्र नहीं लोकतंत्र की कहानी, रंगा सियार, अमृत कविता, संसद, मार्क्सवाद, सिसकियाँ, नगरसेठ, तिस्ता

शोध	76 काली प्रसाद जायसवाल:	तुम्हारा आना, अंतिम दस्तक, पिता का दर्द
	77 डॉ. ललित सिंह राजपुरोहित:	वाराणसी में गिरता पत्थर, किताबें पढ़ती दीमकें
	78 आशुतोष सिंह:	गज़ल
समीक्षण	सरगम के सुर साधे	
	79 अष्टभूजा शुक्ल :	हम प्रार्थना करते हैं, किस ओर देखूँ
	नई पहल नया कदम	
	81 विशेष चंद्र नमन :	खत नहीं लिखे सदी से, अधहरी चाह
	कहानी	
	82—डॉ. पंकज साहा :	फरीद चा
सृजन	87 नीरजा हेमेन्द्र :	गुमशुदा दिनों की तलाश
	93 रामनगीना मौर्य :	दिमागी-कसरत
	पिछले पन्ने से	
	98 गोविंद मिश्र :	पगला बाबा
	भाषान्तर	
संसार	101 सुशांत सुप्रिय :	निंदक (रूसी कहानी) मूल कथाकार: एंटन
	साक्षात्कार	
	104 भूपेन्द्र हरदेनिया :	डॉ. गंगा प्रसाद विमल से बातचीत
संचार	पुस्तकायन	
	118 ऋशुसम:	परिवर्तन और निरंतरता का द्वंद्व: लुप्त होते लोगों की अस्मिता
	131 सविता मिश्र :	मनुष्य माने जाने का संघर्ष: नाला सोपारा-पोस्ट बॉक्स नं. २०३
	136 पवन चौहान :	बहुरंगी संवेदनाओं का संग्रह: 'कौन तार से बीनी चदरिया'
	अभिमत	

संस्तुति

आख्यान हमारे सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्बन है। साहित्य की इस विधा में एक पूरी की पूरी दुनियाँ झाँकती नज़र आती है। किसी भी देश, किसी भी काल का आख्यान साहित्य का एक ऐसा 'कोलाज' निर्मित करने में सफल होता है जिसमें समय और समाज का कोना-कोना झलक उठे। विगत डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय-साहित्य में कथा-कहानी का जो संसार निर्मित हुआ है उसमें धीरे-धीरे काव्यात्मकता की जगह गद्यात्मकता एवं भावनात्मकता की जगह वैचारिकता ने अपनी जगह बनाई है। आधुनिक युग में औपन्यासिकता की विधा ने महाकाव्यात्मकता के धरातल को आत्मसात किया है। हिंदी साहित्य में उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की पहली यथार्थवादी रचना 'सेवासदन' के प्रकाशन के इस वर्ष सौ साल पूरे हो रहे हैं। 'सेवासदन' हिंदी आख्यान परंपरा में वह पहला पदक्षेप रहा है जहाँ से एक अलग राह धावित होती है जो घटना प्रधान कलेवर को त्याग कर कार्य व्यापार को वरीयता देती है और चमत्कार के पंख तोड़कर वास्तव की धरती को उजागर करती है। उस समय की सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं की क्रीड़ा से उत्पन्न समाधान की खोज ने प्रेमचंद-साहित्य को आदर्शोन्मुखता का कलेवर दिया, नवजागरण काल का पूरा भारतीय समाज मुक्ति की चेष्टा में रत था। 'इमान्सिपेशन' की इस कोशिश में रचा गया आख्यान 'असत्' पर 'सत्' की विजय के सपनों से रंजित था। साहसिक कारनामे एवं चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं से भरा साहित्य संघर्षरत समाज को बल तो देता था परंतु वास्तविकता कहीं अधिक कठोर थी, जिससे लड़ने के लिए नैतिक औजारों की जरूरत थी। बीसवीं सदी के पहले कुछ दशक तीव्र बदलाव के थे। जिसमें लोग पुराख्यान एवं मिथकों से निकलकर एक ऐसी जमीन टटोलने लगे थे जिसकी सतह सख्त हो। हिंदी आख्यान परंपरा चाहे वह काव्यात्मक हो या गद्यात्मक समसामयिक संदर्भों से लैस हो रही थी। 'लोकनायक' एवं 'लोकनारी' की खोज की जा रही थी, नैतिक मान-मूल्यों को बहुत वरीयता दी जा रही थी। मनुष्य मात्र को ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए, यह शायद भारतीय समाज की अन्तरात्मा की आवाज थी। परंतु अंग्रेजी राज के भ्रष्ट शासन व्यवस्था में मूल्य एवं मान की रक्षा करना संभव नहीं था। इस विडंबना को उजागर किया है प्रेमचंद ने अपनी यथार्थवादी कथा-लेखन की परंपरा में। उनके शब्दों में 'उपन्यास जीवन चरित्र का चित्र' रहा है। हम प्रेमचंद को उपन्यास सम्राट की उपाधि से अभिहित करते हैं। जरूरत है प्रेमचंद के प्रथम यथार्थवादी कृति 'सेवासदन' के पुनर्पाठ एवं पुनर्मूल्यांकन की।

'सेवासदन' उपन्यास में तात्कालीन भारतीय समाज अपने दोहरे जीवन मूल्य एवं दुर्बल नैतिक बोध के साथ चित्रित है। औपनिवेशिक व्यवस्था में व्यक्ति अपने दीन और ईमान की रक्षा नहीं कर पा रहा था। दारोगा कृष्णचंद्र इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अगर वे जीवन भर ईमानदार नहीं रहे होते तो पाश्चाताप का कड़वा फल उन्हें नहीं चखना पड़ता क्योंकि नौकरशाहों में ज्यादातर लोग बेईमान थे और उनमें अद्भुत एकता थी। नौकरशाही का कच्चा चिट्ठा प्रेमचंद ने बड़ी बेबाकी से पेश किया है। मठ से लेकर स्वायत्त संस्थाओं तक में फैले दमन, भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता की लंबी लकीर बनी हुई थी। चैतू की हत्या से लेकर दारोगा कृष्णचंद्र की आत्महत्या तक छाया हुआ था मूल्यों का क्षरण और घनघोर विघटन। इस सब के बीच सुमन, शांता और गंगाजली जैसी अनेकों स्त्रियाँ थीं जिनकी न कोई सुरक्षा थी, न ही सम्मान था। कुमार्ग को छोड़कर कोई मार्ग नहीं

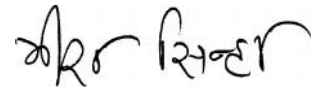
था जहाँ वे आत्मनिर्भर हो पातीं। प्रेमचंद ने मानव-सेवा को आत्मसंस्कार के एक उपाय के रूप में चुना और 'सेवासदन' की स्थापना के साथ सामाजिक आख्यान को आदर्शोन्मुख करने की चेष्टा की।

आरंभिक कथालोचना में प्रेमचंद को तरह-तरह से खींचा गया, कोई उन्हें गाँधीवादी कहता तो कोई समाजवादी बताता रहा। यहाँ तक कि विवाद को मिटाने के लिए उन्हें मानवतावाद के घेरे में सुरक्षित किया गया। अन्ततः परवर्ती कथालोचना में उन्हें 'समस्यामूलक उपन्यासकार' बताकर उनकी कृतियों को समस्याओं के तहत वर्गीकृत किया गया। इस वर्गीकरण में 'सेवासदन' की मुख्य समस्या को 'वेश्या समस्या' तय किया गया। अतः सामाजिक सांस्कृतिक समस्या का प्रतिनिधि उपन्यास आज तक भी 'वेश्या समस्या' की सीमा में कैद है। जड़ मान्यताओं एवं गतानुगतिकता से जूझता समाज हमेशा अधिकचरे जीवन बोध को ओढ़े रहता है। बीसवीं सदी के पहले दूसरे दशक का समाज भी दोहरे मूल्य मानों के बोझ से दबा पड़ा था। स्त्री की स्वाधीनता 'गृह-वधू' के चौखट के बाहर खड़ी थी। तथाकथित पढ़ा लिखा मध्यमवर्ग बहुत ही भीरु एवं आत्मकेन्द्रित था।

साहित्य की विविध विधाओं में से उपन्यास सबसे कारगर विधा है जो अपने समय को परिभाषित करने में सर्वथा सक्षम है क्योंकि समग्रता उसकी पहचान है। वस्तुतः आज का अध्येता समाज पाठ से घबड़ाता है। इस समय के तेज कहलाने वाले अध्येता भी उपन्यास के वृहद आकार से परहेज रखते हैं और उन्हें पढ़ना समय को फिजूल करना मानते हैं। अतः ऐसे धैर्यवान अध्येता समाज की जरूरत हैं जो नये की निशानदेही पर पुराने तक भी जायें और उन्हें राई-रेशे में समझने की कोशिश करें। नया साहित्य अगर आज का प्रतिबिम्ब है तो उसकी जड़ें कहीं न कहीं पिछले साहित्य में दबी पड़ी हैं।

साहित्य एक खुली जगह की तरह है जहाँ बहुत सारी चीजें अपनी-अपनी तरह से मुकम्मल हो जाती हैं, भीड़ इतनी बढ़ती है कि साहित्य में साहित्य ही नहीं रह पाता। हमारा लक्ष्य साहित्य रूपी उसी प्राण-जीवन को अंकुरित कर आबाद करने का है। साहित्य में मुख्य रूप से मूल्य और सौन्दर्य अवश्य हो, वही उसकी शक्ति है जो जमाने-जमाने तक उसे जीवित रखती है। संरक्षण में जब साहित्य रचित होता था तब भी लोकधर्मी साहित्य अधिक शक्तिशाली था। आज के विकसित कहे जाने वाले समाज में साहित्य को बाजार से बाँधने की कोशिश की जा रही है। साहित्य का इस्तेमाल होता है- आत्म प्रचार के लिए, मत प्रचार के लिए लेकिन तब भी साहित्य वही बलशाली होता है जिसमें माटी की गंध होती है, माटी से मेरा तात्पर्य मौलिकता से हैं। आज कल विश्वविद्यालयों से जुड़े साहित्य के विभाग शोध को परियोजनात्मक ढंग से नहीं लेते। समीक्षा करने की प्रवृत्ति विद्यार्थियों से बहुत दूर है क्योंकि उनमें विश्लेषण की क्षमता जागरित करने की कभी कोशिश नहीं की जाती है। किस पर शोध करने से प्रकाशकों का बाजार तेज होगा यह कहीं 'अंडरकरेंट' रहता है। आत्म प्रचार के लोभी लेखक और दौड़कर आसमान छू लेने वाले विद्यार्थियों की भरमार है।

पिछली सदी में पढ़ने-लिखने वाले आर्थिक दृष्टि से बहुत सबल नहीं थे लेकिन पढ़ना उन्हें एक तरह से आत्मबल देता था और वे अपने को कहीं स्वावलम्बी महसूस करते थे तथा समाज के प्रति उनमें उत्तरदायित्व का बोध भी रहता था। 'पढ़ा लिखा आदमी' से संवेदनशील एवं विचारवान होने की ध्वनि मिलती थी। लेकिन आज स्थिति इसके विपरीत है क्योंकि अब न पढ़ना होता है, न लिखना। होता है तो सिर्फ कौशल हासिल करना। कौशल हमें भौतिक सफलता की कुँजी तो पकड़ा सकता है लेकिन संवेदनशील एवं विचारवान मनुष्य नहीं बना सकता और यहीं से सांस्कृतिक विघटन की शुरुआत होती है और निरंतर होती चली जाती है। संतुलन नहीं बन पाता। आज हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण ऐसे ही असंतुलन की लपेट में है, जिससे मुक्त होना हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए।



संपादक

रवीन्द्रनाथ, प्रेमचंद और मार्क्सवाद

श्रीनारायण पाण्डेय

मार्क्सवाद जड़ नहीं संसार को बदलने वाला गत्यात्मक जीवन-दर्शन है। यह वैज्ञानिक भौतिकवाद प्रसूत जीवन-दर्शन आज मार्क्सवाद कहा जाता है। जैसे गाँधी जी ने अपने विचारों के लिए 'गाँधीवाद' जैसा कोई शब्द नहीं दिया था उसी प्रकार मार्क्स ने भी मार्क्सवाद जैसा कोई पंथ नहीं चलाया था। पंथ तो बाद के पंथी बना देते हैं। मार्क्स ने जिन सिद्धांतों के आधार पर दुनिया के बुनियादी और ऊपरी ढाँचे का विश्लेषण किया है, वही मार्क्सवाद है। हमारी शताब्दी को जिन तीन विचारकों ने अधिक प्रभावित किया वे डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स थे। जिसमें सबसे प्रभावशाली मार्क्स हैं।

मार्क्स के जीवन-दर्शन से किस प्रकार प्रेमचंद और रवीन्द्रनाथ प्रभावित हुए थे यही आलोच्य विषय है। दोनों इसलिए कि दोनों साहित्यकार हैं, 'मानव आत्मा के शिल्पी'। दोनों का साहित्यिक-उद्देश्य एक है। शोषित, दलित, वंचित और गुलाम जिस जंजीर में बंधे हैं, उसे तोड़ना। भाषा दोनों की भिन्न है, एक की हिंदी दूसरे की बँगला। किंतु दोनों भारतवासी हैं। दोनों ने जो कुछ कहा है, संपूर्ण मानव-जाति के लिए कहा है। क्योंकि मानव-जाति जिस बंधन में तड़प रही थी वह न भाषाई थी, न भौगोलिक, वह अन्तर्राष्ट्रीय थी। अतएव उनका आवेदन भी उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय है। मार्क्स का जीवन-दर्शन जो स्वयं में सारी मानवता के लिये निर्मित था, इसलिए उसने इन दोनों साहित्यकारों को आकर्षित किया था। क्योंकि दोनों मानवता के ही पुजारी थे।

रवीन्द्रनाथ का जीवनकाल (१८६१-१९४१) है और प्रेमचंद का (१८८५-१९३६)। रवीन्द्रनाथ बड़े हैं, प्रेमचंद छोटे। मगर लेखन का काल-बोध बहुत कुछ एक है। एक पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से जितना भिन्न था दूसरा नहीं। एक का जन्म कलकत्ता जैसे महानगर में हुआ था तो दूसरे का बनारस के पास एक छोटे से गाँव में। एक को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जगत का आँखों देखा ज्ञान था तो दूसरे को देश-विदेश का अनुभवजन्य ज्ञान। मेरी जानकारी में प्रेमचंद विदेश में नहीं गये थे। वैषम्य चाहे जितना रहा हो मगर एक जगह साम्य था, वह यह कि दोनों मानव दरदी लेखक थे। मार्क्स भी मानव दरदी-चिंतक थे। यह साम्य ही दोनों साहित्यकारों को मार्क्स के साम्यवाद की ओर खींच ले गया था। रवीन्द्रनाथ साम्यवादी देश रूस घूम आये थे, वहाँ का आँखों देखा हाल रशिया की चिट्ठी में लिख गये हैं। प्रेमचंद तन से रूस नहीं गये मगर मन से रूस का स्वर्णिम स्वप्न घर बैठे देखा था।

इन दोनों लेखकों के साम्यवादी लगाव को ही पढ़ने का आग्रह मैं इस लेख में कर रहा हूँ। रवीन्द्रनाथ लेनिन के बुलावे पर रूस गये थे १९३० में। वही हतभागा लेनिन जिसकी मूर्ति पिछले दिनों कुछ सिरफिरों ने बुलडोजर लगाकर ढहा दी है। रवीन्द्रनाथ ऐसे नहीं थे। लेनिन उनका सम्मान करते थे। उन्होंने उनके सम्मान की रक्षा की थी, रूस जाने पर उन्होंने लिखा था कि “मैं रूस आया हूँ, अगर न आता तो जीवन का तीर्थदर्शन असमाप्त रह जाता।” उसी पत्र में उन्होंने लिखा है कि “जब मास्को से निमंत्रण आया उस समय तक बोलशेविक के संबंध में हमारी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उनके बारे में बार-बार उलटी-उलटी बातें ही सुना था। हमारे मन में उनके विरुद्ध कुछ संदेह था। क्योंकि जड़ से ही उनकी साधना जबरदस्ती की साधना थी। लेकिन एक बात गौर कर हमने देखा कि यूरोप में इनकी विरोधिता कम हो गयी है। हम रूस आये हैं, हमें बहुतां ने उत्साहित किया है, यहाँ तक कि बहुत से अंग्रेजों के मुँह से भी इनकी प्रशंसा सुनी है, बहुतां ने कहा है, इन लोगों ने एक आश्चर्यजनक परीक्षा शुरू की है।”

और बहुतां ने हमें यह भय दिखाया है कि वहाँ विश्राम नहीं मिलेगा, मोटा अन्न खाना होगा। इसके अलावा यह भी कहा कि वे जो दिखाएंगे सब बनावटी होगा। मानना होगा कि इस उम्र में रूस का भ्रमण दुःसाहसिक है, मगर दुनिया में जहाँ सबसे बड़ा यज्ञ अनुष्ठित हो रहा है, निमंत्रण पाकर न जाना हमारे लिए अक्षमणीय होगा। रवीन्द्रनाथ रूस गये और लिखा “आखिर में रूस आया। जो देख रहा हूँ, आश्चर्य लग रहा है। सारे लोगों को एक साथ जगा रहा है।”

यहाँ आने पर हमें जो सबसे अच्छा लगा है वह यह कि यहाँ धनी और गरीब का भेदभाव मिट गया है। केवल मात्र इसी कारण से इस देश के मनुष्यों को आत्म मर्यादा का बोध हुआ है। आज सभी असम्मान का बोझा फेंककर सर ऊँचा कर खड़े हो सके हैं। यह देखकर मैं जितना विस्मित उतना ही आनंदित हुआ हूँ। मनुष्य का मनुष्य के साथ व्यवहार कितना सहज हो गया है। बहुत कुछ कहने को है, कहने की चेष्टा करूँगा मगर इस समय विश्राम की जरूरत है।”

रूस की चिट्ठी में उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, उसे पढ़कर ही जाना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ मानव दरदी थे इसीलिए उन्होंने जब लेनिन के रूस में मर्यादा संपन्न मनुष्यों को देखा तो वे स्तंभित और आनंदित दोनों हुए। स्तंभित इसलिए भारत या अन्य देशों में मनुष्य को वह सम्मान नहीं मिल रहा था जो रूस में मिल रहा था।

मैंने ऊपर कहा है कि रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद मानव आत्मा के शिल्पी थे। रूस में मानवता की जो सुघर मूर्ति गढ़ी जा रही थी, उसी को देखकर दोनों आकर्षित हुए थे। यह मूर्ति मार्क्सवादी दर्शन के छेनी और हथौड़े से गढ़ी जा रही थी। मूर्तिकार या शिल्पी थे लेनिन। रवीन्द्रनाथ लेनिन के रूस गये थे। आँखों देखा हाल लिख रहे हैं।

“रूस में क्रांति हुई थी। रवीन्द्रनाथ ने लिखा कि एक दिन असाम्य के विरुद्ध ही फ्रांसीसी क्रांति हुई थी। फ्रांस की सीमा पार कर उसका प्रभाव विश्व पर पड़ा था, मगर वह टिकी नहीं। आज पृथ्वी पर रूस जैसे एक देश के लोगों ने अपने देश के स्वार्थ के ऊपर सारी मनुष्य जाति के हित की चिंता की है। इनका यह संदेश टिकाऊ होगा कि नहीं, कोई नहीं कह सकता।” रवीन्द्रनाथ ने देखा था कि मानवता विरोधी शक्तियाँ कितनी प्रबल हैं और फ्रांसीसी क्रांति असफल हो गयी थी। मगर प्रभाव छोड़ गयी। आज भी हम उसको याद करते हैं। वास्तव में क्रांतियाँ सफल भले न हो अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं आने वाली क्रांति के लिए। रवीन्द्रनाथ को सब कुछ ठीक-ठाक लगते हुए भी कई खटका भी बना हुआ था। रवीन्द्रनाथ ने भारत के साथ रूसी व्यवस्था की तुलना कर लिखा था कि कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष के जनसाधारण की अवस्था और इनकी अवस्था एक जैसी थी— इस थोड़े समय में ही तेजी से बदल गयी है। हम जड़ता के जीवन में अब गले तक डूबे हुए हैं।”

लेकिन यह भी कहा “यह नहीं कहता हूँ कि कुछ (गलद) कमी नहीं है। जो है उसके लिए एक दिन इन पर विपत्ति आएगी। संक्षेप में जो कमी है वह यह कि शिक्षा का इन्होंने एक साँचा बनाया है— मगर साँचे में ढाला गया मनुष्यत्व कभी टिकता नहीं। सजीव आदमी के मन के साथ अगर विद्या के तत्त्व का मेल न मिलेगा तो एक दिन

वह सांचा चूरमार हो जायेगा नहीं तो मनुष्य का मन मर कर जड़ हो जायेगा या फिर मशीन की पुतली बन जायेगा।” रवीन्द्रनाथ की शंका निर्मूल नहीं थी। कारण कुछ भी रहा हो। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि भारतीय कम्युनिस्टों को रवीन्द्रनाथ की; की हुई रूसी प्रशंसा तो पसंद थी मगर आलोचना नहीं। इन प्रसंगों के अलावा और भी स्थल हैं जहाँ रवीन्द्रनाथ ने रूस की आलोचना की है।

रवीन्द्रनाथ की यह आलोचना भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को पसंद नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी के एक बड़े नेता सरोज मुखोपाध्याय ने २३ जनवरी १९८३ के (देशहितैषी) में लिखा है कि ठाकुरबाड़ी (रवीन्द्रनाथ का घर) में कम्युनिस्टों का जो गोपनीय ठिकाना था, वहाँ अब्दुल हलीमरदोन सेन, सोमनाथ लाहिड़ी एवं वे जाते थे। रवीन्द्रनाथ के साथ ६-७ बार नाना विषयों पर आलोचना हुई थी। एक बार उन लोगों ने ‘रशिया चिट्ठी’ की तीव्र आलोचना की। हम लोगों ने कहा कि सर्वहारा की दृष्टि से ‘रशिया चिट्ठी’ पर एक पुस्तक निकालेंगे। उत्तर में कोई आपत्ति ना कर रवीन्द्रनाथ ने कहा था ‘मैं तो कम्युनिस्ट नहीं हूँ। चौथे दशक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कुछेक बुद्धिजीवियों ने रवीन्द्रनाथ की कड़ी आलोचना की थी। बहस काफी दिन चली मगर अंत में कम्युनिस्ट पार्टी ने इस भूल को स्वीकारा। आलोचना करने वालों में सभी बुद्धिजीवी नहीं थे। तमाम लोग रवीन्द्रानुरागी थे। जो इस संकीर्णतावादी आलोचना के विरोधी थे। कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ लोग एक समय ही उनके कट्टर आलोचक रहे हों। रवीन्द्रनाथ अपने रास्ते चलते रहे। और जहाँ भी मानवीय संकट पर गुहार आयी, रवीन्द्रनाथ वहाँ हाजिर हुए। बिना भेदभाव के मार्क्सवादियों के मंच पर गये, सभापतित्व किया। नादानी को भूलते रहे।

हमने ऊपर जिस ठाकुरबाड़ी वाले गोपन ठिकाने का उल्लेख किया है, वहाँ मुजफ्फर अहमद और नजरूल इस्लाम भी आते थे। रवीन्द्रनाथ को ठिकाने का पता था। वे आने जाने वालों से समाचार पूछते, काम धाम की भी चर्चा करते थे। मुजफ्फर अहमद (मान्य नेता) और नजरूल इस्लाम ने ‘लाँगुला’ (हल) पत्रिका निकाला था। रवीन्द्रनाथ ने आशीर्वाद दिया और लिखा-

“जागो बलराम/धरो तब मरुभांगा हल/ प्राण दाओ/ शक्ति दावो/ स्तब्ध करो/ व्यर्थ को लाहल।”

यही मुजफ्फर अहमद ने जेलखाने से कम्युनिस्ट पार्टी के एक आयोजन १९६३ में रवीन्द्रनाथ की इस कविता को भेजा था।

“आमरा चली सम्रख पाने/ के आमादरे बाँधवे।

हम आगे बढ़ रहे हैं, देखें हमें कौन रोकता है।”

मुजफ्फर अहमद और कोई नहीं पार्टी के सम्मानित ‘काका बाबू’ हैं जो कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापकों में एक थे।

हमारे देश के क्रांतिकारियों पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव था और उसी तरह का प्रभाव था रवीन्द्रनाथ का भी। उन दिनों तमाम क्रांतिकारी रवीन्द्रभक्त थे। मृत्यु वरण के पहले रवीन्द्रनाथ की रचना ‘संचयिता’ या उनकी किसी रचना को पढ़ते-पढ़ते मृत्यु स्वीकार करते थे। अलीपुर जेल में विप्लवी उल्लासकर दत्त ने रवीन्द्रनाथ का गीत ‘सार्थक जनम आमार जन्मेछि एइ देशे’ गाया था। बहुत से क्रांतिकारी थे जिन्हें रवीन्द्रनाथ से प्रेरणा मिली थी। फिर दुहरा रहा हूँ कि क्रांतिकारियों के प्रेरणास्त्रोत मार्क्स भी थे। रवीन्द्रनाथ सशस्त्र क्रांति विरोधी होते हुए भी क्रांतिकारियों के विरोधी नहीं थे। क्रांतिकारियों के प्रति सहानुभूति के कारण रवीन्द्रनाथ पुलिस की निगाह में थे। पुलिस के रजिस्टर में उनका नाम ३ नम्बर ‘दागी’ में लिखा गया था। शांतिनिकेतन पर भी पुलिस की निगाह रहती थी। शासन की ओर से यह दबाव डाला जाता था कि सरकारी कर्मचारी अपने बच्चों को वहाँ से वापस बुला लें। शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन में बहुत से क्रांतिकारियों को रखा गया था। अनुशीलन समिति जो बंगाल की क्रांतिकारी संस्था थी उसके सदस्य काली मोहन घोष, चारुचंद बंदोपाध्याय, हीरालाल सेन, क्षितिमोहन सेन आदि को शांतिनिकेतन में यथायोग्य नियुक्त किया गया था। डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त को अध्यापक पद दिया गया था। विप्लवी ब्रह्मवान्धव उपाध्याय रवीन्द्रनाथ के घनिष्ठ मित्र थे। ये सभी राजद्रोही थे। रवीन्द्रनाथ वैचारिक भेदभाव हटाकर इनके मित्र, आश्रयदाता थे। कौन नहीं जानता कि क्रांति के पीछे अन्तः सलिला धारा मार्क्सवादी ही है।

मार्क्स साम्राज्यवाद विरोधी थे। रवीन्द्रनाथ भी

साम्राज्यवाद विरोधी थे। जब जापानी साम्राज्यवादियों ने चीन पर हमला किया था, उस समय जापान के प्रख्यात कवि नोगोची ने चीन के विरुद्ध जापान का समर्थन करने के लिए रवीन्द्रनाथ से अनुरोध किया था। रवीन्द्रनाथ ने इसका तीव्र तिरस्कार किया था। इसी तरह एक पत्र उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को धिक्कारते हुए मिसरथ बोन को लिखा था जो १९२६ में 'मैनचेस्टर गार्जियन' में छपा था। जहाँ भी मानवता संकट में है, वहाँ रवीन्द्रनाथ हैं, अपने सहधर्मियों के साथ। मार्क्सवाद रवीन्द्र चिन्ताधारा की सहधर्मी चिन्ता धारा है, इसलिए वे मार्क्सवादियों के साथ हैं।

१९४९ में जब नात्सी सेना ने रूस पर आक्रमण किया था उस समय विश्व स्तर पर इसका विरोध हुआ था। भारत में भी बंगाल के बुद्धिजीवियों ने 'सोवियत सुहृद संघ' की स्थापना की थी। हीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, स्नेहाशुभाचार्य, ज्योति बसु, राधा रमण मिश्र इसके प्रमुख उद्योका थे। सभापति, भूपेन्द्रनाथ दत्त और भंभी-स्नेहाश आचार्य और हीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय थे। रवीन्द्रनाथ उन दिनों अस्वस्थ थे। संगठन की ओर से सुरेन्द्रनाथ गोस्वामी मिले थे। रवीन्द्रनाथ ने अपना आशीर्वाद दिया और कमेटी का पृष्ठपोषक होना स्वीकार किया।

उसी तरह स्पेन सरकार के विरोध में फासिस्ट फ्रेंको ने जब हमला किया उस समय रोमाँ रोला ने १९३६ में विश्व वासियों से आवेदन किया था। भारत में भी 'लीग अगेन्स्ट फासिज्म एण्ड वार' संस्था का गठन हुआ। रवीन्द्र नाथ उन दिनों कलकत्ता में थे। उन्होंने कमेटी का प्रेसीडेंट होना स्वीकार किया। हिटलर और मुसोलिनी के इस फासीवाद की निंदा जवाहरलाल नेहरू ने भी की थी।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ साम्राज्यवाद और फासीवाद के विरोध में मार्क्सवादियों के साथ थे। रवीन्द्रनाथ के इस समर्थन का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

इस प्रकार के राजनीतिक आह्वानों में तो रवीन्द्रनाथ मार्क्सवादियों या मानवतावादियों के साथ थे ही। सांस्कृतिक संगठनों में भी उनकी भागीदारी बराबर दिखाई पड़ती थी है। विश्व शांति के लिए जो आवेदन पत्र रोला और बारबुस की ओर से आया था उसपर हस्ताक्षर कर्त्ताओं में शरत्चंद्र, प्रेमचंद और जवाहरलाल नेहरू के साथ रवीन्द्रनाथ भी थे।

उसी तरह कलकत्ता में होने वाले 'प्रगतिशील लेखक संघ' के दूसरे अधिवेशन में सभापतित्व की अनुमति दी थी।

इस प्रकार राजनीतिक और सांस्कृतिक मोर्चों पर रवीन्द्रनाथ हमेशा प्रगति पंथी रहे एवं मानव मूल्यों की रक्षा के संघर्ष में मार्क्सवादियों को उनका समर्थन मिलता रहा। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों मंचों पर। मानव दरदी रवीन्द्रनाथ के मन में ऊपर से भले न दिखाई दे, अन्तःमन में मार्क्स की मानव दरदी भावधारा प्रवाहित होती रही है। वर्ना वे मार्क्सवाद प्रभावित व्यक्तियों को न आश्रय देते और न संगठनों को अपना समर्थन और आशीर्वाद। मार्क्सवादियों के साथ एक मंच पर जाने में उन्हें एलर्जी नहीं थी। एलर्जी आज के कुछ सिरफिरों में रवीन्द्रनाथ और मार्क्स या लेनिन के प्रति है। और प्रेमचंद शायद बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में मार्क्सवादी चिन्ता धारा के सबसे मुखर साहित्यशिल्पी हैं। रवीन्द्रनाथ १९३० में रूस गये थे। उन्होंने लिखा है कि "तब तक बोल्शेविज्म के बारे में उनकी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उनके बारे में बार-बार उलटी उलटी बातें ही सुना था। हमारे मन में उनके विरुद्ध कुछ संदेह था।"

मगर प्रेमचंद ने १९१९ में ही दयानारायण को लिखे एक पत्र में कुबूल किया था कि "मैं अब बोल्शेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ।" और १९३४ में भी लिखा है कि "मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ। मेरी सारी जिंदगी गरीबों और दलितों की वकालत करने में गुजरी है।" इस स्वीकारोक्ति के बाद भी यह बहस करना कि प्रेमचंद मार्क्सवादी थे या नहीं बेमतलब है। बिना नाम लिये कहना चाहूँगा कि ऐसे आलोचकों को जबान और कलम दोनों बंद कर लेना चाहिए, भले ही वे मार्क्सवादी हों या गैर-मार्क्सवादी। कहना न होगा उनके पुत्र अमृतराय को भी लगता रहा है कि पिता जी 'वैज्ञानिक भौतिकवादी' मार्क्सवादी नहीं थे। अकेले प्रेमचंद नहीं थे। १९१९ में 'मर्यादा' में बोल्शेविज्म का प्रचार तथा सितंबर में उसी पर टिप्पणी एवं १९१९ के अप्रैल में 'सरस्वती' में 'रूस का राष्ट्रविप्लव' छपा। १९१९ में ही रामचंद्र वर्मा की पुस्तक 'साम्यवाद' छपी। उस दौर में हिंदी में राधामोहन गोकुल, कम्युनिज्म क्या है, सत्यभक्त कार्ल मार्क्स रामचंद्र

वर्मा की साम्यवाद जैसी और भी किताबें और लेख छपे। एक तरह समाजवादी माहौल बना था।

प्रेमचंद रूस नहीं गये थे किंतु अक्टूबर क्रांति और रूस की साम्यवादी व्यवस्था पर इतना लिखा है कि एक किताब नहीं तो पुस्तिका जरूर लिखी जा सकती है। कम्युनिज्म के मूल सिद्धांत, शोषण आधारित समाज, किसान मजदूरों की दशा, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में साम्राज्यवाद का विस्तार, फासीवाद का प्रसार, महाजनी सभ्यता आदि पर अपना विचार व्यक्त किया है। मनुष्य को मर्यादा मिली है। प्रेमचंद ने महाजनी सभ्यता में एक शेर दिया है—

*युजदः ए दिल की मसीहा नफसे भी आयद,
कि जे अनफास खुँश बुए कसे भी आयद।।*

(हृदय तू प्रसन्न हो कि पोषूषभाणी मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की सांसों से किसी की सुगंध आ रही है।)

कहने की जरूरत नहीं कि मसीहा कौन है। लेख में महाजनी सभ्यता की चीर फाड़ करते हुए उन्होंने लिखा कि 'अब नयी सभ्यता का सूर्य पश्चिम से उदय हो रहा है। जिसने इस महाजन या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत पर या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबंध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं है। महाजन इस नयी लहर में बौखलाया फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य, धर्म विश्वास की स्वाधीनता अपने अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आजादी वह इन सबकी घातक, गला घोट देने वाली बतलायी जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हुरमें तलाशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही है। कुत्सित रूप से चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसे वालों को सुलभ है, काम लेकर उनके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है पर

सच्चाई है जो इस सारे अंधकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति फैला रही है। निःसंदेह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे यह आजादी नहीं है कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत करने के लिए युद्ध करा दे। अगर इसकी स्वाधीनता ही स्वाधीनता है तो निःसंदेह नयी सभ्यता में स्वाधीनता नहीं है।

इस समाज व्यवस्था ने व्यक्ति को वह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जनसाधारण को अपनी महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फायदा उठाये या सरकारी पद प्राप्त कर मोटी मोटी रकमें उड़ाये और मूछों पर ताव देता फिरे। यहाँ ऊँचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है जितनी कुशल कारीगर की। वह गगनचुंबी प्रासादों में नहीं रहता उसकी औरतें भी बेगम साहबाँ बनी स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरतीं। सरकारी पद पाकर वह अपने को लाटसाहब नहीं, जनता का सेवक समझता है। धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है और जल्दी या देर से दुनिया उसका अनुसरण अवश्य करेगी।... महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकायेंगे, उनकी आँखों में धूल झाँकेंगे पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।''

यह था प्रेमचंद का अभिमत उस रूसी व्यवस्था के बारे में जिसकी स्थापना लेनिन, मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर कर रहे थे। महाजनी सभ्यता का यह उद्धरण प्रेमचंद की मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का दस्तावेज है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसे रूस-भ्रमण करके देखा था, प्रेमचंद ने न जाकर समझा था।

लंबा उद्धरण इसलिए दिया कि प्रेमचंद ने रूसी समाज व्यवस्था पर जितनी टिप्पणियाँ की यह उद्धरण सबकी निचोड़ है।

इसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भी पूँजीवादी देशों द्वारा किए

जाने वाले कुप्रचार का खंडन और जन-हितैषी रूसी प्रशासन की प्रशंसा की है। जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

‘महाजनी सभ्यता’ को छोड़ दूँ तो मैं एक और लेख का हवाला देना चाहूँगा जिसे उन्होंने १९१८ में लिखा था। यह १९१९ में ‘जमाना’ में (दौरे कदीम दौरे जदीद) नाम से छपा था और हिंदी में (पुराना जमाना: नया जमाना) नाम से छपा है। इसके पहले उन्होंने १९१८ में गोरखपुर से निकलने वाले ‘स्वदेश’ साप्ताहिक में अक्टूबर क्रांति पर लिखा था कि ‘अगर वास्तव में इस युद्ध में किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत। इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है तो फ्रांस की राजक्रांति ने भी नहीं किया था।’

समाजवादी व्यवस्था के बरक्स पूँजीवादी व्यवस्था पर लिखा ‘नया जमाना बनियों और व्यापारियों का जमाना है। यह आत्मा को भी तराजू के पलड़े पर तौलता है। उसे जनतंत्र कहना गलती है। बराबरी और भाईचारे को उसने पैरों तले इस तरह रौंदा है कि अब उसकी भी पहचानी नहीं जाती। इंसान की कीमत उसके नजदीक इतनी ही है कि वह रुपये कमाने का एक साधन है। यह कसाई की तरह इंसान के गोश्त और खाल का अंदाज करके उसकी कीमत लगाता है। ऐसे ही जनतांत्रिक देश रूस का विरोध कर रहे थे।

प्रेमचंद ने और भी लिखा ‘नये जमाने ने नया पन्ना पलटा है। आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिंदुस्तान इस हवा से बेखबर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ इसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जल्द या देर, शायद जल्द ही हम जनता को केवल मुखर ही नहीं, अपने अधिकारों के माँग करने वालों के रूप में देखेंगे और तब वह आपके किस्मतों की मालिक होगी। तब आपको अपनी बेइज्जती याद आएगी और आप हाथ मलकर रह जायेंगे। जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइये। इंकलाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताकत छिपी हुई है।’

प्रेमचंद ने यह सब १९१९ में लिखा था। मगर आज भी संसद के कैंटीन में बैठकर ५ साल में ७५

करोड़ का कलेवा करने वाले जननायक जनता की ताकत से बेखबर हैं।

आपने देखा कि रवीन्द्रनाथ बंगाल के ‘भद्र’ समाज से आये थे उन्होंने अपने उसी स्वभाव से मार्क्सवादी विचारों को कूट-पछोरकर स्वीकार किया था। प्रेमचंद उनसे ज्यादा मुखर हैं। शायद भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों में सबसे मुखर। प्रेमचंद ने ‘सेवासदन’ में उसी तरह लड़ाकू चरित्र बूढ़े चैतू की जो बाँकेबिहारी के कारिन्दों की मार से मर जाता है, मगर झुकता नहीं, तो ‘प्रेमाश्रम’ में ‘बलराज’ जैसे चरित्र की सृष्टि की है जिसके पास खबर आती है कि रूस में ‘किसान मजदूर राज’ है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में मित्र राष्ट्र रूस के विरोधी थे और प्रेमचंद मित्रराष्ट्र के। जब रूस और जर्मनी में संधि हो गयी थी उस पर प्रेमचंद ने जो लिखा वह पठनीय है। उन्होंने लिखा कि इस संधि में मित्र राष्ट्रों के जेनेवा सम्मेलन के सारे मंसूबों पर पानी फिर गया है। यारों ने सोचा था कि रुपये से मनमानी व्यापारिक सुविधाएँ करा लेंगे और जार को जो रुपये कर्ज दिये थे वह भी चक्रवृद्धि ब्याज सहित वसूल लेंगे फिर धीरे धीरे सोवियत गवर्मेंट को हजम कर जायेंगे फिर हमारी वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था (या कुव्यवस्था) का विरोध करने वाला कोई न रहेगा।’ यह सम्मेलन रूस को नीचा दिखाने के लिए हुआ था। मैंने पहले ही कहा है कि रूस के समर्थन में प्रेमचंद ने बहुत लिखा है।

‘राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता’ निबंध में उनका कहना है जब तक संपत्ति मानव समाज का आधार है संसार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जब तक संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता।’

अपने देश में प्रेमचंद क्रांतिकारियों के हमदर्द थे। जब ‘मेरठ षड़यंत्र केस’ में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को दंडित किया गया तब उन्होंने उस पर सरकार की निंदा की थी। प्रेमचंद रवीन्द्रनाथ की ही तरह शांति के पक्षधर थे। रोमा रोलां और बारबूस ने फ्रांसीवादियों के विरुद्ध विश्व-शांति के लिए जो आवेदन किया था उसमें रवीन्द्रनाथ के साथ प्रेमचंद ने भी हस्ताक्षर किया था। उसी तरह जिस ‘प्रगतिशील

लेखक संघ' के दूसरे अधिवेशन में सभापति के लिए रवीन्द्रनाथ ने हामी भरी थी प्रेमचंद उस संघ के प्रथम सभापति थे। इसकी स्थापना लखनऊ में हुई, उसमें सभापतित्व प्रेमचंद ने ही किया था।

गौरतलब यह है कि ये सारी संस्थाएँ या सोवियत शासन व्यवस्था मार्क्सवादी चिन्ताधारा से ही संबद्ध थीं। और प्रेमचंद तथा रवीन्द्रनाथ इस भावधारा के विरोधी नहीं, संरक्षक और प्रशंसक ही थे। प्रेमचंद अधिक मुखर थे, साहित्य में उन्होंने किसानों पर जितना लिखना था लिख गये। रवीन्द्रनाथ के विपुल साहित्य में भी किसानों की, दलितों की, वंचितों की वेदना कम नहीं है परंतु फिर भी उन्होंने जीवन के अंतिम समय १९४९ में कहा था, 'हमारी कविता विभिन्न रास्ते पर गयी है, मगर सब तक नहीं पहुँची है।' यह पछतावा कवि गुरु के मन में रह गया था।

“किसान खेत में हल चला रहा है/ताँती कपड़ा बुन रहा है/मछुआरा जाल फेंक रहा है, बहुत दूर तक इनका कर्म क्षेत्र फैला हुआ है। इनके ऊपर ही संसार टिका है। समाज के ऊँचे मंच की खिड़की पर बैठा हूँ। कभी कभी उनके पादों में गया हूँ मगर भीतर जाने की शक्ति हममें नहीं

है। इसलिए हमने अपने सुर की अपूर्णता को मान लिया है। मेरी कविता, मैं जानता हूँ, बहुत से रास्तों पर जाकर भी। सर्वत्र नहीं पहुँची है। किसान के जीवन से जो जुड़े हैं/उनकी सच्ची आत्मीयता पायी है/ जो माटी के नजदीक पहुँचे है/ उस कवि की वाणी सुनने के लिए कान लगाये बैठे हैं। स्वयं साहित्य के आनंद की मौज में, मैं जो खुद न देख सका, नित्य उसी की खोज कर रहा हूँ।”

कविगुरु और प्रेमचंद हमें वंचितों, दलितों, शोषितों, गुलामों के साथ खड़ा होना और शोषकों उत्पीड़कों का विरोध करना सिखाया, यही बड़ी थाती है। बीसवीं शताब्दी में शोषितों वंचितों, किसान मजदूरों को, 'भागो नहीं बदलो' का जो संदेश मार्क्स ने दिया था एवं जिसको लेनिन ने रूस में कार्यान्वित किया था, उस रूस का समर्थन मार्क्सवादी चिन्ताधारा का ही समर्थन है। आज दुख इस बात का है कि हमारे देश में कहीं कहीं, मार्क्स को पठन-पाठन से खदेड़ा जा रहा है तो कहीं लेनिन की मूर्ति ढहाई जा रही है, कहीं प्रेमचंद के उपन्यासों को हटाया जा रहा है तो कहीं कहीं रवीन्द्रनाथ भी अप्रकृत्य माने जा रहे हैं। यह भी एक तरह का फासीवाद है। विचारधारा का विरोध विचारधारा से करना चाहिए। पंगु विचारधारा फासिज्म का रास्ता अपनाती है।

संपर्क :

४१२/३ एफ, बक्सीखुर्द, चारागंज,
इलाहाबाद- २११००६, मो. ८००४०४०५७६

आज के 'नए समय' में विद्यापति की कविता नित्यानंद तिवारी

आज का 'नया समय' संक्रमण काल वाला नहीं है। यह ऐतिहासिक समय है ही नहीं। लेकिन हम ऐतिहासिक धारणा वाले संक्रमण काल की तरह देखें तो विद्यापति का समय लगभग भारतेंदु के समय की तरह है। वह समय संभावनाओं का है, कई आयामों के फूटने का समय है। (आज का 'न्यू नार्मल' वाला समय न संभावनाओं का है न आयामों के फूटने का है, वह तो विस्फोट है, हादसा है।)

विद्यापति का समय यदि मानसिक रूप से रतिग्रस्त ढीठ नायकों वाला समाज था जिससे साहित्य भरा हुआ था तो आज का 'नया समय' 'अतिरिक्त धर्मग्रस्त' ढीठ और हिंसक नायकों (तथाकथित) से भरे समाज वाला है।

दूसरी बात कि विद्यापति को प्रधानतः शृंगारी कवि माना जाता है। यह आधा सही है। इस बात का उल्लेख नहीं किया जाता कि शृंगार को प्रतिष्ठापित करने के लिए विद्यापति को लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी है। मैंने उसका हवाला प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। विद्यापति के पहले की जो कविता है उसमें (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तीनों का) बहुत-सा कामुकता का साहित्य है। उसमें नितान्त शारीरिकता है। उस शारीरिकता को विद्यापति ने आइडियेशनल बनाया। शारीरिकता को कांसेप्ट में बदला- तब शृंगार आया। रति भाव की ऐन्द्रियता (शारीरिकता) और धारणात्मकता की द्वंद्वत्मकता से शृंगार पैदा होता है। कामुकता में यह प्रक्रिया अनुपस्थित रहती है।

तीसरी बात विद्यापति सेकुलर कवि थे। कवि ही नहीं उनका व्यक्तित्व भी सेकुलर था। यह मैं नहीं इतिहासकारों ने कहा है। आर. चौधरी की किताब है- Mithila in the time of vidyapati उसमें उन्होंने विद्यापति के व्यक्तित्व के बारे में कहा है। विद्यापति शास्त्र पंडित थे, राजनीतिक व्यक्ति थे। मुसलमानों और हिंदू राजाओं के युद्ध को देख रहे थे। कई बार उसमें शामिल हुए थे। उत्पात का समय था, जिसका दबाव उनकी मानसिकता पर था। जीवन के धर्मंतर क्षेत्रों में अर्थ के विस्तार और गहराई की खोज विद्यापति के व्यक्तित्व की विशेषता थी। इस पर आगे विचार किया जाएगा।

चौथी बात, विद्यापति (मेरी जानकारी के अनुसार) पहले पुरुष कवि हैं जिसने स्त्री के निगाह से स्त्री के दुःख को देखा है। अन्य कवि जो बहुत उदार और उदात्त थे उन्होंने भी वह आँख मूँद ली थी जिससे स्त्री-दुःख को देखा जा सकता था। इस संदर्भ में विद्यापति ने वह खुली आँख पायी थी।

पांचवी बात कि विद्यापति ने पुरुष की परिभाषा दी है- दो संदर्भों में। उत्पाती समय में पुरुष कौन है और स्त्री के संबंध में पुरुष कौन है इसकी पहचान की है। उनका शृंगार इस पहचान के बाद पैदा होता है। मिलान किया जा सकता है कि भक्त संत कवियों ने भी पहचान पर बल दिया है। अनेक तरह की उत्तेजनाओं से भरे उस काल में पहचान का सवाल ही किसी ने नहीं उठाया था। पहचान उत्तेजना को प्रेरणा में बदलता था जो भावनाओं को विस्फोट में नहीं संगठन में नियोजित करता है।

आधुनिक युग का साहित्यिक नेतृत्व करने वाले भारतेंदु का उद्धरण देकर कहना चाहता हूँ कि उन्होंने भी मनुष्य की परिभाषा की, उसे पहचानने की दृष्टि दी। औपनिवेशिक शक्तियों के गुलाम बने भारतीय मनुष्य की परिभाषा भारतेंदु ने की थी। उन्होंने और लाला श्रीनिवास दास ने उस समय के अनुसार 'राजनीतिक और आर्थिक मनुष्य' को प्रामाणिक और सचेत मनुष्य के रूप में परिभाषित किया था।

उनका यह प्रश्न कि 'होय मनुष्यहिं क्यों भए हम गुलाम ये भूप' आधारभूत और मौलिक प्रश्न था। इस प्रश्न का उत्तर मुख्य रूप से राजनीति के क्षेत्र से ही मिल सकता था जो उन्होंने दिया।

विद्यापति ने भी उत्पाती समय में जो मुख्य रूप से राजनीति के कारण था सुपुरुष की पहचान की है। मनुष्य की पहचान के संदर्भ में विद्यापति और भारतेन्दु में विरल समानता है। खास बात यह है कि दोनों की पहचान का आधार ऐतिहासिक स्तर पर राजनीतिक सामाजिक है। संभवतः इसे ध्यान में रखते हुए इतिहासकार राधाकृष्ण चौधरी ने विद्यापति के व्यक्तित्व और कवित्व को 'सेकुलर' कहा हो।

अब मैं तनिक विस्तार से आज के 'नए' समय पर कहना चाहता हूँ। आज का सबसे बड़ा और शक्तिशाली वाक्य है- 'सबका साथ सबका विकास'। हिंदी में (Development) और (growth) दोनों को विकास कहा जाता है। याद दिला दूँ कि यह नारा 'राजनीतिक और आर्थिक मनुष्य' को ही प्रस्तावित करता है।

मैंने अर्थशास्त्र के अपने जानकर मित्रों से बात की कि क्या Development की आर्थिकी और growth की आर्थिकी समान है? मुझे बताया गया कि Development आर्थिकी में सबकी समाई होती है लेकिन growth की आर्थिकी (exclusive) 'बहिष्करण' की होती है। उसमें सबको स्वीकार करते हुए भी शामिल करना संभव नहीं।

प्राचीन 'टेक्स्ट' को पढ़ने की आधुनिक पद्धति में रेफरेंस और कांटेक्स्ट दोनों का महत्व है। रेफरेंस ऐतिहासिक कांटेक्स्ट को ठोस बनाता है। आधुनिक पाठक अपने समय के 'प्रसंग' को 'टेक्स्ट' में निहित 'प्रसंग' के द्वंद्वत्मक संबंध में पढ़ता है। आज का पाठक अतीत के टेक्स्ट में अतीत के रेफरेंस का तो उल्लेख करता है लेकिन कांटेक्स्ट के रूप में वह मर्जी मुताबिक व्यवहार करता है। पुराने टेक्स्ट में जहाँ भी कोई दरार देखता है वहाँ अपना 'कांटेक्स्ट' घुसा कर पुराने को चीर देता है। उसे राइटर्ली रीडर की संज्ञा देता है। मुख्य रूप से यह सत्ता निदेशित रीडिंग है। उसका अर्थ मानवीय केन्द्रित न होकर सत्ता केन्द्रित होता है।

क्या हम विद्यापति को इस नई पाठ विधि से पढ़ेंगे?

यानी अर्थ को अनुशासित करने वाले जो तत्त्व हैं वे शिथिल हो गए हैं और अर्थ को निर्देशित करने वाली शक्तियाँ प्रबल हो उठी हैं। वह नया है।

एक और बात। मैं 'जयपुर लिटफेस्ट' का जिक्र करना चाहूँगा। इस तरह के इवेंट बिना किसी कारपोरेट पूँजी के प्रायोजित नहीं होते। उसमें कारपोरेट पूँजी के निहितार्थ होते हैं। अभी तीन-चार वर्ष पहले टेरी इगल्टन ने एक किताब लिखी है जिसका नाम है 'दी इवेंट ऑफ लिटरेचर'। लिटरेचर इवेंट के रूप में एक मैनेजेरियल स्किल ज्यादा लगता है जो अपनी प्रकृत भूमिका के मुकाबले इतर भूमिका निभाने में सक्रिय कर दिया गया है। तो उस लिटफेस्ट में अनेक विमर्श हुए। मेरे मित्र प्रो. अभय दुबे की विमर्श के बारे में धारणा है कि विमर्श उन तत्त्वों और पहलुओं की संरचना है जो अपने कुल जोड़ से परे जाकर कोई अर्थ दे। इस बात को समझना मुश्किल है लेकिन जितना मैं समझ पाया हूँ उसके अनुसार 'जयपुर लिटफेस्ट', लिटरेचर के परे जाकर एक प्रायोजित इवेंट है।

मैंने कहीं पढ़ा था जयपुर लिटफेस्ट के प्रायोजकों में दुनिया की एक मशहूर खनन कंपनी है। उसका इतिहास फासीवादी, नस्लवादी सरोकारों से गठजोड़ का रहा है। उसके विरुद्ध मानवीय, श्रमिक और पर्यावरण संबंधी अधिकारों के हनन के असंख्य मामले हैं। ऐसी ताकतें साहित्यकारों को अपने साथ जोड़कर एक आभासी सच गढ़ना चाहती हैं ताकि उनकी प्रतिष्ठा बनी रहे। क्या साहित्यकारों को इस कारपोरेट अपराध में शामिल होना चाहिए? जो लोग शामिल हैं उनके लिए कोई क्राइसिस नहीं है लेकिन जो उसमें शामिल नहीं हो सकते वे क्राइसिस अनुभव करते हैं।

क्राइसिस यह है कि इससे अर्थमीमांसा गड़बड़ हो जाती है। हम सभी जानते हैं कि संघर्ष, सहयोग और विरोध ये जीने की व्यवहार-विधि है। लेकिन संघर्ष और विरोध के बिना आप 'सहवासी' हो सकते हैं। धंधेबाज कंपनी जो जनता का खून चूस रही है और एक साहित्यकार जो उसके साथ संघर्ष और विरोध के संबंध में न होकर उसका सहवासी बन रहा है। यह 'नए तरह' का नया है। क्या साहित्यकार बिना क्राइसिस अनुभव किए सहवासी बनना चाहेंगे?

क्या विद्यापति के सामने कुछ ऐसी स्थितियाँ थीं जिनके सामने वे इससे मिलती जुलती (सत्ता के संदर्भ में) क्राइसिस अनुभव करते थे? विद्यापति के सामने कई तरह के शास्त्र, पूरा नायक नायिका भेद है, शृंगार के नाम पर मानसिक रूप से रतिग्रस्त ढीठ नायकों का रईसी विलास है। कालिदास के बाद की अधिकांश संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परंपरा है। क्या विद्यापति बिना क्राइसिस अनुभव किए उसके सहवासी हुए? इस सवाल से मैं उलझना चाहता हूँ।

पहले मैं बताना चाहता हूँ कि भारतीय साहित्य में शृंगार क्यों इतना महत्वपूर्ण हो रहा है और क्यों और कैसे मध्ययुग में उसका पतन हुआ (?) मैं पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी को उद्धृत करना चाहता हूँ। द्विवेदी जी ने लिखा है— “कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौंदर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। परंतु इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रिय-वृत्ति को और बाह्य पदार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए तो आत्म मर्यादा को समस्त दुनिया की सुख-सुविधाओं से श्रेष्ठ समझता हो, और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुंदर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुंदर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले, पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता। (ह.प्र. द्वि. ग्रंथावली, खंड ७, पृ. ३६६)

क्या दसवीं शताब्दी और उसके बाद की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की कविता में द्विवेदी जी द्वारा उल्लिखित योग्यताएँ मिलती हैं?

विद्यापति संस्कृत के पंडित और क्लैसिक परंपराओं के गहरे जानकार थे। इसलिए अपने जमाने के प्रचलित काव्य-दृश्यों और अपनी संवेदना के बीच क्राइसिस जरूर महसूस करते होंगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर विद्यापति के सौंदर्य-चित्रण पर यूँ ही नहीं रीझे होंगे।

मैं विद्यापति के पहले के कुछ ऐसे काव्य-दृश्यों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिसका उन्होंने निश्चित सामना किया होगा। अपनी ओर से बिना किसी टिप्पणी के मैं विस्तार से उन्हें उद्धृत कर रहा हूँ।

सबसे पहले मैं ‘कुट्टनीमतं काव्यम्’ (दामोदर गुप्त प्रणीत) की चर्चा करना चाहता हूँ। कहा गया है कि ‘कुट्टनीमतं काव्यम् संस्कृत की शृंगारपरक प्रबंध काव्य परंपरा का अमूल्य रत्न है।’ (श्रीकृष्णदास- उक्त ग्रंथ के संपादक) इस ‘अमूल्य शृंगारपरक काव्य में’ शृंगार तो कहीं है नहीं— केवल कामुकता के एक से एक विवरण उभारे गए हैं। पूरा ग्रंथ वेश्या के कामोत्तेजक वर्णन और कपट रचना से भरा पड़ा है। कुट्टनी विकराला मालती नाम की वेश्या को समझाती है कि धनवान पुरुष को अपनी इस कथा से विश्वास दिलाये कि उससे वह सचमुच रागबद्ध हो गयी है। ‘इन उपायों से कामुक को खोखला कर डालना और तब उसको छोड़ने के उपाय काम में लाये।’

ग्रंथकार ने कहा है कि यह काव्यग्रंथ इसलिए लिखा गया है कि लोग सावधान रहें। लेकिन जिस संसक्ति भाव से यह रचना लिखी गयी है। उसमें और ग्रंथ के अंत में उपदेशात्मक सावधानी के बीच कोई द्वंद्व/तनावपूर्ण संबंध नहीं है। उस नितांत एकांगी कामुकता का एक दृश्यचित्र मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ—

प्रारम्भे सुरतविधौ क्रमदर्शितचित्तयोनि संवेगा।

अपशंकमर्पपिष्यसि निर्व्याजं पुत्रि गात्राणि॥

इसके अतिरिक्त प्राकृत अपभ्रंश के कुछ ग्रंथों (जो धर्म, नैतिकता, भाग्य और पुरुषार्थ के उपदेश के लिए लिखे गए हैं) के दृश्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं:

‘वृहत्कल्प भाष्य’ में एक जैन साधु एक साध्वी को अपनी दुर्बलता का कारण बताता है—

संदेसणेण पीई, पीईउ वीसम्भो।

वीसम्भाओ पणओ पंचविह वड्ढये पिम्मं।

जह जह करोसि नेहं तह तह नेहो में वड्ढइ तुमम्मि।

तेण नाडिओ मि लियं जे जे पुच्छसि दुब्बलरोति॥

(दर्शन से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से रति, रति से विश्वास और विश्वास से प्रणय उत्पन्न होता है। इस तरह

प्रेम पाँच प्रकार से बढ़ता है। जैसे जैसे मैं स्नेह करता हूँ तुम्हारे प्रति मेरी प्रीति बढ़ती है। किंतु इस स्नेह से मैं वंचित रहता हूँ- यही मेरी दुर्बलता का कारण है। अनुवाद- डॉ. जगदीशचंद्र जैन

और 'जैसे अत्यंत दुर्बल अवस्था को प्राप्त घोड़ा भी घोड़ियों के बीच में रहता हुआ क्षोभ को प्राप्त होता है वही दशा स्त्रियों के बीच में रहते हुए तपोनिष्ठ तरुण साधु की होती है।' (पृ. २२४)

और निशीथचूणी का एक दृश्य- यदि मुनि की बुद्धि स्थिर हो तो भी जैसे घी को अग्नि के पास रखने से वह पिघल जाता है वैसे ही मुनि और आर्या का मन चंचल हो उठता है। (प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. २२४, २४३)

हरिभद्र सूरि ने एक काव्यग्रंथ लिखा है 'उवएस पद' (उपदेश पद)। उसमें उन्होंने मित्र की सहायता को एक नैतिक मूल्य सिद्ध करने के लिए एक कहानी लिखी है। मूलदेव और कंडरीक ने एक यात्रा में युवा और सुंदर पत्नी के साथ जाते हुए एक पुरुष को देखा। कंडरीक उसकी पत्नी को देखकर मुग्ध व्याकुल हो गया। कंडरीक का अभिप्राय जानने पर मूलदेव ने कहा- मित्र! तुम चिंता न करो, तुम उस झाड़ी में छिप जाओ। फिर मूलदेव ने उस पुरुष के पास जाकर कहा- "देखिए, मेरी पत्नी झाड़ी में लेटी हुई है। वह प्रसवकाल में है इसलिए थोड़ी देर के लिए अपनी पत्नी को वहाँ भेज दीजिए। पुरुष ने मूलदेव की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कुछ समय बाद कंडरीक के साथ रतिक्रीड़ा समाप्त हो जाने के बाद वह मूलदेव के समक्ष उपस्थित हो हँसती है- 'हे प्रिय तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है।' फिर उसने अपने पति को संबोधित करते हुए कहा-

खडि गड्डी बइल्ल तुहु, बेटा जाया तांइ।

रणिणव हुंति मिलावणा मित सहाया जांइ।।

(तुम्हारी गाड़ी और बैल खड़े हुए हैं, उसके बेटा हुआ। जिसके मित्र सहायक होते हैं उसका अरण्य में भी मिलाप हो जाता है।)

'कथाकोश प्रकरण' में एक कथा है। जिसमें किसी स्त्री का पति परदेश गया हुआ है। वह अपने महल की ऊपरी मंजिल पर केश सँवार रही थी। रास्ते में घोड़े पर सवार

एक राजकुमार ने उसे देखा। राजकुमार ने एक सुभाषित पढ़ा, फिर स्त्री ने उत्तर दिया, "पुण्यहीन पुरुष परायी लक्ष्मी का उपभोग करना नहीं जानता। साहसी पुरुष ही परायी लक्ष्मी का उपभोग कर सकता है।"

और वह राजकुमार अपने भाग्य और साहस के बल पर कई दिन तक उस परायी लक्ष्मी का उपभोग करता रहा।

ऐसी कहानियों और सुभाषितों के माध्यम से मित्र की सहायता, भाग्य और साहस को प्रस्तावित किया गया है। ये कथाकार पंडित, शास्त्रकार और विद्वान हैं। लेकिन जिस तरह वे अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति करते हैं क्या उसे प्रलाप और झूठे भावावेगों का पाखंड नहीं कहा जा सकता! क्या कहीं भी ऐसा लगता है कि वे अपनी साहित्यिक परंपराओं को, अपने रचनात्मक आत्म से और दृश्यों से टकरा रहे हैं? वे मानवीय गुणों को किताबी रूप में जानते हैं लेकिन इस रूप में नहीं जानते कि दृश्यों को बिना गहराई से देखे (अंतर्दृष्टि) बिना उस मानस को पाये जो उनसे (दृश्यों से) रगड़ खाये या दुख उठाये और उस प्रक्रिया में से मानसिकता अर्जित करे- जानने का कोई अर्थ नहीं है। वे दृश्य से रगड़ नहीं खाते उसी में गर्क हैं। वे शारीरिक उत्तेजनाएँ धारणात्मक शृंगार में रूपांतरित होने में अयोग्य हैं।

शृंगार, स्त्री पुरुष की बराबरी और एक दूसरे के प्रति सम्मान भाव रखे बिना संभव नहीं है। (आगे चलकर रीतिकाल के एक कवि मतिराम के एक सवैया पर एक संक्षिप्त चर्चा करूँगा।)

हिंदी के पहले महत्त्वपूर्ण कवि विद्यापति को कामुक उत्तेजना से भरे उस वातावरण में 'शृंगार' को पाने के लिए कितनी बड़ी और गहरी लड़ाई लड़नी पड़ी होगी इनके साक्ष्य उनकी कविता में हैं। मैं उदाहरण नहीं दूँगा लेकिन एक पंक्ति जरूर उद्धृत करूँगा- "राधा माधव माधव रटयित राधा भेलि मधाई।' इस तरह से देखना, इस तरह से भुगतना सहना और कठिन भाव संघर्ष का तो प्रमाण विद्यापति कवि ने दिया है क्या वह अप्रतिम नहीं है?

साथ ही विद्यापति के शिव गीत इस बात के प्रमाण हैं कि नारी दुःख और यातना के जो दृश्य उनके सामने थे, उनको बिम्ब और गाथा में उन्होंने ही रूपांतरित किया।

उनके भाव दृश्य कहीं भी झूठे नहीं हैं, कहीं भी प्रलापी और पाखंडी नहीं हैं। वे महान पंडित, शास्त्रकार और विद्वान हैं। उन्होंने कविता के लिए अपने इस व्यक्तित्व से और स्त्री को भोग की वस्तु मानने वाले सामंती समाज से कितनी गहरी लड़ाई लड़ी होगी उसका अनुमान किया जा सकता है। स्त्री पुरुष की समानता का प्रमाण, प्रेम का अवधारणापरक भाव अर्जित करने में वे जरूर लहलुहान हुए होंगे।

संभवतः विद्यापति ही उस समय अकेले और पहले कवि हैं जिन्होंने अपने समय के दृश्य को बिम्ब में बदलने का प्रमाण दिया है। यानी उन्होंने भाव के भीतर की कथा या इतिहास को देखा और उसे कहा।

विद्यापति की कविता से कुछ और उदाहरण देना चाहता हूँ सिर्फ इस बात को बताने के लिए कि उनकी कविता में सामंती और शास्त्रीय तत्त्वों के होते हुए भी उनकी सहानुभूति जिस दुख के प्रति है उसके कारण तत्त्वों के साथ गहरे संघर्ष में है।

अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए मैं कालिदास का उदाहरण देना चाहता हूँ। 'मेघदूत' जिसे दुनिया का अप्रतिम प्रेम काव्य माना गया है उसमें मेघ सामंतों के महलों में घुसकर विलास के घनघोर रूपों का साक्षात्कार करता-कराता है। लेकिन यक्ष कहता है कि तुम यह सब गहराई से देखो लेकिन तुम्हें वहाँ ठहरना नहीं है, तुम्हें देर तक ठहरना वहाँ है जहाँ श्रमबलाएँ फूल चुनती हों और जिनके कर्णाभूषण श्रमस्वेद और धूल से मैले हो गए हों। वहाँ बहुत देर रुककर उन्हें शीतलता प्रदान करना। 'मेघदूत' में महलों के सामंती विलास को मात्र एक श्लोक चीर देता है।

उसी प्रकार विद्यापति के पदों में निहित उनकी कवि-सहानुभूति शास्त्रीय (नायक-नायिका भेद) और सामंती विशेषताओं और ताकतों को दरका देती है।

कुछ उद्धरण-

सखि हमर दुखक नहिं ओर

ई भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर।

झंपि घन गरजन्ति संतत भुवन भरि बरसन्तिया

कन्त पाहुन काम दारुण, सघन खर सर हन्तिया

कुलिस कल सतपात मुदित मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया

.....

तेलु विन्दु जैसे पानि परारिअ ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहि सुखाए तैसन मोर सोहाग।

.....

माधव अनुखन माधव सुमरित सुन्दरि भेल मधाई।

.....

जनम अवधि हम रूप निहारल

नयन न तिरपित भेल

इस 'दुख', इस 'रूपांतरण' और इस 'रूप' में जो मर्म, जो रूपांतरण और जो अवधि, जो विश्वरूपता और सौंदर्य के प्रति जो कालातीत प्यास है वही तो भाव की भीतरी कथा है, इतिहास है जिसे विद्यापति ने कहा है।

साथ ही भाषा देखिए। नई भाषा उस समय अभी उभर रही थी और उस समय विद्यापति ऐसी साफ सुथरी सक्षम भाषा का उपयोग करते हैं। भाषा के बदलते हुए निरूपक विन्यास स्पष्ट कर देते हैं कि जिस शृंगार में रूप की अनिवार्य सत्ता है उसे सिर्फ शारीरिकता से ऊपर उठाकर विद्यापति उसे विश्वरूपी बना रहे हैं। वहाँ शारीरिकता निषेध नहीं उसे 'विषय-व्याप्ति' बनाया गया है।

भाषा के सिलसिले में मैं लय की चर्चा करना चाहता हूँ। यह तो प्रायः स्वीकार्य तथ्य है कि विद्यापति की कविता और लय का प्रधान स्रोत लोक है। आम तौर पर यह कहा जाता है कि विद्यापति ने पद शैली में लिखा है। यह लगभग उसी तरह कहा जाता है जैसे सूफी कवियों के कथा काव्यों को 'मसनवी शैली' में लिखा जाना कहा जाता है। मुझे लगता है कि मध्य युग में पद कविता का एक विशेष रूप बंधन (Form) है जो छंद होकर भी उससे अधिक है। वह नई कविता के रूप बंधन की तरह कुछ कुछ है। लय की बढ़ी हुई सक्रियता (संगीत के शास्त्रोनुमोदित लय से अपेक्षाकृत स्वच्छंद क्षेत्र में लोक लय से ऊर्जा ग्रहण करते हुए) के कारण एक विशेष निर्मिति है। क्या पद को मुक्तक कहा जा सकता है? क्या उसे शैली कहा जा सकता है? ये दोनों ही मुझे अपर्याप्त अभिव्यक्तियाँ प्रतीत होती हैं। (इस संदर्भ में

सरहपा को स्मरण किया जा सकता है। जिनकी लोकोन्मुखता में संदेह नहीं है।)

लय में यह खास विशेषता है कि वह छंद में घिरे आकाश की सीमाओं को तोड़कर ज्यादा आकाश मुक्त कर सकती है।

इसका उल्लेख मैंने सिर्फ इसलिए किया है कि शृंगार के नाम पर बिना किसी संकट को अनुभव किए जो नितांत कामुक अभिव्यक्तियाँ की गई थीं— यह रूपबंधन (Form) उसका सामना करता है। मेरे जानने में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में पद का चलन नहीं था। यह विद्यापति और उनके बाद प्रमुख रूप से अन्य कवियों द्वारा चलन में आया।

यानी विद्यापति की भाषा और रूपबंधन दोनों में यह योग्यता थी कि लौकिक स्तर पर भी अनुभूति और अर्थ के सूक्ष्म, गहरे और मार्मिक संवेदनों की सर्जना हो सकती है। इस बात को कहने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि विद्यापति को भक्त भी माना जाता है।

आज यह समस्या नहीं है। आज तो बड़ी तीव्रता से यह समस्या खड़ी हो गई है कि हम सेकुलर की संभावनाओं को खोज कर उस पर ज्यादा बलाघात दें। इस सिलसिले में मुझे आर. चौधरी की किताब *Mithila in the time of vidyapati* से बड़ी सहायता मिली। उन्होंने लिखा है— "He (Vidyapati) struck a human and secular note that was all together new to the vernacular literature." ...Though the set up in Mithila was feudal, conditions had begun to change and Mithila's context with other states was growing. It was under such conditions that our poet lived and wrote. He was himself one of the participants in the history of Mithila and he shaped its course for about eight decades if not more. राधाकृष्णन चौधरी :मिथिला इन दी टाइम ऑफ विद्यापति, पृ. ३५

कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्वान, शास्त्रज्ञ और कवि होने के अलावा विद्यापति राजनैतिक व्यक्ति भी थे। उन्होंने युद्धों में भी भाग लिया था। वह समय बहुत घटना संकुल था। एक अजीब साम्य है विद्यापति के समय और

भारतेंदु के समय में। जैसे विद्यापति राजनैतिक व्यक्ति होने के साथ रचनाकार भी थे उसी प्रकार भारतेंदु का समय भी था।

विद्यापति के समय में मुसलमानों के आने के कारण विभिन्न धर्मावलंबी समाजों में संपर्क, संघर्ष और सहयोग की धर्मेतर (मानवीय) जमीन उभरने लगी थी। आगे चलकर विशेष रूप से जायसी, कबीर और सामान्यतः लगभग सभी भक्त कवियों में इसकी संभावना मजबूत हुई। यही तो सेकुलर है। जब कुछ देर पहले मैंने लौकिक स्तर पर सूक्ष्म और गहराई की खोज की बात विद्यापति की कविता के बारे में की थी तो उसका तात्पर्य बहुत कुछ इस बिंदु की ओर भी संकेत करना था।

पहले कहा जा चुका है कि विद्यापति आधुनिक आर्यभाषाओं के उदय काल में सक्रिय थे। सामंती काल था इसलिए चारण काव्य भी रचा जा रहा था। डॉ. रामविलास शर्मा ने चारण काव्य के भीतर कई संभावनात्मक आयामों की चर्चा की है।

उन्होंने लिखा है, “जहाँ सामंत होंगे वहाँ उनके प्रशस्ति-गायक भी होंगे।... यह परंपरा अखिल भारतीय है।... संस्कृत-प्राकृत से हटकर जो आधुनिक भाषाएँ साहित्य का माध्यम बनीं, उनमें शुरुआत चारण काव्य से होती है।... चारण काव्य परंपरा से अनेक धाराएँ फूट रही थीं। उसमें एक धारा यथार्थवाद की भी थी। यदि हम प्रशस्ति परंपरा को मध्ययुगीन मानें और यथार्थवाद को आधुनिक तो कह सकते हैं, मध्यकालीनता के भीतर से आधुनिकता की धारा फूट रही थी।” (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, पृ. ८४) उन्होंने साहस के साथ लिखा था (कीर्तिलता के संदर्भ में) कि “पुरानी काव्य रूढ़ियों के बीच से यथार्थवादी धारा फूटती दिखई देती है। (वही, पृ. ८८)

क्या विद्यापति उसी स्रोत बिंदु पर नहीं थे ?

विद्यापति के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने जिस आधुनिकता की चर्चा की है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। वह अध्ययन के तर्कों को नई ऊर्जा और रोशनी प्रदान करती है। शर्मा जी के अध्ययन से यह तर्क फूटता है कि मध्यकाल के कवियों में आधुनिकता के तत्त्व हैं और इस आधार पर उन्होंने माना है कि उस युग को प्रारंभिक आधुनिक काल कहा जा सकता है।

इस संदर्भ में मैं एक विशेष बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ। विद्यापति ने जो देवों की स्तुतियाँ की हैं उससे यह लगता है कि उनकी 'देव-श्रद्धा' किसी एक देवता के प्रति समर्पित नहीं है। इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि शैव, वैष्णव, शाक्त में से किसी एक धर्मसाधना के समर्थक पूजक विद्यापति नहीं है। एक छंद देखिए—

खन पंचानन खजभुज चारी।

खन सिवसंकर देव मुरारी।

खन विन्दावन चरावथि गाय।

खन भिख मांगथि डमरू बजाय।

खन यमुना तट लेथि महादान।

खन झरिखंडम धरथि धेयान।

भनहि विद्यापति सुनहु महेस।

निरधन जानि के हरहु कलेस। (उद्धृत, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, पृ. ८४)

क्या इस छंद के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि विद्यापति किसी एक देवता के प्रति समर्पित नहीं थे? संस्कृत के महापंडित और मैथिली साहित्य के अध्येता महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र ने विद्यापति की 'देव-श्रद्धा' के विषय में एक महत्वपूर्ण बात कही है। बिहार और उत्तर प्रदेश के पूर्वी हिस्से के लगभग हर गाँव में शिवालय होता है। शिवालय के चबूतरे से सटा हुआ महावीर जी का ध्वज होता है। हर गाँव की पूर्व दिशा में काली माई का स्थान होता है। इस प्रकार गाँवों और किसानों की 'देव-श्रद्धा' वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों को एक साथ स्वीकार करती है। यह बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है कि विद्यापति की 'देव-श्रद्धा' गाँवों की देवश्रद्धा से मिलती-जुलती है। उसका स्वरूप साम्प्रदायिक मान्यताओं से भिन्न है। मैंने भी सामान्यतया गाँव के वृद्धजनों के मुँह से सुना है, "हे भगवान! (उस भगवान में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों शामिल होते हैं) मेरी पत्नी कहाँ हेरा गई है? कब मुझे मुक्ति मिलेगी?" विद्यापति के अध्येताओं, विमानबिहारी मजूमदार और खगेन्द्र नाथ मित्र ने विद्यापति को उद्धृत किया है— "कबहुंकर हरब दुख मोर हे भोलानाथ!" यह निवेदन परिणत वयस का स्वाभाविक मनोविज्ञान है। यह सब ग्रामीण मनोभाव की बनावट में समाहित है।

विद्यापति की कविता में (विशेषकर पदावली में) जिस 'लोकभाव' और 'लोकलय' की केन्द्रीयता बताई गई है उसमें धर्म-भाव, साधनागत न होकर सामान्य विश्वासगत है।

अकारण नहीं है कि विद्यापति के पद, लोक में विभिन्न अवसरों पर ग्रामीणों द्वारा गाए जाते हैं।

इस प्रकार विद्यापति की कविता के बारे में यह कथन किया जा सकता है कि "शास्त्र, लोक, यथार्थवाद और स्वच्छंद धारा, उनका परस्पर संपर्क और इनकी स्वाधीन गतियाँ— एक साथ अनुभव की जा सकती हैं। बिल्कुल आज की शब्दावली में कहें तो शास्त्र और लोक एक दूसरे को विखंडन करते हुए लेकिन उनके अस्तित्व को मान्य करते हुए, यथार्थवाद और स्वच्छंदधारा टकराते हुए और सहवासी होते हुए उनकी कविता में विन्यस्त हैं।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश उस समय ये सभी परिनिष्ठित भाषाएँ थी। इन सभी के होते हुए विद्यापति ने कहा था 'देसिल बयना सब जन मिट्टा।' इस भाषिक एटीट्यूड के कारण विद्यापति के विषय, भाषा और शैली के निरूपक प्रतिदर्श बदले हुए हैं। इस प्रकार का बदलाव गहरे सामाजिक सरोकार के बिना संभव नहीं था।.....

विद्यापति की कविता की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह 'पुरुष-श्रेष्ठता-परंपरा' के प्रति आलोचनात्मक है। सामंती और शास्त्र परंपरा में यह संभव नहीं था। ऐसा लगता है कि विद्यापति पुरुष-परंपरा से भिन्न अभिव्यक्ति की किसी स्त्री परंपरा के घनिष्ठ संपर्क में थे।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि विद्यापति ने अपने समय में उत्पाती वातावरण में और स्त्रियों के संदर्भ में पुरुष को परिभाषित किया है 'सुपुरुष' की पहचान के साथ कुपुरुष की पहचान के लक्ष्य भी उन्होंने बताए हैं—

सुपुरुष प्रेम कबहु नहिं छाड़, दिने दिने चन्द्रकल सम बाढ़।

सुपुरुष सिनेह अन्त नहिं होए।

सुपुरुष वचन कबहु नहिं विचलए जओ विहि वामेओ होए।

जनम कृतारथ सुपुरुष संग।

सुपुरुष भाषा चौमुख वेद।

कसिअ कसौटी चीन्हिअ हेम प्रकृत परेखि परेणिअ सुपुरुषेम।

दिने दिने बाढ़य नेहा, अनुदिन जैसे चाँदक रेहा।

दूसरा उद्धरण कुपुरुष से संबंधित है-

एके अबला अओके सहजक छोटि।
कर धरइते करुणा कर कोटि।
ऑकम नामे रहए हिअ हारि।
जनि करिवर तर खसल पओनारि।।
नयन नीर भरि नहिं नहिं बोल।
हरि-डरें जइसे हरिण-जिव डोल।।
कौशलें कुच-कोरक करे लेल
सखि देखि तिरि बध संसय भेल।।

.....

.....

भनइ विद्यापति सुनुहु मुरारि।
अति-रति-हठ नहिं जिबए नारि।।

(एक तो अबला है, छोटी है बहुत अधिक करुणा से प्रार्थना करती है। लेकिन जैसे हाथी पाँवों तले मृणाल को कुचल देता है। वह डरती है जैसे शेर के सामने हिरनी डरती है। विद्यापति कहते हैं कि अति-रति-हठ से नारी जीवित नहीं रहती है।)

रति संबंधी विभिन्न आसनों से लैस पुरुष अपनी काम-वासना से कैसे नारी के भीतर 'डर' बोता है उसका बड़ा दारुण उदाहरण यह छंद है। विद्यापति ने शिवगीत में और अन्यत्र भी नारी के भीतर के इस 'डर' को अभिव्यक्त किया है।

यह 'कुपुरुष' है।

मैंने संस्कृत और प्राकृत के जो उद्धरण पहले दिया है उनमें इस प्रकार के 'कुपुरुषों' की भरमार है। वे स्त्री को बराबरी का दर्जा देकर प्रेम करने में अयोग्य हो चुके हैं। विद्यापति ने ऐसे 'कुपुरुषों' से भरे साहित्य और समाज में 'सुपुरुषों' की खोज की है जो स्त्री को बराबरी का सम्मान देकर प्रेम करने के लायक बना सकें।

नारी-दुख के संदर्भ में विद्यापति के गीतों का वजन बहुत भारी है। फिर भी उन्हें प्रमुख रूप से शृंगार का ही कवि माना जाता है। इस मान्यता के पीछे एक शास्त्रीय तर्क तो यह दिया जा सकता है कि विप्रलंभ शृंगार में तो दुख

और करुणा की प्रधानता होती है। इसलिए वह नारी दुख शृंगार के अन्तर्गत ही आता है। लेकिन अभी मैंने जो छंद उद्धृत किया है क्या वह वियोग है? और अगर वह संयोग का है तो कितना दारुण और कितना अमानवीय है!

इसका एक कारण तो संभवतः यह भी रहा हो कि काव्य में शृंगार-वर्णन की परंपरा पुरुष-शासित रही है जबकि स्त्री की आँख से स्त्री के दुख-सुख के वर्णन की परंपरा अत्यंत क्षीण रही है। मुझे यहाँ सीमन बुआ का स्मरण होता है। उन्होंने जिस तरह सेकेण्ड सेक्स की धारणा प्रस्तावित की है क्या उसी तरह साहित्य में भी 'सेकेण्ड टेक्स्ट' की स्थिति को भी देखा और माना जा सकता है?

मैंने अभी जिस 'सेकेण्ड टेक्स्ट' की चर्चा की है यदि थोड़ी भी सचेत आँख से देखा जाय तो पता चल जायेगा कि यह कितनी गहराई से हजारों साल से हमारे समाज में उपस्थित है। सभी जानते हैं कि संस्कृत नाटकों में स्त्री और शूद्र प्राकृत में ही बोलते हैं वे संस्कृत में नहीं बोल सकती/सकते। इसी तरह समाज के अनेक मामलों में स्त्री और शूद्र की एक ही श्रेणी रही है।

विद्यापति के गीतों में स्त्री माना पुरुष की उपभोग्या है इस धारणा का खंडन है। ऐसा लगता है कि विद्यापति, स्त्रियों संबंधी टेक्स्ट (सेकेण्ड टेक्स्ट) की किसी लंबी परंपरा से परिचित हैं, जबकि ज्यादातर या लगभग सभी कवि उस स्रोत में खूब भरे दुख से किनारा ही किए रहे।

प्रो. नवनीता देवसेन ने कुलीन टेक्स्ट के समानान्तर गौण (सेकेण्ड टेक्स्ट) के बारे में लिखा है। मैं उसे उद्धृत करना चाहता हूँ।

“स्त्रियों का मुंह बंद करना संसार में पुरुष निर्मित सभी समाज व्यवस्थाओं में स्वाभाविक रहा है। जब स्त्रियाँ बोल नहीं पाती हैं तो गा सकती हैं। स्त्रियाँ महान युद्धों या दिव्य चमत्कारों का गायन करने में रुचि नहीं लेतीं- वे ऐसे आख्यानों को चुनना पसंद करती हैं जिनमें सीता के कष्ट, स्त्री-जीवन का दर्द और दुख है।

गाँव की स्त्रियाँ सीता, द्रौपदी के माध्यम से रोती-गाती हैं। उसी माध्यम से अपनी जिजीविषा को व्यक्त करती हैं।

जहाँ पुरुष राम संबंधी पवित्र महाकाव्यों को ईश्वर की

पूजा के लिए उपयोग करते हैं, वहीं स्त्रियां पुरुष के रूप में राम की आलोचना के लिए करती हैं। एक ओर बंधी बँधाई धर्म दृष्टि तो दूसरी ओर 'सेकुलर दृष्टि' है।'

मैं इस उद्धरण के माध्यम से उस महान और पवित्र परंपरा का जिक्र करना चाहता हूँ जिसमें राम को भारतीय जीवन और संस्कृति में मर्यादा पुरुषोत्तम का सर्वोत्तम प्रमाण माना जाता है। उस राम को उनकी पत्नी सीता ने ही चुनौती दी थी। वह कथात्मक लोकगीत अपने विस्तार नहीं अपनी गहराई और सघनता में अचूक और बेधक है।

यह गीत कथा अतिपरिचित है। सारा प्रसंग लोगों का जाना हुआ है। इसलिए मैं उसके अंतिम हिस्से का थोड़ा बयान करूँगा।

राम अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। उनका घोड़ा दो बालकों ने पकड़ लिया था। राम की सारी सेना उन बालकों से पराजित हो चुकी थी। अंत में राम अपने कुलगुरु वशिष्ठ के साथ आते हैं। राम को पता लग जाता है कि दोनों बालक उनके ही पुत्र हैं। तभी वहाँ सीता उपस्थित होती हैं। राम उनसे अयोध्या लौट चलने का आग्रह करते हैं। सीता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर गुरु वशिष्ठ वही आग्रह दुहराते हैं। सीता ने कहा कि मैं गुरुजी का आग्रह टाल नहीं सकती। सीता अयोध्या की ओर सात पग चलती हैं और वशिष्ठ से कहती हैं कि गुरु जी बस इससे आगे मुझसे न होगा। अब तो राम से चित्त ही फट गया है।

सीता 'विरोग' भरी आँखों से राम को देखती हैं, धरती फटती है और वे धरती माँ की गोद में समा जाती हैं। धरती ही नहीं ब्रह्माण्ड फट जाता है।

जिस आँख से सीता ने राम को देखा था वैसी आँखों से देखने के लिए क्या किसी और ने वैसा दुख आज तक उठाया है?

यह है सेकेण्ड टेक्स्ट की ताकत!

इसी सेकेण्ड टेक्स्ट में भारतवर्ष में भी महान ट्रेजिडी

का रूप देखा जा सकता है।

कुलीन साहित्य-परंपराओं के समानांतर इस सेकेण्ड टेक्स्ट की परंपरा बड़ी समृद्ध है। लगता है विद्यापति इस लंबी सेकेण्ड टेक्स्ट की परंपरा से परिचित थे। इसीलिए उन्हें वह आलोचनात्मक (कुलीन परंपरा के प्रति) और सहानुभूतिपूर्ण (स्त्री के प्रति) दृष्टि मिल सकी थी। भक्त कवियों में यह संभावना थी कि वे स्त्रियों को वही सहानुभूति और वही उदारता दे सकें। लेकिन उनकी उदारता आध्यात्मिकता और भक्ति भी जैसे अयोग्य थी। उस जमाने में सिर्फ विद्यापति थे जिन्हें स्त्रियों के प्रति यह सहानुभूति पूर्ण उदार दृष्टि मिली थी।

यह विरल घटना थी। और यह विरल घटना महान कुलीन टेक्स्ट के प्रति ही नहीं कुलीनता में निहित अमानवीय धारणाओं के प्रति आलोचनात्मक थी। क्या आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि उनकी कविता महान टेक्स्ट परंपराओं का विखंडन करती है?

विद्यापति पर इस तरह से चर्चा करने से क्या मैं कुछ उस ओर संकेत कर सका हूँ कि विद्यापति ने अपने युग में और अपनी साहित्य परंपराओं में क्राइसिस का अनुभव किया था।

अगर ऐसा है तो इसका तात्पर्य है कि साहित्य भी सत्ता प्रतिष्ठान का एक रूप होता है जो सत्ता विरोध या आलोचना के प्रति कठोर होता है।

आज हम लोग जिस राजनीतिक सत्ता का सामना कर रहे हैं, जो लोग उसमें शामिल या सहभागी हैं उनके लिए कोई क्राइसिस नहीं है; किंतु बहुत से लोग ऐसे हैं जो क्राइसिस अनुभव करते हैं और वे अपने पूर्वज रचनाकार विद्यापति के साथ-साथ आधुनिक क्रांतिकारी रचनाकार ब्रेख्त के साथ हैं-

There was little/I could do/But without me/
The rules would have been more seeme/ This
is my hope.

संपर्क : सी-१, न्यू मुल्तान नगर, नई दिल्ली- ११००५६, मो. ०९८१०४३५८३४

जीवन-जगत की यथार्थ संवेदना के कवि महेन्द्र भटनागर

डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी

अपनी रचनाधर्मिता से प्रगतिशील काव्य-क्षितिज को व्यापकता और विस्तार प्रदान करने वाले महेन्द्र भटनागर संवेदनात्मक चिंतन और चिंतनात्मक संवेदना के कवि हैं। इसी प्रवृत्ति ने उनकी कविता को विरोध और संघर्ष तथा जिजीविषा और जयबोध से अनुप्राणित कर एक ऐसे भव्य आलोक का निर्माण किया है जिसकी आभा काल प्रवाह में भी धूमिल होने वाली नहीं है। ऐसा इसलिए कि महेन्द्र भटनागर वायवीय पथगामिता के कवि नहीं हैं और न ही कल्पना के पंखों पर नभचारी होने में उनका कोई विश्वास है। जाहिर है जमीन के आधार के बिना रचना में कालजयता का अभाव रहता है। जीवन-जगत से निरपेक्ष रहकर कोई बड़ी रचना न संभव होती है और न ही उसका कोई भविष्य होता है। महेन्द्र भटनागर की कविता के पैर जमीन पर हैं और दृष्टि जीवन-जगत के विविध आयामों पर टिकी है। इसीलिए उसमें पाठकों को सहज भाव से आकर्षित करने की क्षमता है। उसमें अनास्था, भय, आतंक और अनाचार के विरुद्ध खड़े होकर आस्था, उल्लास, आशा और विश्वास पैदा करने की सामर्थ्य है। उसका संसार पाठक-मन का संसार है जिसमें वह अपने समस्त सुख-दुख, जय-पराजय, आशा-निराशा, स्वप्न और यथार्थ को उपस्थित पाता है। इसी अर्थ में वह जनता के निकट की कविता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि महेन्द्र भटनागर की कविता यथास्थिति बोध कराकर अपने कर्तव्य की पूर्णता नहीं मान लेती बल्कि साहस, संकल्प, संघर्ष और विरोध के जागरण-भाव से युग परिवर्तन तथा नवनिर्माण का विधान भी रचती है। यही उनका काव्य-प्रयोजन भी है जिसका उद्घोष उन्होंने 'अपनी लेखनी से' शीर्षक कविता में किया है *"लेखनी मेरी/ समय-पट पर चलो/ ऐसी कि जिससे/ त्रस्त जर्जर विश्व का/ फिर से नया निर्माण हो/ क्षत, अस्थि-पंजर पस्त हिम्मत/ मनुज की सूखी शिराओं में/ रुधिर उत्साह का संचार हो।"* उन्होंने लगभग इसी भाव-भूमि पर 'सार्थकता' शीर्षक कविता का प्रणयन भी किया है जो प्रकारांतर से कविता की सार्थकता-सिद्धि का प्रयास है *"मुरझाये रोते चेहरों को/ मुस्कानें बाँटें/ उनके जीवन-पथ पर छितराया/ कुहरा छाँटें/ रंग दें घनघोर अंधेरे को/ जगमग तीव्र उजालों से/ त्रासों और अभावों को/ निमर्म मारों से/ हारों को, लाचारों को/ ढक दें/ लद-लद पीले-लाल गुलाबों की/ जयमालों से।"* (सृजन-यात्रा, पृ. १६) कहना न होगा कि महेन्द्र भटनागर की छह दशक की अनवरत सृजन-यात्रा का यही पाथेय है जो उन्हें जनधर्मी तथा जीवनधर्मी कवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है। परिवर्तन की आकांक्षा का कवि घोषित करता है।

विभिन्न काव्यान्दोलनों के काल में सृजनरत रहकर भी महेन्द्र भटनागर की उन काव्य-प्रवृत्तियों से निरपेक्षता कविता में उनकी जनपक्षधरता और जीवनधर्मिता को ही पुष्ट करती है। उन्होंने जीवन-जगत को सदैव अपनी काव्य-संवेदना के केन्द्र में रखकर यह प्रमाणित कर दिया कि एक ही पथ पर चलकर भी शब्द-साधना को उत्कर्ष तक पहुँचाया जा सकता है। जीवन-जगत के गूढ़ार्थ को जाना जा सकता है। *"अर्थ/जीवन का-जगत का/ गूढ़ था जो आज तक/ अब हम/ उसे अच्छी तरह से/ हाँ, बहुत अच्छी तरह से/ जानते हैं।"* (सृजन-यात्रा, पृ. ११०) यह इसलिए संभव हुआ है कि कवि-मन में जीवन को बहुत नजदीक से देखने की ललक है। उसे विभिन्न कोणों से परखने तथा व्याख्यायित करने की आकांक्षा है। इसी परिप्रेक्ष्य में उसे जिंदगी कभी एक बेतरतीब सूने बंद कमरे की तरह लगती है तो कभी धूमकेतु-सी अवांछित और जानकी-सी त्रस्त-लांछित प्रतीत होती है। वह कभी धूल की परतें लपेटे बदरंग केनवस महसूस होती है तो कभी हरी पुष्पित वाटिका सदृश लगने लगती है। 'निष्कर्ष' कविता में महेन्द्र भटनागर ने जिंदगी के यथार्थ को अनेक रूपों में देखा है-

जिंदगी- वीरान मरघट-सी

जिंदगी- अभिशप्त बोझिल और एकाकी महावट-सी
जिंदगी- जन्मांतरों के अशुभ पापों का दुखद परिणाम।
जिंदगी- दोपहर की चिलचिलाती धूप का अहसास।
जिंदगी- कंठ चुभती सूचियों का बोध, तीखी प्यास।
जिंदगी- ठहराव, साधन हीन, रिसता घाव।
जिंदगी- अनचहा सन्यास, मात्र तनाव।” (सृजन-यात्रा,
पृ. १०९)

कवि को जीवन इतना त्रासद और विसंगतिपूर्ण क्यों लगता है? इसका उत्तर जीवन-जगत के नाना व्यापारों, घात-प्रतिघातों, स्वार्थों-संकीर्णताओं, तुच्छता और न्यूनताओं में छिपा है। जीवन-मूल्यों का अधःपतन, नैतिकता का ह्रास, अर्थलोलुपता, कामान्धता, स्वच्छंदता, समलैंगिकता, नग्नता, फूहड़ता, भ्रष्टाचार, कदाचार, अन्याय, अमानवीयता, साम्प्रदायिकता, बिखरन, भटकाव, आतंक, वैमनस्य, चरित्रहीनता, पौरुषहीनता, नारी की वस्त्र विहीनता आदि का वर्तमान यथार्थ किसी भी संवेदनशील हृदय को दुखी और विचलित करने के लिए पर्याप्त है। महेन्द्र भटनागर का कवि स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज का आकांक्षी है लेकिन उसे चारों ओर निराशा, हताशा, अमानवीयता, नृशंसता, क्रूरता, कृत्रिमता और अशुचिता दिखाई देती है। कटुता और वैमनस्य दिखाई देता है। स्नेह, सौख्य और सौहार्द का अभाव परिलक्षित होता है। आदमी के भीतर की आदमियत का विलोप लेकिन अभिमान और अहंकार की मौजूदगी दिखाई देती है-

किंतु अचरज

आदमी है आदमी से आज सर्वाधिक अरक्षित
आदमी के मनोविज्ञान से बिल्कुल अपरिचित
भयभीत घातों से परस्पर

रक्ताक्ष आहत

क्रुद्ध जहरी व्यंग्य बातों से परस्पर

टूट जाता आदमी

आदमी के क्रूर मर्यादित प्रहारों से

लूट लेता आदमी

आदमी को छल-भरे भावों-विचारों से

आदमी-आदमी से आज कोसों दूर है

आत्मीयता से हीन

बजता खोखला हर कदम सिर्फ गुरुर है।” (आदमी,
खण्ड-३, पृ. २०४-२०५)

महेन्द्र भटनागर की कई कविताएँ मनुष्य के पशु होते जाने की त्रासदी का आख्यान हैं। स्वार्थवृत्ति मनुष्य को पशु बनाती है- (पशु प्रवृत्ति है यही जो आप-आप ही चरे/ है वही मनुष्य जो मनुष्य के लिए मरे- मैथिलीशरण गुप्त) भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के युग में मानव-जीवन शांतिमय नहीं है। आपाधापी और भागमभाग में मनुष्य के पास संबंधों की एष्णता महसूस करने के लिए भी समय नहीं रह गया है। आत्मीयता, बंधुता, स्नेह, मर्यादा, आदर्श और संबंधों की उष्णता पर गाज गिराने में इसने कोई कसर नहीं छोड़ी है। पिता-पुत्र, भाई-बंधु, पति-पत्नी के संबंधों में बढ़ती दरारें इसका प्रमाण हैं। स्वच्छंद आचरण सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की धज्जियाँ उड़ा रहा है। नारी स्वतंत्रता के नाम पर नग्नता का फूहड़ प्रदर्शन हो रहा है। वृद्धाश्रमों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। सामूहिकता की जगह एकाकीपन ने ले लिया है। ऐसा सामाजिक परिवेश अगर महेन्द्र भटनागर को जंगल सदृश लगता है तो कोई आश्चर्य नहीं है- “मैं/ एक वीरान बीहड़ जंगल में रहता हूँ/ अहर्निश निपट एकाकीपन की/ असह्य पीड़ा सहता हूँ।” (सृजन यात्रा, पृ. ११३) कवि को इस बात का कष्ट और अधिक है कि उसने स्वेच्छया जंगलेदार कठघरे का चुनाव नहीं किया है बल्कि यह सामाजिक परिस्थितियों की उपज है जिससे जीवन अर्थहीन हो गया है। “मैंने यह यंत्रणा-गृह/ कोई स्वेच्छा से नहीं वरा/ मैंने कभी नहीं चाहा/ निर्लिप्त निस्संग/ जीवन का यह/ जंगलेदार कठघरा/ जिसमें शंकाओं से भरा/ सन्नाटा जगता है/ जीना/ अर्थहीन अकारण सा लगता है।” (वही) पशुता अराजक होती है। उसे व्यवस्था से कुछ लेना देना नहीं होता। वह शुद्ध जांगलिक संस्कृति की पोषिका है। उसमें सहिष्णुता और सह अस्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं रहता। वह मनुष्यता विरोधी संस्कृति है। इसी से यह प्रयत्न होना चाहिए कि मनुष्य पशु न होने पाये। महेन्द्र भटनागर का आग्रह है-

“आदमी को

मत करो मजबूर

बेइंसाफियों को झेलते

वह जानवर बन जाय।” (सृजन यात्रा, पृ. ९७)

वर्तमान समय में बढ़ती संवेदनहीनता से उपजी अनास्था ने मानव-जीवन के आपसी संबंधों के बीच गहरी खाई खोदने का कार्य किया है। परस्पर भय और आशंका की वृद्धि से आत्मीय संबंधों में गिरावट आ जाना असंभव नहीं है। कवि को लगता है “हमारे पारस्परिक संबंधों को/ बरसों के पनपते बढ़ते रिश्तों को/ निकटता और आत्मीयता को/ गलतफहमी/ अक्सर पुरजोर झकझोर देती है। तोड़ देती है।” (गलतफहमियों का बोझ, खण्ड-३, पृ. १५४) जहाँ कटुता हो, परस्पर संघर्ष हो, वैमनस्य हो, स्नेह-सौख्य तथा सौहार्द का अभाव हो वहाँ जिंदगी एक अभिशाप बन जाती है—

“जिंदगी ललक थी, किंतु भारी जुआ बन गई
जिंदगी फलक थी, किंतु अंधा कुआँ बन गई
कल्पनाओं रची, भावनाओं भरी रूप-श्री
जिन्दगी गज़ल थी, बिफर कर बहुआ बन गई।”

महेन्द्र भटनागर की कविताओं का एक प्रमुख स्वर आशावाद का है जो जीवन की विसंगतियों/विडम्बनाओं तथा कठिन क्षणों में प्राण वायु का संचार करता है। उनका मानना है कि जीवन में अगर असफलता और हार है तो सफलता और जीत की भी प्रबल संभावनाएँ हैं। कण्टकाकीर्ण मार्गों की कठिनाइयाँ हैं तो पुष्प सुलभ मृदु पथ की सुकुमारतायें भी हैं। उनकी कविताएँ बार-बार जिस अंधेरे का त्रासद आख्यान रचती हैं वही परोसना कवि का उद्देश्य नहीं है। वह अंधेरे से प्रकाश की यात्रा का कवि है। उसका उद्देश्य प्रकाश पर्व का सृजन है, आलोकवाह बनकर सभी को ज्योतिषित करना है लेकिन प्रकाश अंधेरे के बाद ही अपनी जगमग दुनिया सजाता है। यही कारण है कि महेन्द्र भटनागर की कविताओं में गरीबी है, जहालत है, बेबसी और लाचारी है, हताशा और निराशा है, असफलता और हार है। कविता में इनकी बार-बार आवृत्ति सुंदर और सुखद जीवन की कल्पना की साकारता की पृष्ठभूमि है। कवि को प्रकाश-पर्व की आकांक्षा में अंधेरे की भयावहता का उल्लेख जरूरी लगता है और यही कारण है कि उनके यहाँ दुःखों का पहाड़ है, अभावों का मरुस्थल है, द्वंद्वों का सागर है तथा वीरानियों का जंगल है लेकिन इनकी आवृत्ति ठीक

उसी तरह है जैसे सूर्योदय के पहले की सघन अमावस रात। दुःख है तो सुख होगा यह भारतीय चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। महेन्द्र भटनागर की कविता का यह विश्वास भाव— ‘जिंदगी न टूटेगी न बिखरेगी’ उसी चिंतन की उपज है। अंधेरे को ललकारने तथा चुनौती देने का साहस और ऊर्जा कवि को उसी आशावाद से प्राप्त हुआ है। तभी तो वह कहता है, “मनुष्य के भविष्य-पंथ पर/ अपार अंधकार है। प्रगाढ़ अंधकार है/ न चाँद है, सूर्य।” इसीलिए “मनुष्य के भविष्य पंथ पर प्रकाश चाहिए/ प्रकाश का प्रवाह चाहिए/ हरेक भुरभुरे कगार पर सशक्त बाँध चाहिए/ अटल खड़ा रहे मनुष्य/ आँधियों के सामने अड़ा रहे मनुष्य/ शक्तिवान, वीर्यवान, धैर्यवान/ जिंदगी तबाह हो नहीं/ कराह और आह हो नहीं/ हँसी, सफेद, दूधिया हँसी/ हरेक आदमी के पास हो/ सुखी भविष्य की नवीन आस हो।” (वही, पृ. ५०) प्रकाश पर्व के आयोजन हेतु गिड़गिड़ाना अथवा दीन-हीन बनकर याचना करना कवि का स्वभाव नहीं है। वह ललकारना जानता है, सोये हुए को जगाना जानता है और भाग्य-बल का निर्माण करना जानता है। इसीलिए खंडित पराजित मनोवृत्ति के लिए दीप्तिमान सूर्य बन जाना उसके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। “खण्डित पराजित/ जिंदगी ओ! सिर उठाओ/ आ गया हूँ मैं/ तुम्हारी जय सदृश/ सार्थक सहज विश्वास का हिमवान/ अनास्था से भरी/ नैराश्य तम खोयी/ थकी हत-भाग सूनी/ जिंदगी ओ! सिर उठाओ/ और देखो/ द्वार दस्तक दे रहा हूँ मैं/ तुम्हारे भाग्य-बल का/ जगमगाता सूर्य तेजोवान।” (वही, पृ. ४३)

मानवीय संबंधों में उदात्तता की प्रतिष्ठा का प्रयास हर रचनाकार करता है। यह महेन्द्र भटनागर की कविता का भी एक वैचारिक पक्ष है। किंतु मानवीय संबंधों की डोर का निरंतर कमजोर होना उनके लिए चिंताजनक है। परस्पर संबंधों का आधार विश्वास है। वह मनुष्यता की वृद्धि का अंतरवर्ती सूत्र है। जब विश्वास खंडित होता है तब मनुष्यता कलंकित होती है। महेन्द्र भटनागर का मानना है कि विश्वास का किला ढहना जीवन की निरर्थकता का आमंत्रण है। “विश्वास का जब दुर्ग/ ढहता है/ आदमी लाचार हो/ गहनतम वेदना-मूक सहता है। तैयार होता है। निरर्थक

जिंदगी/ जीने के लिए/ प्रतिदिन/ कड़वी घूँट पीने के लिए/ जीवन-शेष ढहता है/ विश्वास का जब दुर्ग/ ढहता है।” (वही, पृ. ८६) विश्वास चाहे जिस कारण से भी खंडित होता हो वह मनुष्य को श्रीहत करता है। इसीलिए कवि आलोकवाह बनना चाहता है। वह मानव-मन के सभी नकारात्मक सोचों का संहार चाहता है। वह प्रतिबद्धता इन शब्दों में प्रकट करता है “प्रतिबद्ध हैं हम/ व्यक्ति के मन में उगी-उपजी/ निराशा का, हताशा का/ कठिन संहार करने के लिए/ हर हत हृदय में/ प्राणप्रद उत्साह का संचार करने के लिए।” (वही, पृ. १५)

यों तो हर रचनाकार अपनी रचना में वर्तमान को ओढ़ता-बिछता है किंतु महेन्द्र भटनागर की रचनाओं में उनका वर्तमान कुछ अधिक ही मुखरित है। जीवन में प्रविष्ट कृत्रिमता और बनावट को लेकर उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं। उन्हें लगता है कि जीवन में सहजता और सरलता का अभाव हो गया है। मुखौटों में जिंदगी कालुष्य पूर्ण हो गयी है। मुस्कान भी कृत्रिम है। इसीलिए कहकहों और ठहाकों के लिए आज का आदमी तरस रहा है। महेन्द्र भटनागर की कामना है, “कभी तो ऐसा हो/ कि जी सकें हम/ जिंदगी सहज/ कृत्रिम मुस्कान का/ मुखौटा उतारकर।” (वही, पृ. ९९) झूठ, दम्भ और प्रवंचना के इस भीषण युग में भी महेन्द्र भटनागर जिंदगी को गीत बनाने की इच्छा रखते हैं

“गाओ कि जीवन गीत बन जाये

हर कदम पर आदमी मजबूर है

हर रूपहला प्यार सपना चूर है

आँसुओं के सिन्धु में डूबा हुआ

आस-सूरज दूर, बेहद दूर है

गाओ कि कण-कण मीन बन जाये।” (वही, पृ. १२७)

भीड़ तंत्र का हिस्सा होकर भी आज मनुष्य नितांत अकेला है। उसके दुःखों पर नमक छिड़कने वाले तो हैं लेकिन मरहम लगाने वाले बिल्कुल नहीं हैं। सहानुभूति और सदाशयता की वर्षा से तन-मन को आप्लावित करने वालों की कमी देखकर ही कवि को यह लिखना पड़ता है, “निपट सूनी अकेली जिंदगी में/ गहरे कूप में बरबस ढकेली जिंदगी में/ निष्ठुर घात-वार-प्रहार झेली जिंदगी में/ कोई तो हमें चाहे, सराहे/ किसी को तो मिले शुभकामना/

सद्भावना।” (वही, पृ. ७३) महेन्द्र भटनागर के यहाँ अकेलापन बहुत है। उससे उपजे दुःख और संघर्ष की आकांक्षाओं की भी कमी नहीं है। “जीवनभर रहा अकेला/ अनदेखा/ सतत उपेक्षित, घोर तिरस्कृत/ जीवनभर/ अपने बलबूते/ झंझावातों का रेला झेला/ जीवन भर/ जस का तस/ ठहरा रहा झमेला/ जीवन-भर/ असह्य दुःख दर्द सहा।” लेकिन कवि को दुःख इस बात का है कि “रिसते घावों को/ सहलाने वाला/ कोई नहीं मिला।” (वही, पृ. ७४) अज्ञेय की एक कविता में कहा गया है कि दुनिया विवशता नहीं कौतूहल खरीदती है। इसमें बहुत सच्चाई है। अगर जीवन में कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है तो वह किस तरह अभिशप्त हो जाता है इसे महेन्द्र भटनागर की कविताओं से समझा जा सकता है। वैसे इन्होंने सपाटबयानी में जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं की परतों को बखूबी उद्घाटित किया है किंतु आलंकारिक शैली में भी जीवन की रिक्तताओं को प्रकट करने में इनकी सक्षमता देखी जा सकती है— “निरंतर/ जीवन की अभिधा में पलता रहा/ लाक्षणिकता के/ गूढ़ व्यंजना के/ आडम्बर नहीं फैलाये/ शायद इसीलिए समाज का मन-रंजन नहीं हुआ। वांछित आवर्जन नहीं हुआ.../ अलंकार सज्जित पात्र में/ रीतिबद्ध ढंग से/ जीवन का रस पीना नहीं आया/ मैंने जीवन का व्याकरण नहीं पढ़ा। शायद इसीलिए/ निपुण विदग्धों के समकक्ष/ जीना नहीं आया।” (प्रक्रिया, खंड-३, पृ. १५८-१५९) यहाँ अभिव्यक्त की नकारात्मक शैली में रचना और जीवन दोनों संदर्भों में बहुत ही सकारात्मक बातें कही गयी हैं।

जीवन राजनीति, अर्थनीति, समाज और धर्म आदि से अप्रभावित नहीं रह सकता और इसीलिए जीवन का यथार्थ प्रकारान्तर से इनका ही यथार्थ है। महेन्द्र भटनागर की कविताओं में स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात की राजनीति, समाज, अर्थतंत्र आदि का यथार्थ चित्रण उनके युगबोध का परिचायक है। स्वतंत्रता-संघर्ष में गाँधी-नेहरू की भूमिका, आजादी के बाद मोह भंग की स्थिति, प्रजातंत्र की विसंगतियाँ, नेताओं का छद्मवेश, अन्याय, अत्याचार और शोषण आदि के प्रति कवि की सजगता उसकी रचनात्मक दृष्टि का खुलासा करती है। पूँजीवाद का शोषण तंत्र बंद हो, इस पर

कविताएँ लिखने वालों की कमी नहीं है लेकिन महेन्द्र भटनागर की कविताओं में जो तलखी और ललकार है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सफेदपोश नेताओं ने गाँधीजी के नाम का दुरुपयोग कर जनता को कितना ठगा है उसकी एक बानगी यहाँ प्रस्तुत है, “मोटे-मोटे खादीपोश/ बदकिरदार व्यापारियों-पूँजीपतियों/ मकान-मालिकों, कालोनीधारियों, वकील नेताओं के मुँह में/ यथापूर्व/ विराजमान हैं गाँधी/ बंगलों और कोठियों में/ दीवारों पर टंगे हैं गाँधी/ (या सलीब पर लटके हैं गाँधी)/ तिकड़मी मस्तिष्क के बद-मिजाज/ नये भारत के भाग्य विधाता/ ‘एम्बेसडर में/ धूल उड़ते/ मजलूमों पर थूकते/ मानवता को रौंदते/ अलमस्त घूमते हैं/ किंचित सुविधाओं के इच्छुक/ उनके चरण चूमते हैं।” (हमारे इर्द-गिर्द, खंड-३ पृ. १४३-१४४) महेन्द्र भटनागर का एक काव्य-संग्रह ही है ‘आहत युग’। इसमें युगीन विसंगतियों को आसानी से देखा जा सकता है। बाहुबलियों ने प्रजातंत्र का गला घोट दिया है। उनके हस्तक्षेप से प्रजातंत्र प्रजातंत्र नहीं लगता। महेन्द्र भटनागर कविता लिखते हैं

जिसका उपद्रव मूल्य है

वह पूज्य है

जो जितना कडुआ मुखर

और जितना निपट लड्डु है

उसके पीछे-आगे/ दाएँ-बाएँ ठट्टु है

उतने ही भारी भड़कीले ठट्टु हैं।

उसका गौरव/ अनिर्वचनीय है

उसके बारे में और क्या कथनीय है। (प्रजातंत्र, खंड-३, पृ. २२३-२२४)

मात्र विसंगति, विडम्बना, कुरूपता, भयावहता, व्यंग्य-विरोध ने महेन्द्र भटनागर को रचना प्रेरित किया हो, ऐसी बात नहीं है। उनकी कविताओं में इनकी उपस्थिति इसलिए अधिक है ताकि उन्हें माँज-धोकर, झाड़ू-पोंछकर (जरूरत पड़े तो हटाकर) स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सके। मानवीय मूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित किया जा सके। जहाँ कवि इन विद्रूपताओं से तटस्थ हुआ है वहाँ उसकी सौन्दर्यग्राही दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य को निरखने-परखने में व्यस्त रही है। जाड़े की धूप, फागुन की मस्ती, सावन की रिमझिम, खेतों खलिहानों की सुषमा का वर्णन इसीलिए सजीव हो

उठा है कि कवि उसमें सराबोर है, आप्लावित है। ‘बरखा की रात’ शीर्षक कविता उसकी कल्पना विधायिनी शक्ति का मनोहर प्रदेय है-

“दिशाएँ खो गयीं तम में

धरा का व्योम से चुपचाप आलिंगन

धरा ऐसी कि जिसने नव-

सितारों से जड़ित साड़ी उतारी है

सिहरकर गौर-वर्णी स्वस्थ

बाहें गोद में आने पसारी है

समायी जा रही बनकर

सुहागिन, मुग्ध मन है और बेसुध तन

कि लहरों के उठे शीतल

उरोजों पर अजाना मन मचलता है

चतुर्दिक धुल रहा उन्माद

छवि पर छा रही निश्छल सरलता है

खिंचे जाते हृदय के तार

अगणित स्वर्ग-सम अविराम आकर्षण।”

(सृजन यात्रा, पृ. १९९)

महेन्द्र भटनागर की सौन्दर्यग्राही दृष्टि नारी और प्रकृति दोनों पर केन्द्रित रही है। सौन्दर्य प्रेम का आधार है। कवि का प्रेम नारी और प्रकृति दोनों पर उमड़ा है। वह मानव-मन की सहज वासना को प्रकृति पर आरोपित कर सुंदर प्रेम कविता रचने में अत्यंत निपुण है। ‘चाँद’ के ब्याज से प्रेम की विविध मनःस्थितियों को उजागर करने में उसकी कलात्मक प्रौढ़ता दर्शनीय है। ऋतु संदर्भित कविताओं में रोमांस और आकर्षण की प्रबलता अत्यंत मनोहारी है। ‘शिशिर की रात’ कविता में आकाश-धरती का आलिंगनबद्ध हो प्रणय-तार को झंकृत करना मांसल-प्रेम का अनूठा वर्णन है- “धरा-आकाश एकाकार आलिंगन/ प्रणय के तार पर यौवन भरा गायन/ फिसलता नीलवर्णी शून्य में आँचल/ शिशिर-ऋतु-राज, राका-रश्मियाँ चंचल।” (खण्ड-२, पृ. २१४) हेमंती धूप को कवि प्रिया मान उसकी गोद में सोने की आकांक्षा प्रकट करता है, “प्रिया-सम/ गोद में इसकी/ चलो, सो जायं/ दिन भर के लिए खो जायं/ कितनी काम्य/ कितनी मोहिनी है। धूप हेमंती/ कितनी सुखद है। धूप हेमंती।” (सृजन यात्रा, पृ. २०५) केदारनाथ

अग्रवाल की 'बासंती हवा को केन्द्र में रखकर 'अनुभूत-अस्पृशित' शीर्षक कविता का प्रणयन किया है किंतु अग्रवाल की कविता में बसन्त का उल्लास है, उमंग है और धरती से आकाश तक सभी को आह्लादित करने की कामना है जबकि महेन्द्र भटनागर की कविता में बासंती हवाओं के प्रदेशों का उल्लेख करते हुए यह आग्रह है कि वे कवि के सुनसान वीरान मन को मत छुएँ। यहाँ कवि बसन्त के मादक-उन्मादक तथा उल्लास-उमंग भरे वातावरण में फिर अपने अकेलेपन की व्यथा-कथा कहने से मुक्त नहीं हो सका है। "भटकती बहकती बासन्ती हवाओं/ मुझे ना डुबाओ/ उफनते-उमड़ते/ भरे पूरे रस के कुओं में, सरों में/ मधुर रास-रज के कुओं में, सरों में/ छुओ मत मुझे/ इस तरह मत छुओ/ ओ बासंती हवाओं/ दहकती चहकती बसंती हवाओं/ अभिशप्त यह क्षेत्र वर्जित सदा से/ न आओ इधर/ यह विवश/ एक सुनसान वीरान मन को/ समर्पित सदा से।" (वही, पृ. २०७) प्रकृति के सुंदर, रमणीय और मोहक प्रसंगों में कवि का निजत्व अखरता नहीं बल्कि वृहत संदर्भों में मानव-मन को प्रतिबिम्बित करता है। व्यष्टि, समष्टि से जुड़कर ही कविता को विशिष्ट अर्थ देता है, व्यापकता प्रदान करता है।

जीवन-राग के बिना मानव का अस्तित्व अधूरा है, अपूर्ण है। इसीलिए वह आदिम युग से ही कविता का प्रिय विषय रहा है। महेन्द्र भटनागर की काव्य-चेतना में जीवन-राग के लिए विशेष स्थान है। वह पुनरावृत्ति के रूप में नहीं बल्कि नवीनता के साथ उपस्थित है। जीवन-यात्रा में प्रतिक्षण कुछ न कुछ घटित होता रहता है लेकिन कवि का मानना है, "सब भूल जाते हैं.../ केवल/ याद रहते हैं/ आत्मीयता से सिकत/ कुछ क्षण राग के/ संवेदना अनुभूति/ रिशतों की दहकती आग के।" (वही, पृ. १३४) इसीलिए कवि की अभिलाषा है "उम्र यों ढलती रहे/ उर में/ धड़कती सांस यह चलती रहे/ दोनों हृदय में/ स्नेह की बाती लहर बलती रहे/ जीवंत प्राणों में परस्पर/ भावना-संवेदना पलती रहे।" आज 'प्रेम' शब्द का बहुत अपकर्ष हुआ है। कवि केदारनाथ सिंह को यहाँ तक लिखना पड़ा है

"जहाँ लिखा है प्यार/ वहाँ लिख दो सड़क/ कोई फर्क नहीं पड़ता।" इसके विपरीत महेन्द्र भटनागर की दृष्टि में "प्यार है तो जिंदगी महका/ हुआ एक फूल है/ अन्यथा हर क्षण हृदय में/ तीव्र चुभता शूल है।" (वही, पृ. १३७) प्रेम के बारे में कहा जाता है कि वह आग का दरिया है जिसमें डूबकर जाना है, तलवार की धार पर दौड़ना पड़ता है, वह खाला का घर भी नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रेम का मार्ग सरल नहीं है। लगभग इसी जमीन पर खड़े होकर महेन्द्र भटनागर कहते हैं-

"कह रही हूँ भर यह चातकी
प्रेम का यह पंथ है कितना कठिन
विश्व बाधक देख पाता है नहीं
शेष रहती भूल जाने की जलन।" (तुम्हारी याद, खंड-१, पृ. १४७-१४८)

तत्त्वचिंतकों, दार्शनिकों तथा मध्यकालीन भक्त कवियों की भाँति महेन्द्र भटनागर भी मृत्यु के यथार्थ को सबके सामने लाना चाहते हैं। इसीलिए उनके यहाँ मृत्युबोध की कविताओं की संख्या काफी है। कवि का मानना है, "मृत्यु नहीं होती/ तो ईश्वर का भी अस्तित्व नहीं होता/ कभी नहीं करता/ मानव/ प्रारब्धवाद से समझौता।" (सृजन यात्रा, पृ. २२४) महेन्द्र भटनागर मृत्यु-भय से भयभीत नहीं करते बल्कि निडरता का भाव पैदा करना चाहते हैं। वे मृत्यु को ललकारते नहीं बल्कि प्यार से आमंत्रित करते दिखायी देते हैं। उसे अपना मित्र बनाने के इच्छुक दिखते हैं। निराला की तरह वे भी मृत्यु को मधुर मानते हैं। यह जानते हुए कि मृत्यु-कर से कोई छूटेगा नहीं वे मृत्यु पर जीवन-जगत की जीत का गीत गाते हैं, "गाता हूँ/ विजय के गीत गाता हूँ/ मृत्यु पर/ जीवन-जगत की जीत गाता हूँ।"

जीवन-जगत के यथार्थ को साहस और निष्पक्षता के साथ लिखने वाले विरल हैं। महेन्द्र भटनागर प्रत्यक्ष बोध के कवि हैं। जीवन-जगत की यथार्थ संवेदना के कवि हैं जिसे वे स्पष्ट रूप से स्वीकारते भी हैं।

जीवन और जगत जैसा हमको प्रत्यक्ष दिखा
वैसा, हाँ केवल वैसा, हमने निष्पक्ष लिखा।

संपर्क: जे.जी. १६७, टाइप-४, जंगलीघाट, पोर्ट ब्लेयर,
अण्डमान-७४४१०३, मो. ९४३४२८६१८९

आज की चुनौतियाँ और जन अंचार माध्यम डॉ. सेवाराम त्रिपाठी

वर्तमान साहित्य के दिसंबर १९९२ के अंक में प्रकाशित कृष्ण कल्पित की 'मार्डन टाइम्स' कविता हमारे ज़माने की त्रासदी पर फोकस करती है। इस कविता में हमारे युग की जटिलताओं को पहचानने की कोशिश भी है और हमारे कालखण्ड के यथार्थ के विविध आयाम, रंगरूप, तेवर और तीखे नश्वर भी। जिनसे लहलुहान हम बीसवीं शताब्दी के अन्तिम छोर पर खड़े हैं। "एक दिन हम/चालीं चैप्लिन की तरह जूते चबायेंगे/घर में खत्म हो जायेगा अन्न/काला बाज़ार में चली जायेगी सारी फसलें/फिर अकाल पड़ेगा मुल्क में/फिर होंगे ग़रीबों के फाँके/फिर होगा अन्याय होगी बर्बरता/सूख जायेगा बावड़ियों का पानी/आसमान से बरसेगा शोक/स्त्रियाँ सुबकेंगी सामूहिक स्वर में/यह जो समय आ रहा जनाब/बड़ा भयानक होगा/रंगीन सिर्फ़ टेलीविज़न होंगे/जिसमें मृत सुन्दरियों की देह/गिद्ध नोचते रहेंगे दिन-रात/यहीं कहीं होगा मध्यांतर/आप चल कहां दिये जनाब/अभी तो आधा बाकी है मार्डन टाइम्स।"

हमारा समय बेहद क्रूर, भयावह और पेंचीदगियों से युक्त एक कठिन समय है। यह समय कितना कठिन और जटिल है जिस पर जल्दी में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह बात मैं मुहावरे के रूप में नहीं कह रहा हूँ। सोचिये आप जितनी परिधि तक सोच सकते हैं। जितनी दूरियों तक सोच सकते हैं सोचिये, क्रूरता की जितनी परिधियों तक जा सकते हैं जाइये लेकिन आपको इसका अन्त नहीं मिलेगा। इस दौर में जो सच्चा होगा और दायित्वों को मानने की ओर अग्रसर होगा। यह समय ही उसे छलनी कर देगा और लहलुहान भी। हमारी चुनौतियों का कोई ओर-छोर नहीं है। मैं कुछ शब्दों को उदाहरण के रूप में रख रहा हूँ। जिन्होंने या तो अपने अर्थ खो दिये हैं या जिन्होंने एक भिन्न मुद्रा अख़्तियार कर ली है— मसलन नेता। आज़ादी के पूर्व इस शब्द का अर्थ था त्याग, तपस्या, साधना और संघर्ष की मिसाल जैसे नेताजी सुभाष चंद्र बोस, शहीद भगत सिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी आदि। अब अर्थ परिवर्तित हुआ तो भ्रष्टाचारी, लूट-खसोट से संबंध रखने वाला, घोर अनैतिक और तिकड़मबाज, झूठा और मक्कार तथा पैसों के लिये देश को भी हजम करने वाला। दूसरा शब्द लें धर्म। धर्म का मतलब था 'धारयते इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करने योग्य हो वह धर्म है। अब धर्म का इस्तेमाल विकृतियों के रूप में निरंतर उजागर हो रहा है। समूचा देश धर्म के अंधेरे से गुज़र रहा है और धर्म की ध्वजा पताकायें फहराई जा रही हैं। अफ़वाहों, लूट-खसोट, हत्याओं, आगजनी, मारकाट और चीत्कारों से उड़ रहा है हमारा यह महत्वपूर्ण समय। चैनलों में जितने ज़्यादा प्रवचन झाड़े जाते हैं उसमें से असंख्य गुना ज़्यादा विकृतियाँ पैदा होती हैं। तीसरा शब्द लें संवेदना। हारी-बीमारी या दिक्कत में फंसे आदमी को ढाँढस बंधाना या विपत्ति के क्षणों में बराबर की वेदना अनुभव करना। इस शब्द ने अपना अर्थ बदल लिया है। यह घनघोर औपचारिकता के दायरे में आ गया है। जैसे अपना अफ़सर है तो उसकी बीमारी पर हम संवेदना

व्यक्त करने जाते हैं, उसे जुकाम भी हो जाये तो उसे सांत्वना देने पहुँच जाते हैं। संवेदना के माध्यम से उससे निकटता और लाभ चाहते हैं। लेकिन अपने भृत्य की गंभीर और जानलेवा बीमारी पर नहीं। संवेदना का सीधा रिश्ता हमारे स्वार्थ से जुड़ गया है। जिससे हमारे काम पड़ने हैं या जो हमें किसी भी तरह से लाभ दे सकता है। इसका पूरा बाज़ार फैला है और बाज़ार तना भी है। हमारे नाते रिश्ते बेहद औपचारिक हो गये हैं। जिनमें मनुष्यता की कोई सुगंध नहीं। वहाँ केवल स्वार्थ का तांडव है। सोये या जागृत समय, समाज और दुनिया में तेज़स्वी से तेज़स्वी संगठनों तक में यह चुनौती पांव तोड़कर बैठ गई है। मुझे लगता है कि क्या हमारी चिन्तायें भौथरी और शब्दों की अर्थवत्ता सीमित और पंगु तो नहीं हो गई है? चंट चालाक लोग हर जगह फूल फल रहे हैं, खा पी रहे हैं और अपनी सत्तायें फैला रहे हैं तथा प्रभाव बढ़ा रहे हैं और इसके बरकश सहज और सीधे लोगों को उनके त्याग, गहरे लगाव और निष्ठा के बावजूद क्या बाहर नहीं ठेल दिया गया है? प्रश्नवाचकों की भीड़ में है हमारा समय। यह प्रश्नांकों का समय ही नहीं है यह एक तरह से किस्म-किस्म के दबावों का भी समय है।

प्रश्नों से घिरी शताब्दी में हम थोड़े से सुखों की तलाश करना चाहते हैं। हमारी अस्मिता दांव पर है। हमारा अपनापन और खरापन जख्मी है। एक कविता का यह अंश पढ़ें— "एक नाउम्मीदी भरा जीवन/ रिश्तखोरी में आकण्ठ सनी सभ्यता/ भीषण अपराधों के ख़िलाफ़/ कहीं कोई सुनवाई का नहीं है समय/ गर्जन-तर्जन देखते-देखते/ टूट रहे हैं स्नेह बंधनों के धागे/ निर्लज्जताओं के बीच से/ इंसान के नाटक और प्यार की पींगों का भ्रम/ नफ़रत की भट्टी में जलता जनतंत्र/ आज़ादी हाशिये के एक कोने में/ अपने होने को साबित करने के प्रयत्न में/ वक्रत की नदी में अधडूबा/ आत्मालाप कर रहा है विकास/ कहाँ जायें किससे मांगें थोड़ी सी सुविधायें।"

आज सब कुछ बदला-बदला लग रहा है। दोमुहापना, दोभाषियापन हर जगह व्याप्त है। कहा कुछ जा रहा है किया कुछ जा रहा है। हो कुछ रहा है। धर्म के नाम पर पाखण्ड और झूठ राजनीति के नाम पर स्वार्थपरतायें, ठगी,

लूट और बेईमानी प्रशासन में रागदरबारी की भयावह गर्जनायें। तालियाँ पीटने का पाखण्ड फैला है। सभा सोसाइटियों में किराये की भीड़ खड़ी की जा रही है। नेताओं के भाषण बिना भीड़ के सम्भव नहीं होते। सामाजिक न्याय केवल भजन, कीर्तन की शकल में हो रहे हैं। हत्याओं और हत्याकाण्डों के ठेकेदार भाषण कर रहे हैं और हम तालियाँ पीट रहे हैं। हत्यारे और हत्याकाण्ड के सरगना देश के कर्णधार बन गये हैं और लोग उनका स्वागत कर रहे हैं। सब कुछ संक्रमण की चपेट में। सब के बीच द्वन्द्व युद्ध छिड़ा है। सब कुछ स्वाहा हो रहा है। मनुष्यता सरेआम बिक रही है। और उसे पीटा जा रहा है। सोचिये किसी की आँखों में शर्म है क्या? हत्याओं पर प्रसन्नता, विध्वंस पर जयजयकार। सोचिये हम किस समाज को बना रहे हैं? किस देश, किस दुनिया का भविष्य गढ़ रहे हैं? मानवता का ज़नाज़ा निकाल रहे हैं। मंदिर लाशों की ढेर पर? क्या यही ईश्वर का निवास होगा? क्या यहाँ पवित्रता की दुंदुभी बजेगी क्या यहीं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के गीत जन्मेंगे? लगातार हमें आर्थिक चिन्ता नहीं सताती, सामाजिक न्याय की शायद हमें कोई ज़रूरत नहीं। हम पिछले जन्मों की अनहोनी दुहरा रहे हैं। कर्मकाण्डों में समय बिता रहे हैं। पीछे की ओर लौट रहे हैं। मानव संहार के बाद शायद अशोक को भी कोई चिन्ता नहीं। हमारा विकास क्या ठहरा हुआ नहीं है? इस दौर में कौन ऐसा शास्त्र है जो चिन्ता नहीं करता क्या वह वाकई मनुष्य हैं। देखिये कहीं वह हैवान या जानवर तो नहीं हो गया। हम समय की विध्वंसक लीलायें देख रहे हैं और ताली पीट रहे हैं। यह ताली पीट समय है। यह बेशर्मी का भी समय है। यह लगातार पीटे जाने का क्रूर समय है।

चुनौतियों की शृंखला काफी लम्बी है। रिश्ते नाते, मनुष्यता, आपसी प्रेम, भाईचारा, शांति सद्भाव जैसे शब्दों में अधिकांशतः दिखावा है। जहाँ वास्तविकता है वहाँ खून के रिश्तों से बड़ी रिश्तेदारियाँ हैं। आर्थिक स्थितियों ने सबको रुई की तरह धुन डाला है। लोग प्यार के छोटे-छोटे पलों से वंचित हैं। सभी ओर दिखावा पसरा है। दूर के रिश्तों में मत जाइये बेटों के रिश्तों में भी देखिये चिन्तायें दहाड़ रही हैं। यह औपचारिकताओं का जानलेवा सच है। हंसी गायब है, खुशी गायब है, ज़्यादातर आरोपित मुद्रायें

चस्पा हैं इसीलिये जो जितनी आरोपित मुद्रायें अपना सकते हैं वह सफलता की उतनी ही अधिक सीढ़ियाँ चढ़ जाता है। एक-एक चेहरे पर अनगिनत चेहरे चस्पा हैं। और बाक्रायदा काम कर रहे हैं। वह आर्थिक फसलें लहलहा रहा है। तरह-तरह के सुख भोग रहा है। महाजनी सभ्यता ने, पूंजीवाद की आंधी ने हम से बहुत कुछ छीन लिया है। देश की अवस्थाओं का आकलन करने के पूर्व हम अपने विघटित हो रहे परिवारों को देखें। जहाँ घोर अशान्ति है और छलावा है। शहरी समाज की बजाय गाँव-समाज के टूटते स्तूपों को देखें तो पता चलेगा कि वहाँ सर्वनाश की काली छायायें मण्डरा रही हैं। गाँवों की संवेदनायें निरन्तर सूख रही हैं। विकास के आयामों की जगह विनाश का ताण्डव जारी है। समूचे स्वप्न, शनैः-शनैः खत्म किये जा रहे हैं।

संयुक्त परिवारों के विघटन को मुक्तिबोध ने आज़ादी के बाद की सबसे बड़ी घटना बताया था। प्रेमचंद्र के लेखन में भी इसकी चिन्तायें देखी जा सकती हैं लेकिन तब शायद इतनी हाय तौबा नहीं थी क्योंकि संयुक्त परिवारों का अस्तित्व किसी न किसी रूप में था। क्या यह हमारे कालखण्ड की सबसे बड़ी त्रासदी नहीं है कि आपसी प्रेम, भाईचारे और हंसी-खुशी के लिये हम तरस रहे हैं। परिवार, पड़ोसियों और मित्रों के साथ बैठकर गप्पें लगाने के सुख से खारिज होते जा रहे हैं। समय ने रिश्तों की निश्छलता को निगल लिया है। समय ने स्वार्थपरताओं को हमारे दिलो दिमाग पर फैला दिया है। रिश्तों की नित नई करवट में स्वार्थ के प्रेत दहाड़ रहे हैं। इन स्थितियों ने प्रगति के लिये, उठे क्रदमों को स्तंभित कर दिया है। जहाँ तक आपकी नज़र जायेगी केवल बाज़ार ही बाज़ार आपको दिखाई पड़ेगा। मेरी समझ में आज की दुनिया के विस्फोटक समय के सामने सबसे बड़ी चुनौती है आदमी का आदमी बने रहना। आपको अफ़सर मिलेंगे, डॉक्टर मिलेंगे, शिक्षक मिलेंगे, व्यापारी मिलेंगे, वकील मिलेंगे और न जाने कौन-कौन मिलेंगे लेकिन आदमी मिलना दुर्लभ है।

हमारे कालखण्ड में जन संचार माध्यमों की भूमिका निर्विवाद है। कोई चाहे या न चाहे संचार माध्यमों से हम पीछे नहीं लौट सकते। यह भी सही है कि संचार माध्यमों ने हमारी जानकारीयाँ बढ़ाई हैं। कम्प्यूटर, इण्टरनेट और अन्य

माध्यमों ने संचार सुविधाओं के अनेक द्वार खोल दिये हैं। जानकारीयाँ असंख्य हैं लेकिन धीरे-धीरे हमारी संवेदना की नदी सूखती जा रही है। दुनिया की विशालता और फैलाव को बहुत छोटा कर दिया है। मसलन हम हिन्दुस्तान के भीतर किसी भी शहर में बैठकर हजारों किलो मीटर दूर बैठे आदमी से बातें कर लेते हैं। कम्प्यूटर में चैट करने के दौरान 'वीडियो कालिंग' के द्वारा उसे देख भी सकते हैं लेकिन क्या यह दुर्भाग्य नहीं है कि अपने पड़ोसी से महीनों तक हमारी मुलाकातें नहीं होतीं कभी-कभी तो फोन पर भी बातें भी नहीं होतीं। कभी-कभी तो हम अपने पड़ोसी को जानते तक नहीं हैं। जानने में कहीं न कहीं स्वार्थ है। लगता है दुनिया धीरे-धीरे स्वार्थों का अखाड़ा बनती चली जायेगी।

जन संचार की समूची एजेन्सियाँ सक्रिय हैं हमारी सेवा के लिये। दूरदर्शन, आकाशवाणी, टेलीफोन पत्र और अख़बार आदि। अब तो स्मार्टफोन का साम्राज्य है जहाँ आपको सब कुछ उपलब्ध है। जानकारीयों की एक विराट दुनिया सजी हुई है। इस बीच दूरदर्शन का प्रसार निरन्तर बढ़ा है, बढ़ रहा है लेकिन उसका स्तर दिन ब दिन गिर रहा है। दूरदर्शन का सबसे बड़ा हमला हमारे 'समय' पर है। ज़्यादातर आदमी दूरदर्शन की चपेट में है। हालांकि यह क्रेज धीरे-धीरे कम हो सकेगा मसलन आप टी०वी० देख रहे हैं और आपका कोई मित्र बहुत दूर से सिर्फ़ आपसे मिलने आया है। ठीक से बात नहीं हो पा रही है उससे। वह सामने बैठा है और आप अपने मोबाइल से जूझ रहे हैं, आप हड़बड़ी में हैं और मित्र दुःखी। पहले रविवार का समय मिलने-जुलने के लिये होता था। अब वह भी खाली नहीं है। दूरदर्शन ने उसे भी हमसे छीन लिया है। हमारे पास दुःखों का अन्तहीन पहाड़ छोंड़ दिया। उसे हम किसी तरह साधने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन वह किसी भी तरह सध नहीं पा रहा है।

एक नया अनुभव है स्टार टी०वी०, एम०टी०वी०, सोनी टी०वी० और जी०टी०वी० तथा उससे सम्बद्ध अनेक चैनल। उपभोक्ता संस्कृति फैशन परस्ती के दबोच में है। विज्ञापनों की ऐसी रेल-पेल है कि उसने समाज को पागल सा बना दिया है। नारी को उपभोग की वस्तु की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। ज़रूरत नहीं है तब भी विज्ञापनों

की कृपा से खाता पीता वर्ग तरह-तरह के सामान अपने घर में गांज रहा है। चीजों की गुणवत्ता और मांग का निर्धारण विज्ञापनों के जरिये परोसा जा रहा है। प्रायः हर विज्ञापन में नारी, विज्ञापन में पंखा, घड़ी, डिटर्जेंट पावडर, फैशन एसेसरीज़, खाने पीने की चीज़ें। परसाई जी ने अपने व्यंग्य “विज्ञापन में बिकती नारी” में इसका खुलासा किया था। एक विज्ञापन खूब प्रचारित है। क्या मांगता है? हमको तो विनीज मांगता है।” एक दूसरा विज्ञापन है “खाओ गगन रहो मगन।” एक अन्य विज्ञापन में बहुत सामान्य सी बात को ऐसे अन्दाज़ में परोसा गया है जैसे कोई बहुत बड़ी बात हो “भिगोया धोया और हो गया।” कपड़ों को पहले भिगोया फिर और धोया अन्त में सुखाया ही तो जाता है लेकिन विज्ञापन उसे नई शकल दे रहा है। हम सभी को रिझा रहा है जैसे वह कोई बहुत बड़ी चीज़ हो। उसी तरह खेतान पंखे का एक विज्ञापन है— “खेतान नाम ही काफी है” ऐसे अनेक विज्ञापन मध्यवर्ग को ललचा रहे हैं। आवश्यक जानकारी वाले विज्ञापनों में अश्लीलता का प्रभाव खुल्लम-खुल्ला है। जैसे निरोध का प्रचार। दूरदर्शन के जो विभिन्न रूप धड़ल्ले से चल रहे हैं इन्होंने हमारा ज्ञान अवश्य बढ़ाया है। बच्चे हमारी तुलना में हमारे जीवन की तुलना में ज़्यादा ज्ञानी (जानकार) हुये हैं लेकिन हमारी संवेदनात्मक क्षमता निरंतर कम से कमतर होती जा रही है। संवेदना भोंथरी होकर श्रीहीन हो रही है। मैं नहीं मानता कि राष्ट्रीय एकता के गीत दिखाकर राष्ट्रीय एकता कायम करने में कोई खास मदद मिल सकती है? आल इण्डिया रेडियो यानी आकाशवाणी से विकास के तमाम गीतों की शृंखलायें निकल रही हैं लेकिन उनके प्रभाव बहुत कम हैं। वे विज्ञापन ज़्यादा लगते हैं। विकास के लोकगीत गवाकर विकास प्रक्रिया में कोई मदद हो सकती है। हाँ, प्रभाव और अन्वित्र ज़रूर पड़ती है। मुझे लगता है कि हमारी सांस्कृतिक अस्मिता निरंतर बिखर रही है। दूरदर्शन का कोई भी कार्यक्रम आप देखें उसके हल अपने ढंग से सुनिश्चित हैं। सभी कार्यक्रमों में वे हल बार-बार दुहराये जाते हैं। हल की इस तरह की कोटियों से काफी नुकसान की संभावना पनपने लगती है। जैसे कोई चाबी भरी है और खिलौना नाच रहा है। विज्ञापन आदमी को खिलौनों के रूप में ढाल रहे हैं।

दूरदर्शन ने आकाशवाणी को पछाड़ दिया है क्योंकि आकाशवाणी में वह चमक-दमक नहीं है जो दूरदर्शन में है। आकाशवाणी ध्वनि माध्यम है जबकि दूरदर्शन तीनों। हालांकि उसमें वह रुतबा नहीं है। मैं आपको स्मरण दिलाऊँ अपने रिश्तेदारों, मित्रों और आत्मीयों को पत्र लिखने की हमारे यहां महती और सुदीर्घ परंपरा रही है। आधुनिकतावाद के दौर में वह परंपरा निरंतर कम होती जा रही है। अब पत्र की जगह टेलीफोन ने ले ली है। आपके पास पैसा है—मुम्बई, दिल्ली, त्रिवेन्द्रम, कलकत्ता, चेन्नई चाहे जहां बात कर लीजिये। कुछ समय बाद यदि पत्र लिखने वालों को पिछड़ा आदमी मान लिया जाये तो कोई आश्चर्य नहीं लेकिन यह बात अभी भी सच है कि टेलीफोन पत्रों के विकल्प नहीं हो सकते। पत्रों में जो आत्मीयता और हार्दिकता होती है वह टेलीफोन द्वारा किसी हालत में संभव नहीं है। मेरी समझ में पत्र हमारी संवेदनात्मक क्षमता के ज्वलंत उदाहरण हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद्र, निराला और मुक्तिबोध आदि के पत्र आज भी हमारे लिये ज़रूरी दस्तावेज़ की तरह हैं। मुझे इसी संदर्भ में मिर्ज़ा ग़ालिब के पत्रों का स्मरण हो आया वे उनके समय को वास्तविकता के साथ रेखांकित करते हैं।

संचार माध्यमों में प्रिंट मीडिया की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। पुस्तकें बहुत छपती हैं लेकिन पढ़ने वाले कम हैं और उन पुस्तकों की क्रीमतें बहुत हैं। एक हज़ार प्रतियों में छपी पुस्तकें दस वर्षों में अपना पहला संस्करण नहीं निकाल पातीं। अपवादों की बात छोड़िये। वहीं दूसरी ओर घटिया, कुरुचिपूर्ण, उत्तेजक पुस्तकें लाखों की संख्या में छपती और बिकती हैं। कुशवाहा कान्त, पम्मी दीवानी, इब्ने सफी इसके उदाहरण हैं। इससे हमारी परिवर्तित रुचि का पता चलता है। दुर्भाग्यपूर्ण है कि कविता संग्रह ८० या १०० पृष्ठों का होता है और अक्सर उसकी कीमत १०० से लेकर १३० रुपये तक रखी जाती है। कहानी संकलनों और उपन्यासों की मांग कविता की तुलना में बहुत ज़्यादा है।

समाचार पत्र हमारे देश में बहुत निकलते हैं। कम लोग ऐसे हैं जो कड़ी मेहनत करके पैसा-पैसा जोड़कर अपना अखबार खड़ा करते हैं। ज़्यादातर अखबार “पैसा फेंक तमाशा देख” के जीते जागते नमूने हैं। किन्हीं प्रतिबद्धताओं

से लैस होकर निकलने वाले अखबार अत्यंत विरल और दुर्लभ हैं आज के जमाने में। जहाँ तक मेरी जानकारी है पूंजीपति जिनके पास इफरात पैसा है, अखबार निकालते हैं। चोर, डाकू, उक्के, राजनीतिवाज, गुण्डे, भ्रष्टाचारी इस क्षेत्र में निरंतर काबिज होते जा रहे हैं। वे अपने स्वार्थों की पूर्ति की खातिर वे अखबारों से जुड़े हैं। अखबारों से लोगों की नष्ट होती “इमेज” चमकने लगती है। ज्यादातर खबरें स्टंट होती हैं। चटखारे, हत्या, आगजनी, लूटपाट, बलात्कार। ये सूचनायें नहीं सनसनीखेज अधिक हैं। कहा जाता है कि अखबार खबरों के भीतर की खबर को बाहर लाते हैं। रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद के पहले चक्र में ज्यादातर अखबार गैर जिम्मेदाराना हरकतें करते रहे उत्तेजनायें परोसते रहे। ०६ दिसंबर १९९२ को अयोध्या में पत्रकारों की सामूहिक पिटाई हुई तब से अखबारों की भूमिका कुछ ठीक-ठाक चल रही है। मेरी समझ में अखबारों का काम वस्तुस्थिति का तटस्थ और बेबाक विश्लेषण करना है। ज्यादातर साधारण आदमी अखबारों की दुनिया से बाहर होता है। अखबार किसी न किसी राजनैतिक दल के बंधुआ मजदूर की तरह भी काम करते हैं। इसलिये उनकी भूमिका निरंतर अविश्वसनीय होती जा रही है। पीत पत्रकारिता के अपने अलग कारनामों हैं। काले धंधे की कमाई और काली मानसिकता ने सब कुछ मटिया मेट कर रखा है। इस मीडिया में भी अपवाद हैं अच्छे अखबार और अच्छे संवाददाता हैं लेकिन दाल में नमक की तरह। अखबार भी हमारी बदलती हुई रूचि के द्योतक हैं। अब तो अखबारों में साहित्य के लिये लगभग कोई स्थान नहीं है। अखबार उन खबरों को ज्यादा प्रकाशित करता है जहाँ उसे ज्यादा पैसे मिलें। इसी तरह टी.वी. और सीरियलों में टी.आर.पी. की माया है।

संचार माध्यमों की और खासकर दूरदर्शन की प्रेत छाया न तो साहित्य बचा न संस्कृति न राजनीति न धर्म। साहित्य भी अपनी गुणवत्ता के बावजूद इन सब से बेहद प्रभावित हो रहा है। आश्चर्य न किया जाये कि अब कविता

कहानी प्रायोजित कार्यक्रम जैसे हो रही है। तो आलोचना भी। आलोचना को प्रायोजित होने का खतरा सबसे ज्यादा है। मुझे लगता है अब दायित्वपूर्ण आलोचना लिखना अत्यंत दुष्कर कार्य हो गया है। प्रकाशन में भी अच्छी किताबों के छपने का रिवाज नहीं है। स्वार्थपरतायें इतनी बढ़ गयी हैं कि घटिया चीजें आ रही हैं और विज्ञापनों की तरह उनको चमका-चमका कर पेश किया जा रहा है।

यह ऐसा भयावह दौर है जिसमें कोई चीज खांचे में नहीं है। मनमानी है, लीपापोती है और स्वार्थपरताओं में तिलिस्म भी। लेकिन इन स्थितियों से परे पार जाने के लिये भी हमारे पास कई माध्यम हैं। आधुनिकतावाद का कोई भी हमला, विज्ञापन संस्कृति और उपभोक्तावाद की कोई भी आंधी हमारे बढ़ते क्रदमों को रोकने में कामयाब नहीं हो सकती। हम लड़खड़ा सकते हैं लेकिन हमारी मंजिल कोई रोक नहीं सकता। प्रजातंत्र लड़खड़ा रहा है। आज्ञादी बार-बार छलनी हो रही है। प्रजातंत्र में विकास के नाटकों के द्वारा जनता को सम्मोहित करने का काम धड़ल्ले से जारी है। न जाने कितने अखबारों में एक-एक पेज के बड़े-बड़े विज्ञापन निकलते हैं और आम जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा उनकी जेब से कहाँ चला जाता है। अभी हमने उत्तर प्रदेश में एक लड़की के साथ जो घटना घटी उसे देखा, उसका बलात्कार हुआ। उस पीड़िता के पिता ने थोड़ी सी कार्यवाही की तो इसकी क्रीम त उसे झूठे मामले में फंसाकर थाने में पिटाई की गई जिस कारण उसकी मौत के रूप में परिवर्तित हुआ। न्याय मिलता है उसे जो पैसे वाला हो या दबंग हो। बलात्कार की गई लड़की को और जनता को न्याय का रिहर्सल दिखाया जायेगा। उसको सही न्याय मिलने में अभी भी दिक्कत है। रघुवीर सहाय की एक कविता है ‘औरत की ज़िन्दगी’ उसे पढ़ें- “कई कोठरियाँ थी क्रतार में/ उनमें किसी में एक औरत ले जाई गई/ थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया/ उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा/ उसके बचपन से जवानी तक की कथा।” (हंसो, हंसो जल्दी हंसो संकलन से)

संपर्क: ६, रजनीगंधा शिल्पी उपवन, श्रीयुत नगर,

रीवा (म.प्र.)-४८६००२, मो. ९४२५१८५२७२

‘शेखर: एक जीवनी’- अंतःसंघर्ष का प्रामाणिक दस्तावेज डॉ. हरeram पाठक

‘शेखर: एक जीवनी’ की रचना के पीछे एक रोमांचकारी घटना है। एक बार अज्ञेय को बम, बारूद एवं घातक हथियार बनाने के जुल्म में गिरफ्तार किया गया। दो-ढाई बजे रात में लाहौर के किले में कैद अज्ञेय को देखने एस.पी. जैकिन्सन आए। एस.पी. किसी प्रकार से अज्ञेय के क्रांतिकारी संगठन के विषय में ढेर सारी जानकारियाँ चाहता था। पूछताछ का क्रम चालू हुआ और एस.पी. ने अज्ञेय को फाँसी देने की धमकी तक दे डाली। एस.पी. को अज्ञेय ने गुस्से में थप्पड़ मार दिया था। मामला बहुत संगीन था। अज्ञेय को भी विश्वास होने लगा था कि उन्हें फाँसी की सजा अवश्य मिलेगी। ‘शेखर: एक जीवनी’ की रचना फाँसी की इसी डरावनी छाया में हुई है। अज्ञेय भी ‘शेखर: एक जीवनी’ की भूमिका में इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं- “ ‘शेखर’ घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए विजन को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।... पौ फटने तक सारा चित्र बदल गया। अर्थ के बहुत से सूत्र मेरे हाथ में थे, लेकिन जैसे झर गई थी, धूल हो गई थी।” यहाँ ‘शेखर’ के रूप में अज्ञेय का आत्म संघर्ष ही अभिव्यक्त हुआ है।

राम कमल राय लिखते हैं- “अज्ञेय की जीवनी को लेकर सबसे जटिल समस्या ‘शेखर: एक जीवनी’ प्रस्तुत करती है। ‘शेखर: एक जीवनी’ वास्तविक जीवन की सबसे दारुण क्षणों की संतुष्टि है। जब उन्हें लगा कि उन्हें अब फाँसी के सिवा और कुछ नहीं होने वाला है तो अपने विगत को एक तीखे आलोक की कौंध में एक तीखी नजर से जज्ब कर लेने की कोशिश ‘शेखर: एक जीवनी है’।”^१

सृजन की त्रासद स्थिति में जन्म लेने वाली यह कृति कोई साधारण जीवनी नहीं है। अज्ञेय जी ने जैसा कि स्वीकार किया है, यह जीवनी केवल ‘आत्मघटित’ नहीं है, ‘आत्मानुभूत’ है। अर्थात् आत्मगत अनुभूतियाँ ही ‘शेखर: एक जीवनी’ का मूल उत्स हैं। ये अनुभूतियाँ भले ही ‘आत्मगत’ हों, पर इनकी व्याप्ति व्यापक जनमानस तक है। इसमें जितनी अज्ञेय की जीवनी है, उतना ही समाज के एक स्तर-विशेष पर जीने वाले व्यक्तियों की जीवनी है। संक्षेप में, अज्ञेय का समष्टिबोध उनकी इस व्यष्टिपरक रचना में प्रतिबिंबित हो उठा है। दूसरे शब्दों में, उनका बचपन, बचपन में ढलने वाले संस्कार, उनका रागात्मक संसार एवं उनके क्रांतिकारी जीवन की दारुण सच्चाइयाँ इस उपन्यास में प्रतिफलित हो उठी हैं।

अज्ञेय का बचपन 'शेखर: एक जीवनी' में जिस प्रकार चित्रित होता है उससे स्पष्ट होता है कि बाल्यकाल से ही वे एकांतप्रिय और अंतर्मुखी रहे हैं। कुशीनगर के बाद उनके जीवन के प्रारंभिक चार वर्ष लखनऊ में बीते। उस समय की स्मृतियाँ 'शेखर : एक जीवनी' में इस प्रकार स्पष्ट होती हैं- 'वह अकेला था, अनुभव कर रहा था कि मैं अकेला हूँ, और यह भी अनुभव कर रहा था कि मैं अकेला इसलिए हूँ कि मैं उस प्रकार नहीं हूँ जिसे लोग अच्छा कहते हैं, मैं पढ़ता नहीं हूँ, किसी का कहना नहीं मानता हूँ। ढीठ हूँ, लड़ाका हूँ, शैतान हूँ।' शेखर की यह पूरी स्थिति क्या अज्ञेय की स्थिति नहीं है? शेखर के समान ही अज्ञेय में बचपन से ही वह लड़ाका प्रवृत्ति रहती है जिसके कारण प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर वे क्रांतिकारी बन जाते हैं। बचपनावस्था में आरोपित बगावत की चिनगारी युवावस्था में क्रांति की ज्वाला बनकर भड़क उठती है।

रामकमल राय ने 'शिखर से सागर तक' पुस्तक में एक जगह लिखा है कि "वात्स्यायन जी से जब शशि शेखर के संबंधों को लेकर जिज्ञासा की गई और इस संकेत के साथ कि यह प्रसंग उनके जीवन का आत्यन्तिक महत्त्व का प्रसंग है तो उन्होंने किंचित विषादभरी स्मित के साथ कहा, "उतना आत्यन्तिक महत्त्व का तो नहीं है, परंतु उस समय उसका महत्त्व अवश्य काफी था।" फिर यह पूछने पर कि शेखर तो आपका प्रतिनिधि है, परंतु शशि के विषय में कुछ स्पष्ट करें, वात्स्यायन जी ने कहा कि शशि किसी एक व्यक्ति का पूर्ण प्रतिनिधि चरित्र नहीं है। शशि कई चरित्रों का एक संश्लिष्ट चरित्र है, उनकी रिश्ते की बहिनों से निर्मित।" शशि और शेखर का प्यार नजदीकी रिश्ते का प्यार है जो समाज में कहीं-कहीं घटित होता दिखाई भी देता है। शेखर को लेखक बनाने में जिस प्रकार शशि का त्याग है जिसे वह अपना सहज स्वाभाविक धर्म मानती है उसी प्रकार अज्ञेय जी को लेखन-पथ पर अग्रसर करने में भी किसी स्त्री का त्याग अथवा भूमिका अवश्य रही है, इसे इंकार नहीं किया जा सकता।

कलकत्ता प्रवास के दिनों अज्ञेय 'शेखर : एक जीवनी' की रचना कर रहे थे। यह वह समय था जब अज्ञेय जेल से छूट चुके थे और 'विशाल भारत' का संपादक (१९३८)

बन कलकत्ता चले गये थे। उनके मन में एक महान रचना की प्रेरणा करवटें ले रही थी। 'शेखर' में एक प्रसंग आता है। शशि कहती है-

'शेखर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो-'

शेखर ने कुछ हँसी में कहा, 'तब तो तुम्हारी कहानी लिखूँ- निजी सत्य।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि यही 'निजी सत्य' जिसे अज्ञेय ने देखा-भोगा था, 'शेखर : एक जीवनी' नामक अद्भुत कृति के रूप में प्रकट हुआ। 'शेखर : एक जीवनी' यद्यपि एक आत्मनिष्ठ उपन्यास है पर इसका फलक इतना व्यापक है कि इसके अंदर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक समस्याएँ भी सिमटकर आ गयी हैं।

यह उपन्यास मूलतः विद्रोह का आख्यान है। शेखर जब लगभग तीन वर्ष का था तभी से उसका विद्रोही स्वभाव मुखरित होने लगा था। उसे डॉक्टर को बुलाने भेजा गया, किंतु वह मार्ग में लगे हुए लेटर बॉक्स को घोड़ा बनाकर खेलने लगा। डाकिए के मना करने पर उसका पैर कुचलकर वहाँ से भाग गया। उम्र के अनुसार उसके विद्रोह का क्षेत्र बड़ा होता गया। उसने समाज के रुढ़ियों के प्रति, आडंबरों के प्रति, नैतिक मानदंडों के प्रति खुलकर विद्रोह किया। सामान्यतः 'शेखर' को आलोचकों ने अहंकार से ग्रसित व्यक्तित्व के रूप में ही देखा है और यह बतलाने का प्रयास किया है कि शेखर में बचपनावस्था से ही अहं की प्रबलता रही है जो उम्र के साथ और दृढ़तर होती गयी है। पर वास्तव में इस प्रकार की सोच भी अतिवादी ही कही जायेगी। शेखर में 'अहं' नहीं बल्कि स्वाभिमान है। उसका यही स्वाभिमान उसे सकारात्मक विद्रोह की दहलीज तक ले जाता है। उसका हर विद्रोह अपने आप से प्रश्न करता है, फिर उसे विवेक के तराजू पर तौलता है। बच्चों पर माता-पिता के अनावश्यक दबाव एवं कठोर नियंत्रण के विषय में सोचते हुए वह कहता है-

"कभी तो विवश पूछना पड़ता है कि वे आखिर बच्चों को समझते क्या हैं? जहाँ तक एक ओर वे कहते हैं कि बच्चे सब बदमाश और पाजी होते हैं, वहीं दूसरी ओर वह

ऐसा भी बताव करते हैं, मानो बच्चे माटी के लोंदे से अधिक कुछ न हों।”

इस उपन्यास का वैचारिक धरातल विस्तृत और गंभीर है। मृत्यु, विद्रोह, कला, ईश्वर, शिक्षा, क्षण, प्रेम, सौन्दर्य, दुःख, अहिंसा, संस्कृति, दासता, आनंद, क्रांति, वासना आदि सबका वैचारिक धरातल पर गंभीर विवेचन इस उपन्यास में हुआ है। फाँसी के आकस्मिक भय से ‘शेखर’ आक्रांत अवस्था है, पर उसके आक्रांत होने के पीछे उसकी निजी समस्या नहीं, बल्कि जीवन के प्रति व्यवस्था की क्रूरता है। यही कारण है कि फाँसी के द्वारा दी जाने वाली मृत्यु की भर्त्सना करते हुए वह कहता है—

“जिस जीवन को उत्पन्न करने में हमारे सारे संसार की शक्तियाँ, हमारे विकास, हमारे विज्ञान, हमारी सभ्यता द्वारा निर्मित सारी क्षमताएँ या औजार असमर्थ हैं, उसी जीवन को छीन लेने में, उसी का विनाश करने में, ऐसी भोली हृदयहीनता-फाँसी।”

‘शेखर : एक जीवनी’ में तत्कालीन राजनीति पर गाँधीवादी प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। गाँधी से लोग इतने प्रभावित थे कि उनके एक ही इशारे पर वे उनके साथ हो लेते थे। किंतु उस समय कुछ ऐसे भी लोग थे जिनके लिए गाँधीवादी होना मात्र युगीन विवशता थी। अतः ऐसे लोगों के कार्य में सिर्फ दिखाया था और ऐसे लोग केवल दिखावे के लिए ही किसी आंदोलन में शामिल होते थे। कैम्प के सेनापति के ये शब्द इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं— “देखो भई, दस-पन्द्रह दिन की कुल बात है। किसी तरह मिल-मिलाकर बरतना है। किसी को नाराज करने का क्या फायदा! गुजारा ही तो करना है।” इसी प्रकार ‘अहिंसा’ का अर्थ भी लोग अपने स्वार्थ एवं आचरण के अनुकूल ही करते हैं। इसीलिए ये अनुशासन भंग करने वाले स्वयं सेवकों को दी गयी सजा को भी हिंसात्मक मानते हैं और कहते हैं—“और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धांत के खिलाफ है। ...दो आदमियों को ऐसे बेइज्जत करना और पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालण्टियर सेना अहिंसक है।”

कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय जी एक सहज चिंतक एवं समाज विश्लेषक हैं। व्यक्ति-विश्लेषण की

सहज दृष्टि उन्हें प्राप्त है। यही कारण है कि शेखर के माध्यम से लेखक ने गाँधीवादी प्रभाव के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलुओं को अभिव्यक्त किया है।

विद्रोही शेखर का संपूर्ण जीवन नारी-प्रभावों से सन्निविष्ट है। शेखर बहुत-सी नारियों के संपर्क में आता है। इनमें से कुछ ऐसी हैं जो पथ में आती हैं और चली जाती हैं। परंतु कुछ ऐसी हैं जो गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं। वह अपनी माँ से भी विद्रोह करता है। माँ जब शेखर की इच्छा का दमन कर अपना प्रभाव जमाना चाहती है, शेखर पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। वह अपने व्यक्तिगत अनुभवों से अपने जीवन में सुधार लाना चाहता है। व्यक्तिगत अनुभव को प्रश्रय देना केवल शेखर की ही विशेषता नहीं है बल्कि हर किशोरवय का लड़का ऐसे ही अनुभव से होकर गुजरता है।

शेखर में यौनगत कुंठा है। इस कुंठा में वह कहीं कहीं मर्यादा का उल्लंघन करते हुए भी पाया जाता है। नजदीकी रिश्तों में यौन-संबंध स्थापित करने में भी वह संकोच नहीं करता। वह कहता है— “यदि स्त्रियाँ नहीं होती तो शायद वह जी नहीं पाता” शेखर के इस कथन को युवा-मन का सहज विकास कहा जाए या दमित वासना की सभ्य स्वीकृति, यह विचारणीय प्रश्न है। डॉ. प्रेम सिंह लिखते हैं कि “उसका काम-बोध रूढ़ हिंदूवादी काम-बोध है जिसके मूल में निषेधपरक भावना काम करती है। उसका सहज काम-भाव जो बचपन से लेकर वयःसंधि तक विकसित होता है, किसी रचनात्मक संस्कार को प्राप्त नहीं कर पाता। वह उसकी परिणति को गलत ‘पापमय’ और ‘घृणित’ मानता है।”

यह सर्वविदित है कि मन की भावनात्मक गहराई में जब व्यक्ति उतरता है तो वहाँ कीचड़ और कमल दोनों मिलते हैं। दोनों आकर्षित करते हैं। कीचड़ नासमझी के स्तर पर आकर्षित करता है तो कमल समझदारी के स्तर पर। शेखर ‘काम’ की ‘परिणति’ पर विचार कर कीचड़ में ‘पैर डालने से बच जाता है अथवा ‘काम’ की चरमावस्था पर पहुँचकर भी संभल जाता है। शेखर का संपर्क पहले सरस्वती, फिर शारदा, शांता और शशि से होता है। बहरहाल, शेखर के जीवन में शशि का काफी महत्वपूर्ण स्थान है।

‘शेखर’ उपन्यास के प्रथम भाग में ही एक जगह कहता है- “सबसे पहले तुम शशि! इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आई या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है।” अर्थात् शेखर अपने होने का श्रेय शशि को ही देता है। यह सत्य भी है। शेखर के व्यक्तित्व निर्माण में शशि की ही भूमिका होती है।

‘शेखर’ ने हिंदी उपन्यास को एक नया मोड़ और आयाम दिया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में जहाँ जीवन-प्रसंगों का सौन्दर्य एवं यथार्थ उद्घाटित हुआ है वहीं ‘शेखर : एक जीवनी’ में जीवन का अंतः संघर्ष उद्घाटित हुआ है। बाहरी संघर्ष से जूझने से पहले व्यक्ति को आंतरिक संघर्ष से जूझना पड़ता है। इसीलिए अज्ञेय के यहाँ संघर्ष और घटना की प्रेमचंदयुगीन परिभाषा बदली हुई है। अतः उनके चित्रण का स्वरूप भी बदल गया है। ‘शेखर’ में बाह्य सौन्दर्य का संघर्ष नहीं, अंतःसौन्दर्य का संघर्ष है। उसकी इसी विशेषता के कारण उपन्यास जगत में उसका भव्य स्वागत हुआ था।”^४

इस उपन्यास में व्यक्ति के अंतःसंघर्ष को चित्रित करने के लिए एक नवीन भाषा शैली एवं औपन्यासिक शिल्प की आवश्यकता थी जिसे अज्ञेय जी ने काफी सतर्कता से उकेरा है।

‘शेखर’ फाँसी की कोठरी में बैठा हुआ अपने पूरे जीवन को दोबारा जी रहा है। इस क्रम में अतीत की

घटनाओं का स्मरण करता है। यहाँ घटनाओं की क्रमबद्धता महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है जीवन के प्रत्यावलोकन के प्रति ईमानदार अभिव्यक्ति। शेखर कहता है- “मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दोबारा जी रहा हूँ। मैं जो सदा आगे ही देखता रहा, अपनी जीवन यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर पीछे देख रहा हूँ कि मैं कहाँ से चलकर किधर-किधर भूल-भटकरकर, कैसे-कैसे विचित्र अनुभव प्राप्त करके यहाँ तक आया हूँ।”

इस प्रकार अनेक सम्बद्ध भाव-चित्रों के द्वारा इस उपन्यास की संरचना हुई है। इसकी आत्मानुभूति बेजोड़ है। शेखर हमें जीवन के चिर मौलिक प्रश्नों से रू-ब-रू कराता है। अंतर्मन में उठने वाली भाव-तरंगों को सामान्य लेखक अनावश्यक समझकर कलमबद्ध नहीं करते हैं पर अज्ञेय जी ने अपनी सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि से इन्हें गहराई से पकड़ने का प्रयास किया है। अपने प्रयास में वे सफल भी हुए हैं। यही कारण है कि डॉ. नगेन्द्र ने ‘शेखर’ को हिंदी के ‘गौरव ग्रंथ’ की संज्ञा दी है।

संदर्भः

१. शिखर से सागर तक, पृ. १६
२. वही, पृ. ३३
३. अज्ञेयः चिंतन और साहित्य, पृ. १२५
४. वही, पृ. १२८

संपर्क :

डिगबोई महिला महाविद्यालय

पो. डिगबोई, जिला- तिनसुकिया, पिन- 786171, मो. 9435137624

हिंदी उपन्यासों में किसान: तुलनात्मक अध्ययन रणजीत कुमार सिन्हा

हिंदी कथा साहित्य में किसान जीवन पर स्वतंत्रता पूर्व सफल चित्रण करने वाले प्रथम एवं अंतिम श्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद ही हैं। १९३६ में प्रकाशित 'गोदान' अंग्रेजी शासन एवं स्वतंत्रता पूर्व भारतीय किसान जीवन का लेखा-जोखा है। प्रेमचंद का 'गोदान', रेणु का 'मैला आँचल' सामंती व्यवस्था, जाति व्यवस्था में फंसे किसानों की मार्मिक कथा कहते हैं। जबकि संजीव भूमंडलीकरण के आक्रमक दौर में कृषि की बदहाली और उस बदहाली के कारण किसानों की आत्महत्या की कथा कहते हैं। प्रेमचंद, रेणु के किसान जीवन का उपन्यास, उपनिवेशवादी राष्ट्र और स्थानीयता के बीच के अवकाशों को दर्शाते हैं। संजीव नेशनल, लोकल और ग्लोबल के बीच के अवकाश को देखते हैं।

प्रेमचंद के कथा साहित्य में हम किसान को मजदूर बनते देखते हैं। प्रेमचंद के किसान परंपरावादी एवं धर्म भीरु हैं। पर सन १९५५ के क्राईम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार अब तक हमारे देश में आठ लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं। जिसमें सबसे अधिक महाराष्ट्र में हैं। 'गोदान' एवं 'फाँस' दोनों उपन्यासों पर विचार करने पर हम करीब ८० वर्ष का अंतराल पाते हैं। 'गोदान' जिस प्रकार एक गाँव की कथा न रहकर सम्पूर्ण भारत, विशेष कर उत्तर भारत के किसानों की त्रासदी की कथा है। 'फाँस' भी महाराष्ट्र के यवतमाल जिले के बनगांव की कथा का चित्रण है जिसमें आंध्रप्रदेश व कर्नाटक के किसानों सहित भारत के प्रायः राज्यों के किसानों की वर्तमान त्रासदी का वर्णन है।

होरी किसान है, उसके परिवार का जीवन (तीन बीघा) खेत पर टिका है। भारतीय मध्यवर्ग किसान का प्रतिनिधित्व है होरी। होरी के पास जो जमीन है उस पर 'गोदान' का समाज शास्त्रीय अध्ययन करते हुए हरिश्चंद्र श्रीवास्तव लिखते हैं- "होरी की खेती को गुजारे की खेती (subsistence farming) कहा जा सकता है। जो केवल इतना देती है उससे जिया जा सके। उसमें आकांक्षाओं के लिए जगह नहीं है-न ही मानविकता के लिए लेकिन होरी में ये दोनों हैं और नतीजन होरी जी नहीं पाता।

'गोदान' में तीन इंसानी मृत्यु देखने को मिलता है। होरी की, सिलिया के बच्चे रामू की तथा गोबर के बेटे मंगल की। ये तीन मौत अलग-अलग परिस्थितियों की देन है। होरी की मौत का कारण गाय और गाय की मौत है। लू लगने पर गरीबी के चलते होरी का इलाज नहीं हो पाता। असल वजह मौत की मरजाद भी है। वह मरजाद के साथ मनुष्य की तरह जीना चाहता है।

प्रेमचंद इस उपन्यास में किसानों के मौत का कारण संक्रामक बीमारी, अधिक शारिरिक यंत्रणा या परिश्रम को दिखाते हैं जो स्वाभाविक है। गोबर के बेटे की मृत्यु मजदूरों की गंदी बस्ती, अस्वास्थ्य कर एवं अवहेलना के चलते तो सिलिया के बेटे की मृत्यु को जातिगत कारण दिखाते हैं।

आजादी के ७० वर्ष बाद भी देश की बड़ी आबादी व किसानों की हालत बढ़ से बढ़तर होती नज़र आ रही है। जमींदारी प्रथा भले ही समाप्त हो गयी हो लेकिन भूमि का विषय विभाजन ने गाँवों में नये तरह के कुलक और भूस्वामी पैदा कर दिया है। गाँव उजड़ रहे हैं। छोटे किसान अपनी जमीन से बेदखल होकर महानगरों में मजदूरी करने पर विवश हैं। महाजनों तथा बैंक के चंगुल में फंसे लाखों किसान आज आत्म हत्या करने पर मजबूर हैं।

गोदान में प्रेमचंद किसानों एवं महाजनों सभ्यता के यथार्थ से जनमानस को परिचित कराते हैं। इसमें किसान एवं मजदूर समाज का व्यापक चित्रण हुआ है।

भूमंडलीकरण के प्रभाव से आई किसानों की बदहाली का चित्रण भारतीय ग्रामीण जीवन के कथाकार शिवमूर्ति अपने उपन्यास 'आखिरी छलांग' में सुन्दर ढंग से करते हैं। 'आखिरी छलांग' में शिवमूर्ति भारतीय किसानों के बदहाली को मूलतः सरकार की किसान विरोधी नीतियों का परिणाम ही मानते हैं और उपन्यास के चरित्र नायक पहलवान को केंद्र में रखकर किसान के व्यक्तित्व एवं सामाजिक समस्याओं के माध्यम से कृषि की दुर्दशा और पांडे बाबा की आत्महत्या के प्रसंग के माध्यम से किसानों के आत्महंता बनने के कारणों की पड़ताल करते हैं- "‘आखिरी छलांग’ के मुख्य पात्र पहलवान जी चार-पाँच एकड़ की बड़ी जमीन के मालिक हैं लेकिन तब भी उन्हें सोसायटी के कर्ज की रकम और बेटी के ब्याह की चिंता परेशान कर रही है वे सोचते हैं कि ‘जब हमें अपना पाँच, छः लोगों का परिवार पालना कठिन हो रहा है तो बाकी लोगों का गुजर-बसर कैसे होगा? हम पैदा करने के दिन से लेकर मरने के दिन तक क्यों परेशान रहते हैं? हमारी बिपत्ति का कारण क्या है?’" (शिवमूर्ति, आखिरी छलांग)

यह चिंता केवल पहलवान जी की नहीं बल्कि आम भारतीयों की एवं भारतीय किसानों की भी चिंता है। जिसे सरकार की किसान विरोधी नीतियाँ और अधिक बढ़ा देती हैं और रही सही कसर बैंक, सोसायटी और सरकारी कर्मचारी पूरी कर देते हैं। कर्ज किसान की जरूरत है। इस बात को जानते हुए भी उसकी जरूरत को मजबूरी में बदल डालने में सरकार का पूरा हाथ रहता है। साठ-सत्तर के दशक में भारत को खाद्यान्नों में आत्म निर्भर बनाने वाला किसान आज आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है? क्यों मजबूर हो रहे हैं यह सवाल मुख्य है, इस पर विचार करना जरूरी है।

'आखिरी छलांग' का एक पात्र खेलावन कहता है कि "हमारी सरकार की नीतियाँ तो हवा हवाई हैं जो बाहर की कंपनियों से ऐसी एग्रीमेंट कर रही हैं जो सौ साल पहले गिरमिटिया मजदूरों के साथ हुए एग्रीमेंट से ज्यादा खतरनाक है। भारत सरकार की ये किसान विरोधी नीतियाँ जो भू अधिग्रहण की वकालत करती हैं, वास्तव में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की उस बाजारवादी नीतियों का खुला समर्थन करती हैं जो किसानों को विलुप्त प्रायः जीव बनाने के लिए

कटिबद्ध है। (शिवमूर्ति, आखिरी छलांग) इसमें हमें बाजारवाद की आहट मिलती है।

इस उपन्यास का एक अन्य पात्र पी.सी, एस उर्फ रामेश्वर किसानों को पाँच तरह के खतरों से अवगत कराता है-

१. बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बीज पैटेंट कराने से पैदा खतरा
२. किसानों की जमीन हड़पकर उद्योगपतियों को दिए जाने का खतरा
३. सड़कों को जाल-बिछाने के क्रम में किसानों की जमीन माटी के मोल कब्जा लेने का खतरा
४. किसानों के लिए दूसरी चीजों पर सबसीडी बढ़ाने के बजाय घटाते चले जाने का खतरा
५. दूसरे उत्पादकों के लिए एम.आए.पी. जबकि किसानों के लिए एम.एस.पी (न्यूनतम समर्थन मूल्य)

भारत में किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी जहाँ ३प्रतिशत बैठती है वहीं अमेरिका और यूरोप देशों में किसानों को ६० से ७० फीसदी सब्सिडी देता है जबकि भारत में चालीस लाख से अधिक किसान परिवार कपास खेती से जुड़े हैं जिनको नाम मात्र सब्सिडी देता है।

'आखिरी छलांग' में शिवमूर्ति सरकार की किसान विरोधी नीतियों पर व्यापक रूप से सवाल उठाते हैं। वे लिखते हैं- "जितना कहना चाहता था, जैसा कहना चाहता था, नहीं कह पाया।"^२

'आखिरी छलांग' में आने वाले प्रसंग पांडे बाबा की आत्महत्या गेहूँ, गन्ना, आलू, प्याज आदि फसलों पर मंडराता संकट, ट्रैक्टर की खरीद में जालसाजी आदि भारतीय किसान की दयनीय हालत और विडंबना से संबंधित है। डीजल, कीटनाशक, बिजली, खाद, जोताई मढ़ाई, मजदूरी सबका रेट तो हर साल बढ़ता है नहीं बढ़ता तो किसान की पैदावार का दाम, किसान के लिए आलू का बीज खरीदने के लिए पैसा जुटाना पहाड़ हो जाता है। किस तरह आलू का दाम गिरकर दो रुपये से भी नीचे आ जाता है। लेकिन किसान के घर से निकलते ही बाजार में उसका दाम रेट फिर से दस रुपये किलो हो जाता है।

किस तरह से किसान कर्ज के बोझ तले दबे जा रहा है। सरकारी नीतियाँ किसानों का खून चूस रही हैं। अन्नदाता स्वयं भूख से मर रहा है। किस तरह किसान भूमिहीन बनने के लिए पूँजीपतियों द्वारा ठगे जा रहे हैं। सरकार

जेनेटिक खेती के नाम पर, तो कभी कांटेक्ट खेती के नाम पर किसानों को मजदूर भूमिहीन बनाने पर तुली है जिसके बारे में भारत डोगरा कहते हैं-“आजादी के बाद भूमि सुधार का जो कार्यक्रम बना था, उसका उद्देश्य यह था कि भूमिहीन किसानों को छोटा किसान बनाना है लेकिन हुआ यह कि छोटे किसान को भूमिहीन बनाया जा रहा है।”

यहाँ पर पांडे बाबा (भारतीय किसान) की आत्महत्या का मार्मिक प्रसंग है-“पांडे बाबा का बेटा दलाल की चक्कर में पड़ कर ट्रैक्टर खरीदता है। दो माह खेती के लिए साल भर क्रिश्त दर क्रिश्त देते-देते बेटा बीमार पड़ जाता है। क्रिश्तें रुक जाती है। ब्याज बढ़ने लगता है। जमीन बंधक दी जाती है और बैंक वाले सारी जमीन को असल की चौथाई कीमत पर नीलाम कर देते हैं। इस सदमें को पांडे बाबा सहन नहीं कर पाते और आत्महत्या कर लेते हैं।

संजीव का उपन्यास ‘फाँस’ प्रेमचंद एवं रेणु के किसान जीवन की कथा की अगली कड़ी है। प्रेमचंद एवं रेणु ने औपनिवेशिक और स्वतंत्रता पूर्व एवं स्वातंत्रोत्तर किसानों की दशा का वर्णन करते हैं तो कथाकार संजीव ‘फाँस’ उपन्यास में नेशनल, लोकल और ग्लोबल के बीच के अवकाश के कहानी को प्रस्तुत करते हैं। यह उपन्यास रेणु के ‘मैला आँचल’ की तरह ही भूमंडलीकरण, उदारीकरण के बाद के ट्रेंड सैटुर उपन्यास हम मान सकते हैं। इस उपन्यास में जीवन और समाज में रूपांतरण कि प्रक्रिया को हम बेहतर ढंग से देख सकते हैं। पानी सामाजिक वस्तु से किस तरह बाज़ार की वस्तु बन गया है, हम इस उपन्यास में बेहतर ढंग से पाते हैं। प्रेमचंद एवं रेणु सामंती व्यवस्था, जाति व्यवस्था में फंसे किसानों की मार्मिक कथा का वर्णन करते हैं जबकि संजीव भूमंडलीकरण के इस आक्रामक दौर में कृषि की बदहाली और उस बदहाली के कारण किसानों की आत्महत्या की कथा कहते हैं।

संजीव ‘फाँस’ उपन्यास की कथाभूमि महाराष्ट्र राज्य का विदर्भ क्षेत्र है जो किसानों की आत्महत्या का प्रदेश बन गया है। संजीव ने विदर्भ अंचल के किसानों की जीवन, वर्ण, जात-पात, सामाजिक, सांस्कृतिक के साथ-साथ वर्तमान सरकारी तंत्र के किसानों विरोधी नीतियों का हिंदी-मराठी की संधि पर खड़ा संजीव का उपन्यास ‘फाँस’ संभवतः

किसी भी भाषा में इस तरह का पहला उपन्यास है जिसके केंद्र में है विदर्भ और समूचे देश में तीन लाख से ज्यादा हो चुकी किसानों की आत्महत्याएँ और ८० लाख से ज्यादा किसानों छोड़ चुके भारतीय किसान। ‘फाँस’ में संजीव जीवन और जगत के उपेक्षित, लांक्षित और लाचार भारतीय किसान की कथा को व्यक्त किए हैं।

भूमंडलीकृत समय की उदारवादी नीति ने किस तरह समाज को संक्रामक रोग चपेट में लिया है कि कृषि प्रधान देश के रूप में विश्व में विख्यात भारत के किसान आज मजदूर और फिर मजदूर होकर आत्महत्या करने पर मजबूर हैं, विकास की आँधी ने किसानों पर वीनस की बौछार कर दिया है- “विकास की आँधी दौड़ में किसान और किसान की सतत उपेक्षा, किसानों की आत्महत्या या खेती छोड़ देना सिर्फ अपने देश में है सबसे भयानक। यहाँ हीरो होंडा, मेट्रो और दूसरी उपभोक्ता सामग्रियों पर तो रियायते हैं मगर किसानों पर नहीं। बिना घूस-पाती दिए न नौकरी मिलने वाली, न बिना दहेज़ दिए बेटों का ब्याह। बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, हारी-बीमारी, सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती समस्याएँ ! फ़र्ज़ और क़र्ज़ के दलदल में डूबता ही चला जाता है विकल्प हीन जीवन। गले की फाँस बन गयी है खेती। न करते बनती है, न छोड़ती। ऐसे में क्या करें किसान ? जब दूसरे धन्धे पड़ोसी की सम्पन्नता लाखों का वेतन, हीन भावना पैदा कर रही हो। सो द्रुत लाभ के लिए बी.टी कॉटन और ट्रांसजेनिक फसलें हैं। द्रुत लाभ के लिए गाँव का सूदखोर महाजन और ऋणदात्री एजेंसियाँ, द्रुत आनंद के लिए देशी दारू, अंततः द्रुत मुक्ति के लिए आत्महत्या। कब शुरू हुई और कब अलविदा कह दिया जिन्दगी को ! एक मरती हुई प्रजाति का नाम है किसान। कोई शौक से नहीं मरता। एक पूरे समुदाय के लिए जब जीना दुस्वप्न बन जाये और मौत एक निष्कृत तभी कोई चुनता है मौत। कृषक आत्महत्या महज जिम्मेदारियों से पलायन नहीं, एक प्रतिवाद भी है। कायरता नहीं भाव-प्रवणता का एक उदात्त मुहूर्त भी पाश्चाताप प्रस्थान और निर्वेद की आग में मानवता का झुलसता हुआ परचम।”

महाराष्ट्र की कृषि समस्या का एक छोर कपास से जुड़ा है तो दूसरा गन्ने के खेती से। कपास की खेती करने वाले

किसान जहाँ अनुचित मूल्य निर्धारण, महंगे और धरती की उर्वरा शक्ति का दोहन करने वाले बीज, महाजनों और साहूकारों का रक्त चूसक ब्याज दर और बिगड़ते मौसम चक्र के प्रतिकूल आघातों के बीच पारिवारिक जिम्मेदारी और सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्वहन में नाकामयाब और आत्महत्या करने को मजबूर हैं तो वहीं गन्ना किसानों का सुख-चैन प्रदेश की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले चीनी मील मालिकों की आंतरिक उठा पटक और दुश्मनी की भेंट चढ़ जाता है। मूलतः यह उपन्यास कपास के खेती करने वाले किसानों की समस्या पर केंद्रित है। पर कुछ उपकथाओं में गन्ने के किसानों का भी जिक्र है।

किसानों के विकास के लिए सरकारी वादे फिर सत्ता प्राप्त होते ही किसानों पर अमानवीय अत्याचार अपनी जुबान से बदल जाना। किसानों को केवल वोट बैंक तक सीमित रखना और सरकारी लोन देने की लोलीपॉप दिखाते रहना ही आज के भूमंडलीकृत समय में सरकारों की नियत है इसे हम 'फॉस' में पाते हैं। किसानों की हालत और सरकारी कर्ज का सुंदर चित्रण संजीव करते हैं- किसान मोहन बाघमारे कर्ज लेने जाता है किसी सरकारी अधिकारी के पास। किसानों के नाम पर वोट लेने वाली सरकारें कैसी क्रूरता से किसानों से पेश आती हैं, मानों अंग्रेजी सरकार अभी भी कायम हो। खेती के लिए कर्ज न देने के हजार बहाने। पचास कानूनों की दुहाई लेकिन मोटर साईकल के लिए तुरंत तैयार जैसे-तैसे कर्ज लेकर जिन्दगी खींच रहा था मोहन बाघमारे का परिवार कि सूखे की चपेट में पूरा क्षेत्र आ गया। सूखे के चपेट में बैल का सौदा करना पड़ा। एक को साँप ने काट खाया दूसरे को मजदूरी में कसाई को बेचना पड़ा और फिर खुद ही मोहन बैल की जगह खेत जोत रहे हैं। सिन्धु ताई ने हल की मूठ पकड़ रखी है, लेकिन धर्म का फंदा ऐसे सस्ते में थोड़े छोड़ेंगे- “कसाई को बैल बेचा। महापाप। बहुत भयंकर पाप है गोवध। प्रायश्चित्त का एक ही उपाय है बैल के गले का फंदा गले में डालकर भिक्षा पात्र लेकर भीख मांगनी पड़ेगी। शुद्धि तक न घर में घुस सकते हैं न मनुष्य की बोल बोल सकते हैं। स्वामी निरंजन देव गिरी जैसे पंडित सुझाते हैं ये प्रायश्चित्त। काशी के जो हैं। पूरी दुनिया में काशी के पंडितों का कोई सानी नहीं। शिवाजी महाराज को भी उन्होंने क्षत्रिय बनाया।”^{१५}

अमेरिकीकरण नीति का प्रभाव और एक जन्मा बीज का आगमन ने किसानों को कितना मजबूर और हताश किया है इसका वर्णन संजीव सुंदर ढंग से किया है। बाजारवाद ने किस तरह से कृषि का बाजारीकरण किया- “रोतकारी (किसान) की एकता तोड़ने के लिए या उनके उद्धार के नाम पर भगवान जाने सन २००२ में आया था कापूस (कपास) का महाबीज बीटी कॉटन बीज, क्या तो विलायत से कि अमेरिका से! विलायती बीज है, नाज़ुक बीज, खाद चाहिए? और पानी? कीटनाशक भी चाहिए? लो! पैसे नहीं हैं, सरकार कर्ज दे रही है न! लो, और पानी? ऊपर वाला देगा न। उस साल ऊपर वाला ने दिया भी। उफ़..क्या रेशे थे। क्या फलन! पूरा खेत कापूस से बूढ़े सन्यासी की तरह उजला हो गया। वही उजास किसानों के मुँह पर हिंदी फिल्म मदर इण्डिया के गीत की तरह....दुःख भरे दिन बीते रे भैया। अब सुख लायो रे, रंग जीवन में नया लायो। लेकिन अगले साल झटका लगा। बी.टी कॉटन का महाबीज दूसरी बार फिस्स हो गया। अब फिर से बीज खरीदो, फिर से खाद, कीटनाशक, फिर से मजदूरी फिर से कर्ज, यह तो सरासर धोखा है।”^{१६}

भूमंडलीकरण के चलते किसानों की हालत इतनी बहतर हुई है कि किसान अपनी बेटी का ब्याह तक किसान परिवार में नहीं करना चाहता है। वह अपनी बेटी की शादी मजदूर से कर देता है ताकि बेटी और परिवार को दो जून का भोजन प्राप्त हो सके। “किसानों की आत्महत्या की खबरें आने लगी थीं, फिर तो महामारी की तरह फैलाया गया वह रोग, इस सूखा इलाके के इस मर्ज का कोई इलाज नहीं। जानबूझ कर बेटी विद्या का ब्याह किसान से नहीं, मजदूर परिवार में किया। चंद्रपुर के मजदूर से। पाँच एकड़ खेत दोनों बेटों की पढाई और बेटी की शादी में होम हो गये। लड़का एम.ए. पी-एच.डी कर के बैठ गया। छोटका मुम्बई जाकर फिल्म में अपनी किस्मत आजमाना चाह रहा था। सारी पढाई पढ़ने के बाद भी घूस दो तो नौकरी लगे।शेत (खेत) बेचकर पढ़ाया अब शेत बेचकर घूस दो। नौकरी लगेगी या नहीं कोई गारंटी नहीं। पढ़े-लिखे लड़के शेती करना अपमान समझते हैं। शेत से गये, बेटों से गये, आमदनी से गये, उम्र से गये। और बेटे सूदखोरों की तरह सिर पर सवार।”

प्रधानमंत्री की किसानों को बचाने के लिए किए गये घोषणा और पैकेज का जो ७२ हजार करोड़ रुपये की कर्ज माफ़ी की घोषणा होती है उस पर गाँव के लोगों की प्रतिक्रिया और सरकारी तंत्र की लूट-खसोट का पर्दाफाश संजीव करते हुए 'फाँस' उपन्यास में दिखाते हैं- "सरकार के हिसाब से कर्ज वही था जो सरकारी बैंकों से लिया था। उनको तो लाभ मिला। लेकिन बाकियों को? ज्यादातर लोगों ने तो गाँव के सूदखोरों से कर्ज लिया है। उनका खून साहूकार चूसता रहे और ७२ हजार करोड़ का आँकड़ा सरकारी दान के रूप में छापकर सरकार अपनी पीठ थपथपाती रहे। बाद में एक पैकेज और आया कि विदर्भ किसानों को गाय दी जाय-दुधारू गाय। इस हाईब्रिड गाय के चारे का चार आना किसानों को भरना था बाकी सरकार के जिम्मे। ...जरूरत मंद किसान को दो-दो गायें और जिस दिन गायें आईं...उस दिन।"

कहने का तात्पर्य किसानों का कर्ज माफ़ एक तरफ और गायें देना तथा उस गाय को अचानक-पौने दाम में किसान सेठ-साहूकारों को बेचकर पेट पालते हैं। कारण जब किसान को रोटी नहीं नसीब तो दूध कौन खरीदेगा। यह है सरकारी अनुदान का असली चेहरा।

"उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है-बिल्कुल दुस्स यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती है। उसकी सामाजिक जिम्मेदारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता, सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं, कई नेता तो जानते भी नहीं कि आलू ऊपर फलता या नीचे, खेती धान की होती है, चावल की नहीं, कि सरपत और गन्ने के पौधे में क्या फर्क है?"

इसके माध्यम से संजीव भूमंडलीकृत उदारवादी नीतियों तथा राजनीति नेताओं की कृषि संबंधी ज्ञान के साथ-साथ उनकी दलाल प्रवृत्ति पर व्यंग्य किये हैं।

निष्कर्षतः हम इस तुलनात्मक अध्ययन में प्रेमचंद, रेणु, शिवमूर्ति तथा संजीव के उपन्यासों में भारतीय किसान के करीब ८० से ९० वर्षों के जीवन यात्रा को पाते हैं। प्रेमचंद के किसान आत्महत्या नहीं करते हैं। रेणु के किसान आन्दोलन करते नज़र आते हैं। शिवमूर्ति और संजीव नई आर्थिक नीति यानी उदारीकरण के दौर में दम तोड़ते किसानों के हालत के लिए सामाजिक नियमों से अधिक सरकार की पूँजीपति हितैषी नीतियों को जिम्मेदार मानते हैं। जिसमें सामंतवाद का चेहरा जनप्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। दलाली के लिए, मुनाफे के लिए किसानों को मौत की मुँह में ढकेलने की नयी रणनीति है यह भूमंडलीकृत नीति। विकास का अविवेकपूर्ण मॉडल देश के सारे किसानों को तबाही के रास्ते पर ढकेल रहा है। सबका पेट भरने और तन ढकने वाला किसान खुद भूखा, नंगा और लाचार क्यों है? बहुत ही ज्वलंत और बुनियादी मुद्दा है। प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद पहली बार भारतीय किसान और गाँव की पूरी जिन्दगी का दर्द हमारे सामने रेणु, शिवमूर्ति और संजीव के माध्यम से भूमंडलीकृत समय में सामने आई है- "स्थानीय होकर भी वैश्विक तात्कालिन होकर भी कालातीत।"^{१०}

संदर्भ:

१. पांडेय अशोक कुमार, भूमंडलीय गाँव में किसान कथन, जून-२००७
२. नया ज्ञानोदय, जनवरी, २००८, अंक-५९
३. कथन, २००७, अप्रैल
४. प्रेमपाल शर्मा, फाँस कवर पेज, वाणी प्रकाशन, संजीव, २०१५, नई दिल्ली
५. वही, पृष्ठ-५७
६. वही पृष्ठ-३८
७. वही पृष्ठ-३८-३९
८. वही पृष्ठ-६६-६७
९. वही पृष्ठ-१११
१०. प्रेमपाल शर्मा, फाँस कवर पेज, वाणी प्रकाशन, संजीव, २०१५, नई दिल्ली

संपर्क: प्राध्यापक हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज इन्दा खड़गपुर,
पिन-७२१३०५, जिला- पश्चिम मेदिनीपुर, मो. ९४३४१५३५०१

अछुठ थयान

रमेश कुंतल मेघ

हाँ, मैं संभावनानुमान कर रहा हूँ कि आज, सोलह फरवरी २०१८ को साहित्य अकादमी में मुझे कोई भारी मुश्किल व्याख्यान ना देकर आत्ममंथन तथा अपने मनोसामाजिक विकास के कुछ तथ्य आत्मोद्घाटित करना है जिन्होंने मुझे एक ग्राह्य स्वनाम चिंतक बनाया है। इसका मूल कारण है कि कक्षा के बाद से विभिन्न कॉलेजों तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी तक का विज्ञान में संश्लिष्ट गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र में बी.एस.सी तक का छात्र होने के नाते मेरा हिंदी का भाव प्रधान भाषा तथा हिंदी साहित्य से कोई विशेष नाता नहीं रहा। किंतु मैं तो समीकरणों (इक्वेशंस) नियम सूत्रों (फॉर्मूलों), वैज्ञानिक ज्ञान पक्षों का ही अनुवर्ती रहा। एम.ए हिंदी में प्रवेश करते वक्त मुझे न तो हिंदी साहित्य और उसके कालों, आचार्य शुक्ल और अन्य महारथियों के प्रमुख मौलिक ग्रंथों का नहीं के बराबर ज्ञान था। सब कुछ का मैंने अपनी वैज्ञानिक वृत्ति तथा बुद्धि से छः माहों में आहरण किया फिर हिंदी में 'पीएच.डी. वक्त मेरे परीक्षक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सलाह दी कि 'कविता-कहानी' में लिखने वाले कोई सैकड़ों हैं कि तुममें ज्ञान तथा तर्कदर्शन की क्षमता है। अतः इसी ज्ञान धारा को शिरोधार्य करो कुछ महत्वपूर्ण प्राप्त करो। मैंने उठकर प्रणाम किया 'महापंडित आपका आदेश शिरोधार्य है।' मेरे गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एकटक अवलोकन कर रहे थे।... और सन १९५६ के बाद से मैं पुनर्नवा होकर संस्कारित हो गया। आज मैं आपके सम्मुख विनम्र, वैसा विनीत हूँ।

तो अब मैं आत्मकथनात्मक आत्माभिव्यंजना ही करूँगा, - सबसे पहले "शब्द" के 'गद्यप्ररूप'। विधा से साहित्य कला में अनुप्रवेश करने के लिए प्रतीक तथा प्रतीकों में समीकरण-सैद्धांतिक सूत्र ज्यादा अनुकूलित रहे।

मुझे सर्वप्रथम यह अहसास हुआ कि साहित्य में 'शब्द' तथा उसके विविध 'अर्थ' तो एकांगी हैं जबकि विज्ञान में आरेख, प्रतीक, चार्ट, समीकरणों में से भी पारदर्शन करते हैं। सो, शब्द में चित्र (अलंकार), ध्वनि (छंद, ताल, संगीत), मूर्ति (नाटक की अभिनीत मुद्रा), प्रकाशन (अभिधा से फंतासी आदि) और नाना सांकेतिक चिह्न, प्रतीक-ब्रीड़ा क्रोड़ आदि हैं। इस तरह मैंने जो रूपांतरण किया उसमें भाव से सूत्र (सूक्ति), मंत्र (सारल), चिह्न (गणित), पारिभाषिक कुलक (सैट्स) प्रतीक, चिंतनीय व्याख्या और वाक्य तथा निर्णय शामिल हो गये। इस तरह 'मेरी यात्रा' का विज्ञान-साहित्य-कला का जो त्रिपुर बना जिसमें अर्थ के सहवर्तन में अभिनीत एवं निष्पादित से चित्र सौंदर्य तथा मुद्रा संवाद उसके अभिन्न अंग हो गए।

अब मेरी दूसरी मुश्किल वृत्तांत (नैरेटिव) की उभरी। क्योंकि विज्ञान में कथन तथा कथात्व बहुत विरल होता है, इसलिए मैं पाठ्य के पाठों (कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि) में वृत्त-वृत्तांत, कथाई तथा कथात्व (थीम) से जुड़ा:

पात्र तथा घटनाएँ मिलकर विवरण एवं संवाद को गुँथती है और सभी एक वृत्त जैसा बनाती हैं जो वैज्ञानिक आदि मध्य अंत से मिलकर “वृत्तांत” होता है। ऐसे में यदा कदा, परोक्ष तथा अमूमन प्रकट होकर पात्र में घुल जाया करता है। अथच शैली तथा विधा का विन्यास करता मिलता है। तब आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ तथा की ‘शेखर: एक जीवनी’ ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

इससे जुड़कर प्रकृति-आच्छादन में देहभाषाओं के स्वरूपों ने मुझे चिह्न, संकेत, मुद्रा, आरेखों की संदृष्टि तथा ‘व्याख्या’ की सूझबूझ भी सौंपी। फिर ‘उसने कहा था’, ‘तीसरी कसम’, ‘लंदन की एक रात’, ‘गदल’ आदि ने मुझे कई राहों और मोड़ों में विभिन्न समीकरणों के जैसी दिशाएँ दिखाई।

खूबसूरत नैरेटिव को शोभपूर्णता के साथ घटनाओं का अतिक्रमण करना पड़ता है। विपर्ययों (आशा कम, विश्वास बहुत)। एकाग्रता या एकपात्रता में वह चेतना प्रवाह में बुनाई करती है।

अतः ‘वृत्तांत तथा व्याख्या’ कथा को सार्थक बनाते दिखे हमारी Q.E.D. की भांति। यही कहानीपन की धुरी की गतिशीलता है जो उसे शिथिल (slow) या दौड़ (race) दिखाई देने लगेगी।

अतएव एकरूपी बेहद ‘उत्तेजक गद्य’ तो गद्य के यौन (genre) को लांघते हुए आदिवासियों तथा ग्रामजनों, इतिहासों, ऐतिहासिक रोमांसों की मिथकीयता छाया के रहस्य उद्घाटित करते हैं- चमत्कृत भी करते हैं (बहुत पीछे जैसे) परंतु वे ‘प्रोटोशिव’ की तरह ‘प्राक्तन भाषा’ में जादूगर भी हो जाते हैं- मसलन ‘मुद्दों का टीला’ वाले रांगेय राघव, मैत्रेयी पुष्पा, महाश्वेता देवी आदि। प्रकारांतर से नाटकों की अभिनीत निष्पादि भाषा तो चित्र, वास्तु, मुद्रा का चमत्कार रस निष्पादित करती है।

अब दूसरे हाशिये पर काव्य की बारीकी ने मुझे बहुत

ज्यादा अक्ल सौंपी।

रचना-सिस्टम के सृजन-संसार में काव्य की कविता के अंतरंग तन्मयीभवनीय पाँच मिनट ही ‘भव्य संरूप’ होते हैं। इन्हें विटगेंस्टाइन, नोम चॉमस्की प्रभृति ‘भाषा-क्रीड़ा’, भाषा निष्पादन आदि से परिभाषित करके ऐश करते हैं। बहुत कुछ हमारी ऋषि अरुविंदो कृत ‘भावी ऋचा’ के समक्ष जाताकर। इसके समानांतर हमें काव्य में आभिजात्य तथा कविता में लोकजन का निरंतर द्वैत-द्वंद्व जारी रहा है।

फिलहाल हमारी वैज्ञानिक समझ के लिए काव्य में तहे रूपक (मेटेफर) एक व्याकरण के जैसा प्रतीत होता रहा जिसके आयाम सादृश्य, सारूप एवं साधर्म मिले। दोधुरियाँ हैं- उपमा और सहकारिता। इनके विस्तार में इतर या परे तो उत्प्रेक्षा भी है। ‘बिंदू’ तो सूत्र रूप में कविता का भाव विचार प्रवाह होता मिला।

कविता के फिल्मीय सिस्टम में बोल (कवि), लय (संगीतज्ञ), गान (गायिका, सार्जिंद) अभिनेता (कर्ता) तथा निर्देशक (डायरेक्टर) का पंचयोग होता है। कविता में परिणयपूर्ण सदियों का भी सिलसिला है, कहाँ से यहीं, यहाँ से वहाँ, इससे....उसका आदि का। उसका...। ऐसा कविता का शताब्दियों पर अभियान है जो रूपक तथा तुलना को व्याकरणता का भी अनुसंधान देता है। सो कविता कल्पना से भी आगे भाषारूपों की भी खोज करती है। वह कल्पना से आगे-आगे यथार्थ और फंतासी सूत्र में, फिर और आगे नारे, पोस्टर और सपाटबयानी में भी संलिप्त करती होती है। इसलिए नये शब्द गढ़ना, नई अभिव्यंजनाएँ संवारना, पारिभाषिकों एवं तार्किकता से इतर-उतर बढ़ना तथा शिशु, नारी से लोक को शामिल करना, अर्थात् प्राक्तन भाषा की पुनर्यात्राएँ करना आदि आज भी कविता को सार्वकालिक सार्वजनीन बनाए हैं।

जी हाँ, प्राक्तन भाषा (प्रोटो लैंग्वेज) से यही तात्पर्य है। बस मोहनजोदरो के उस पाल्थी मारे शिव तथा बाएँ में हाथ धरे एकल नाचनी को भी समझें। रहस्य खुलने लगेंगे।

उक्त संदर्भ (विजन) में प्राक्तन भाषा ही मानवीय मुद्रा भंगिमा की उद्गामी गोधूलि है। यह अनगढ़ तथा अर्द्धाभिव्यक्त दशा है। (पश्यंती- मध्यमा वृत्ति की) जिसमें

मुद्राएँ, ध्वनियाँ तथा सांकेतिक गुंजन और कुछ वाक् का सम्मिश्रण है। शायद यही भाषा 'होमोसेपियंसों' की आदी भाषा हुई थी। इसे होमो इरेक्टस बोलते रहे होंगे। आज भी नवजात शिशु होते हुए मानव की आदिभाषा दो शब्दों वाली होती है— (मामा— आ, खाना— खा)। अतएव मुद्राएँ, चीखें, आहें, कराहें, किलकारियाँ तथा कुछेक अस्फुट शब्द मिलकर प्रोटो-भाषा बनाते हैं।

निष्कर्ष में भाषा-पूर्व में उसके चार रूपों (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) में से प्रथम दो में इसका आश्रय है।

भाषा को पूर्णकाल पूर्णतुष्ट करने में आधुनिक युग में दो का मेल या द्वैत होता है।

यहाँ फेनामेना बनाम वस्तु का द्वैत-द्वंद्व है। पहला बिंब नी कहा का तो दूसरा गणित अभिसारी संख्या का विधाता है।

एस्ट्रो (भौतिक), बायो (जैविक), Bio (प्रकृत्) से संयुक्त होकर हमें कविता में कला-मानविकी युगल भी अन्य अनुशासनों का विधान करते हुए मिलते हैं, यथा—समाज-राजनीतिक, सामाजार्थिक, समाज-सांस्कृतिक, भौतिक-रासायनिक प्रतिक्रियाएँ आदि-आदि। यहाँ हमें लोक बनाम नागर (फॉक एंड अर्बन) तथा पावन बनाम इहलौकिक (सेक्रेड बनाम प्रोफेन) के आधुनिक वैज्ञानिक सांस्कृतिक कलात्मक आयामों का नतीजन चित्र (लिपि) से इतर भाषा अपने जीवाश्म (फॉसिल) नहीं छोड़ती। अथच विज्ञान

से दूरी तथा मानवीय अवचेतन मिलकर भाषा को मिथकत्व से संपृक्त किए रखते हैं। इसी वजह से गुफा मानव ने पहले पहल लिपि चित्र तथा प्राक्तन भाषा का अनगढ़ विधान किया था।

तथापि इस समय देश में युवा तथा युवापीढ़ी सक्रिय है। पूर्ववर्ती कविता के जनपद की जो विरासत है उसमें कबीर-तुलसी-निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन-मुक्तिबोध, धूमिल, कुमार विकल के अलावा विचार भावशील अज्ञेय, शमशेर, श्रीकांत, रघुवीर सहाय, गिरजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण ने दशा-दिशाएँ गढ़ी हैं। यह स्पष्ट है कि पीढ़ियों में जनपद और आभिजात्य के बीच अनवरत अंतराल है। इसी तरह जातीय परंपरा और भारतीय आधुनिकता के बीच कई अंतर्विरोध उभरते हैं।

अतः युग और युगबोध के जो सवाल जारी थे। वे सदैव जारी हैं और जारी रहेंगे। हम उन्हें आयत्त करते रहेंगे। आधुनिकतावाद में (आत्मनिर्वासन, वैयक्तिकता, परंपरा का पुनर्नियोजन), प्रगतिशील संघर्ष में, प्रयोगवाद कई रूपों में नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल, केदार, कुमार विकल।

इसी तरह आज देश में तीन-चार रहे हैं ज्वालामुखी सुगबुगार हैं— किसान, मजदूर और दलित, आदिवासी।

संपर्क: फ्लैट सं. ३ (भू-तल), स्वास्तिक विहार, फेज-III

मनसा देवी कामप्लेक्स, पंचकूला-134109 (हरियाणा), मो. 9780774224

शताब्दी-आकाशों के खर्चखी विमर्श और आगाह करता भक्तिकाल

शशिभूषण द्विवेदी

व्याकरण को अनुशासित करने वाला प्रश्नवाचक चिह्न अपनी मूल प्रकृति में लंगड़ा होता है, यानि वह पूर्ण नहीं होता। इसलिए थोड़ी देर के लिए अगर यह मान लिया जाय कि सवाल तो पूछा जाय लेकिन उसकी भाषा मासूम संवाद की भाषा हो और बिना प्रश्नचिह्न के हो, तो इक्कीसवीं शताब्दी के ये किशोर वर्ष हमारे सामने साहित्यिक-सांस्कृतिक राजनैतिक रूप से कौन-सी चिंताएँ, चुनौतियाँ या तत्जनित चित्कारों का चरम-रहस्य लेकर उपस्थित हुए हैं और आगे इन रूपाकारों से क्या निकलने वाला है जो हमारे लिए एक बिना प्रश्नचिह्न वाले भविष्य की योजना प्रस्तावित कर सके। हमारे समय के वर्तमान में जो नंगी आँखों के सामने वाला 'आज' है, उसके लिए जानबूझकर मैंने 'किशोर' शब्द का प्रयोग इन अठारह वर्षों के लिए किया है जो इस शताब्दी में से घट गए हैं। सामाजिक-शैक्षिक जीवन में किशोरवय का महत्त्व यह होता है कि इस उम्र में ज्ञान के अनुशासनों के प्रति जो लगाव पैदा होता है और जो इच्छाएँ-आकांक्षाएँ पुष्पित-पल्लवित होती हैं, वही आगे चलकर भावी मनुष्य के भविष्य का निर्माता भी साबित होती हैं। इस तथ्य के कई महत्त्वपूर्ण पक्षों में दो पक्ष यानि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' या 'मॉर्निंग शोज द डे' भी होते हैं और कई बार एक भोजपुरी कहावत 'सराहल बहुरियाऽ डोम घरे जालीऽ' भी आ जुड़ती है जिसका मासूम सा अर्थ है कि कई बार जिस बहु की या औरत की ज्यादा तारीफ होती है वह किसी भंगी के साथ भाग जाती है, यानि इच्छा के बिल्कुल विपरीत परिणाम! यह विशुद्ध लोक आख्यान है जिसमें हमारे समय की किसी बदबू यानी जातीयता आदि की कोई दुर्गंध नहीं है और इसे इसी तरह देखा जाना चाहिए। ये कहावतें मैंने अपने किशोरवय में माँ, बड़ी माँ, नानी, इया (दादी) आदि से सुनी हैं और इनका एक संबंध इस लेख से बनता दिख रहा है। तो वह क्या है?

वह संबंध यह है कि इक्कीसवीं सदी के इन किशोर वर्षों ने आगे के समय के लिए कुछ 'एजेंडे' (यह शब्द मैंने प्रो. नित्यानंद तिवारी से लिया है) तय किए हैं, और सुधी लोगों को लग रहा है कि बाकी शताब्दियाँ अगर नहीं भी, तो यह शताब्दी इन्हीं एजेंडों पर चलने वाली है और उसका बहुत सारा ताना-बाना इन्हीं कुछ शब्दों से तय होगा, जिन्हें राजनीति प्रयोग कर-करके भ्रामक बनाती रही है, याद करें! यह वही राजनीति है तो साहित्य के बिना हमेशा अभागा बनी रहती है लेकिन शब्दों की क्षति से बाज नहीं आती।

यह मामला दुनिया भर में आज जमा तो अंगद के पांव की तरह है लेकिन इसका बाल भी बांका नहीं हो पा रहा है। एक बार मनीषी-कथाकार-चिंतक स्वर्गीय निर्मल वर्मा ने कहा था कि

हर राजनीतिज्ञ हर अच्छे शब्द का प्रयोग अपनी हर गंदगी को सही साबित करने के लिए करता है। भारत में बाजार, पैसा और इससे उपजे आनुषंगिक प्रश्न और बेईमानियाँ तथा निकृष्टताएँ और विश्व स्तर पर राजनीतिशास्त्र के शब्दावली वाली 'दक्षिण-पंथी' राजनीति, जिसमें भारत शिद्दत के साथ शामिल है, आज किसी नीत्यो को पागल नहीं कर रही है जिन्होंने 'इतिहास के पागलपन' से बचने की सलाह दी थी। महान् जर्मन दार्शनिक-लेखक फ्रेडरिक नीत्यो को राजनीतिज्ञ जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में उद्धृत करते हुए कहा है कि इतिहास में कई अच्छी चीजों के साथ बहुत सारा पागलपन भी होता है जिससे हमें बचना चाहिए। नीत्यो ने सैद्धांतिक मुद्दों पर अपने कई गुरुओं को भी नहीं बख्शा था जिसमें महान् दार्शनिक हेरोत्म भी शामिल हैं। नीत्यो की दुनिया भर में चर्चित किताब 'द यूज एंड एबीयूज ऑफ हिस्ट्री' इस संदर्भ के लिए देखी जा सकती है! खैर!

लेकिन भारी-भरकम सच्चाई यह है कि हमें इतिहास के पागलपन से बचने के लिए उसके पास जाना ही पड़ेगा, क्योंकि जो बनता हुआ इतिहास हम आज देख रहे हैं या जो उसका पागलपन देख-महसूस कर रहे हैं उसके लिए साहित्य और इतिहास, और फिर इन दोनों का इतिहास (यहाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और एजे टॉयनबी के 'द स्टोरी ऑफ हिस्ट्री') को साथ-साथ और समानांतर दोनों तरह से समझने की कोशिश की जा सकती है। शुक्ल जी का 'इतिहास' अगर १८८९ में लिखे डॉ. ग्रियर्सन के हिंदी साहित्य के इतिहास "मॉडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर लिटरेचर ऑफ नॉर्दर्न हिंदुस्तान" के बाद सबसे प्रामाणिक-साहित्येतिहास है, तो टॉयनबी की दस जिल्दों वाली 'द स्टोरी, विश्व इतिहास का इतिहास' मानी जाती है। टॉयनबी लंदन विश्वविद्यालय में 'अंतर्राष्ट्रीय इतिहास' के प्राध्यापक थे और उनकी यह किताब यूरोप की बीस सबसे महान किताबों में गिनी जाती है। हमारे लिए यह मजबूरी हमेशा पैदा करता रहा है, और करता रहेगा। इसवेले लिए मध्यकाल या भक्तिकाल (संवत् १३७५-१७००) से ज्यादा सटीक कोई समय नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य के इसी कालखंड से

सामग्री लेकर राजनीति दुनिया भर में कई तरह के पागलपन पर उतारू है।

मध्यकाल में भारतवर्ष में जिन राजनीतिक परिस्थितियों में भक्तिकाल अस्तित्व में आता है, यूरोप में लगभग उन्हीं परिस्थितियों में राजा और चर्च की केन्द्रीय भूमिका है जिसके फलस्वरूप फ्रांस और स्पेन और अमेरिका में भी 'क्रांतियाँ' संभव होती हैं। इन परिवर्तनों के पीछे राजनीति और धर्म के स्वार्थी घालमेल से जनजीवन में पैदा हुई उब और उसे हवा देने में लगे साहित्यकारों, चिंतकों की भूमिका प्रमुख रही है और कई अर्थों में उसमें सामयिक और तात्त्विक साम्य रहा है। इन सबकी प्रतिध्वनि अंतर्राष्ट्रीय है। भारत में भक्तिकाल से शुरू करना ठीक होगा और शुक्ल जी का "हिंदी साहित्य का इतिहास" इसमें सबसे ज्यादा मददगार है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह उत्साह न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और राज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी उलटफेर के पीछे हिंदू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

शुक्ल जी आगे लिखते हैं, "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में भी न जाने कितने आ गए। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्य को हटाकर पीछे कर दिया।" (पृष्ठ संख्या, ५४, ५५)

तो ?

आज का हमारा समय, परिस्थितियाँ और आनुषंगिक परिस्थितियाँ इन ऊपर की बातों से कैसे जुड़ती हैं, हमारा क्या भला करती हैं या क्या बिगाड़ रही हैं या क्या बिगाड़ने पर तुली हुई हैं, इसकी पड़ताल आवश्यक है !

भक्तिकाल मूलतः और सारांशतः ‘उपासना के अधिकार’ की मांग का काल है जैसा कि इस कालखंड को समझने वाले सारे विद्वानों का मानना है। इस काल का मूल, मौलिक, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक दार्शनिक और इसीलिए साहित्यिक— क्योंकि दुनिया के ज्ञान का हर अनुशासन साहित्य में आवश्यकता और समय के अनुसार अपना रोल अदा करता है,— अवदान यह है कि इस आंदोलन में ‘उपासना के अधिकार’ को केन्द्र में ला खड़ा कर दिया और वर्चस्वी राजनीति और उसके समर्थक धर्म को एक भारी चुनौती सारे संत कवियों से मिली और साहित्य को भक्ति पहली बार सामाजिकता के रोल में आई और एक स्वर से लगभग सारे कवियों की रचनाओं में ‘मनुष्य’ और उसकी आनुषंगिक परिस्थितियाँ विमर्श के केन्द्र में आ गई। वर्चस्वी शक्तियों के समानांतर हाशिये के लोगों का एक बड़ा समूह— जिसमें हर जाति—मजहब के लोग शामिल थे, अपने अधिकारों के प्रति सजग हुआ और तुलसीदास को सिर्फ रामचरितमानस लिखकर संतोष नहीं हुआ तो वे लोगों के बीच रामलीला कर—करके उसे जन सामान्य तक लेकर गए। कबीर घुमंतू थे और उनकी बातें सीधे—सीधे लोगों के पास पहुँचती थीं और उन्होंने किसी के भी नकारात्मक अंश को बख्शा नहीं। दादू आदि सबने करीब—करीब यही भूमिका निभाई और भक्ति का समाजीकरण एक नया समाजशास्त्र लेकर उपस्थित हुआ। सामान्य जन को भक्त कवियों ने आज की शब्दावली में उनके ‘से’ (say) यानि उनकी भी आवाज से परीचित कराया। समाज में इस बात ने एक सामाजिक दार्शनिक मान्यता हासिल की कि उनकी आवाज भी कोई है और अगर सत्ता ने उन्हें नजरअंदाज किया तो उसकी खैर नहीं होगी और न समाज में उदात्त का कोई अर्थ होगा।

यह आज का मौजू विषय है और इस पर बात करने का समय इसलिए भी आ गया है कि हम जिस राजनीतिक

समय में जी रहे हैं और धर्म को जिस तरह एक खास तरह की वर्चस्वी—राजनीति ने अपनी लपेट में ले लिया है, उस पर बात करने को हरचंद आवश्यकता है नहीं तो फिर कई अंधेरे हमारी प्रतीक्षा में हैं। हम इस घालमेली रिश्ते को न सिर्फ देख रहे हैं बल्कि इसके शिकार भी आज के सही आदमी को होना पड़ रहा है। एक और बात की सीख भक्ति आंदोलन हमें देता है: यानि ऐसी परिस्थितियाँ आ जाने पर हमें यानि समाज को इससे कैसे निपटना चाहिए। यह हमारे आज से जुड़ा और भविष्य के समयों से जुड़ा एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

भक्तिकाल के सारे कवि करीब चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी (१३७५-१७००) की देन हैं। इस पूरे लगभग चार सौ वर्षों के कालखंड में राजनीति और धर्म अपनी पराकाष्ठा के शिखर पर थे और राजनीति अपने लोलुप और आतातायी चरित्र के कारण एक धर्मस्थान को उजाड़ रही थी और अपने नए ‘स्थल’ बना रही थी। मतलब राजनीति ने धर्म की आड़ में या उसके सहारे सारी चीजों को अपने वश में कर लिया था, या उस कोशिश में थी। कवियों के जीवन का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि इस काल के हमारे दो कवि तुलसीदास (१५५४-१६८०) और मीरा (१५७३-१६०३) सामाजिक स्तर पर भी अत्यंत सताए गए लोग थे। तुलसीदास को बचपन में ही भीख मांगकर गुजारा करना पड़ा था और राजनीति (यानि मीरा के पति राणा) मीरा को विष का प्याला तक दे रही थी। बनारस— जहाँ के ‘पांडित्य’ से ज्यादा वहाँ का ‘चांडित्य’ (याद कीजिए उस समय की राजनीति और धर्म के घालमेल या गंदे मेल को जब यहाँ राजनीति के प्रतीक हर्षिचंद्र को भी चांडाल का धर्म निभाना पड़ा था) कुख्यात रहा है— तुलसीदास को मस्जिदों की सीढ़ियों पर सोने को इसलिए मजबूर कर रहा था क्योंकि बनारस के पंडित उनके दुश्मन बने हुए थे। उन्हें बनारस से भागकर चित्रकूट में मानस (१६३१) में दो वर्ष सात महीने में पूरा करना पड़ा। तुलसी और मीरा इस बात के प्रमाण हैं कि उपासना का अधिकार और उसे सामाजिकता से जोड़ने का उद्यम हमारे दो महत्तर लोगों को कितना महंगा पड़ रहा था। थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि तुलसीदास

अपने मित्र और अकबर के दरबारी कवि रहीम खानखाना की बात मानकर अगर अकबर से मिलने गये होते (बिना कुंभनदास की यह पंक्ति बोले कि 'संतन को कहा सीकरी सों काम') और मीरा ने पति की बात मानकर अगर कृष्ण-भक्ति से किनारा कर लिया होता, तो क्या इन्हें इतने बुरे दिन देखने पड़ते? या क्या मीरा औरत नहीं होती तो वही सब उन्हें सहना पड़ता जो उन्होंने सहा और मात्र ३० वर्ष की उम्र में अपने घर-परिवार से दूर द्वारिका में चल बसी? इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि उस समय महिलाओं की स्थिति क्या थी? क्या उनके कोई अधिकार थे? और अगर थे भी तो क्या राजनीति इसकी इजाजत उन्हें दे रही थी कि वे उसका उपयोग करें? निष्कर्ष यह निकलता है कि तुलसीदास और मीरा या बाद वाले रैदास क्या उसी सामाजिक-हाशिये के प्रतीक नहीं थे, जो अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति सजग हो रहा था और राजनीति जिसका हर चंद विरोध करने पर आमादा थी? भक्तिकाल इस संदर्भ के साथ और इसी अर्थ में एक शाश्वत और स्वतःस्फूर्त मानसिकता के उभार का काल था, जो अपनी प्राथमिकताएँ तय करना चाहता था। लेकिन जिसे धर्म और राजनीति अपनी-अपनी स्वार्थी और गंदी मानसिकता की कसौटी पर कस कर, तर्क और उदात्तता को तिलांजलि देकर वैसे ही तय कर रहे थे जैसा लगभग उसी समय या थोड़ा आगे पीछे यूरोप में चर्च और राजशाही का नालायक घालमेल कर रहा था।

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी, यानि १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति या १७९० की अमेरिकी क्रांति के इतिहास की आत्मा इस बात की गवाह है कि उस मसय स्वतंत्रता, स्वायत्तता और मौलिक अधिकार की मांग रूसो, दीरो और वाल्टेयर की रचनाएँ कर रही थीं और उससे क्रांति का एक बीज बोया जा रहा था। अब हमारे भक्त कवियों की उपासना के अधिकार या दूसरे अधिकारों की मांग और यूरोप के लोगों-लेखकों द्वारा ऐसी ही मांगे क्या एक तरह की नहीं कही जा सकती?

यूरोप के देशों में और खासतौर से फ्रांस, आस्ट्रिया आदि मध्य यूरोप के देशों में- आलम यह था कि एक सादे या छपे हुए कागज पर, किसी का भी नाम लिखकर और

उसके नाम के सामने कोई भी इल्जाम लगाकर या बिना कोई इल्जाम लगाए भी पादरी किसी को भी गिरफ्तार कर सकता था, या मुँहमांगी रकम लेकर छोड़ सकता था। और यह सारा काम राज, या राजनीति, यानि राजा-रानी के अनुमोदन से होता था। यह यूरोप के करीब-करीब सभी देशों में अंधेर नगरी के आलम का दृश्य था, लेकिन क्रांति फ्रांस में इसलिए हुई कि वहाँ लोग अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गए थे और रानी मेरी रून्त्वायनेत 'रोटी' के बदले लोगों को 'केक' देने की बात करके अपनी मूर्खता को इतिहास बना रही थी, उसे लोगों ने सार्वजनिक रूप से गुलेटिन पर चढ़ाकर चीर डाला! सामान्य देखिए कि मेरी रोटी और केक के अंतर से अनभिज्ञ थी और हमारे एक प्रधानमंत्रों को 'स्वतंत्रता' और 'गणतंत्र' दिवस का फर्क नहीं पता था!

राजनीति और धर्म के इस घालमेल और उसमें साहित्य के हस्तक्षेप को अगर और साफ करके समझना हो तो बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में यूरोप और उसी समय के हिंदी साहित्य को सामने रखा जा सकता है। यूरोप में जिस समय यह दौर चल रहा था, उसी समय भारतेंदु 'अंधेर नगरी' और 'भारत-दुर्दशा' लिखकर बीसवीं शताब्दी के प्रेमचंद के 'सेवासदन' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों तथा 'नमक का दारोगा' जैसी असंख्य कहानियों के लिए रास्ता साफ कर रहे थे। यह अनायास नहीं है कि आज कहा जाता है कि आजादी के पहले भारत को अगर समझना हो तो आदमी प्रेमचंद को पढ़ ले और आजादी के बाद के भारत को समझना हो तो हरिशंकर परसाई, शरद जोशी और अभी ज्ञान चतुर्वेदी के व्यंग्य पढ़ ले। इसी प्रसंग को, इसी कालखंड में अगर समझना हो तो प्रेमचंद के 'सोजे वतन' पर लगी हुई पाबंदी को आयरिश मूल के अंग्रेजी लेखक जेम्स ज्वाएस की कालजयी कृति 'ए पोर्ट्रेट ऑफ द आर्टिस्ट एज ए यंग मैन' (A portrait of the artist as a young man) के साथ रखकर समझा जा सकता है। जेम्स ज्वाएस (१८८२-१९४१) का यह उपन्यास जो लगभग आत्म कथात्मक है, ईसाई धर्म पर अपने कटु रूख के कारण डबलिन के पादरियों की आँख की किरकिरी बन गया था। ज्वाँएस को इस किताब के

लिखने के दौरान ही पादरियों ने जला डालने की योजना बना ली थी। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि यूरोप में आयरलैंड आज भी ऐसी जगह है जहाँ चर्च का आतंक सबसे ज्यादा है। डबलिन के ही तत्कालीन लेखकों डब्ल्यू बी. इट्स और सेमुअल बैकेट को जब यह पता चला कि इस किताब के कारण ज्वाएस की जान को खतरा पैदा हो गया है तो इन लोगों ने इट्स के छोटे भाई एन बी इट्स की मदद से (एन बी जाने-माने चित्रकार थे) ज्वाएस को रातोंरात पहले लंदन और फिर पानी के जहाज से पेरिस भेजा; जो उस समय सभी देश-निकाला लेखकों का शरणस्थल था। पेरिस में ही यह किताब १९१४-१५ में 'द इगोइस्ट' (The Egoist) नामक पत्रिका में धारावाहिक छपनी शुरू हुई और दुनिया भर में चर्चित हुई। ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद का देहांत १९३६ में होता है और ज्वाएस का १९४१ में! इस किताब में पादरियों को खलने वाली बात सिर्फ यही थी कि इसका एक पात्र कहता है कि सब कुछ करेंगे तो ईसामसीह; लेकिन उनका 'निर्णय' पादरी करेगा, यानि मसीह जो भी करेंगे पादरी के आदेश से करेंगे। बात बिल्कुल साफ है कि पादरी ही आयरलैंड में सर्वेसर्वा था, जैसा वह फ्रांस में था! मतलब यह कि पादरी की इच्छा ही मसीह यानि ईश्वर की इच्छा है। जिसका अनुमोदन राजनीति कर रही थी। स्मरणीय है कि ज्वाएस और बैकेट- जो बाद में यूरोप में 'एब्सर्ड ड्रामा' के पुरोधा नाटककार माने गए, पेरिस में ही बस गए थे। डब्ल्यू बी. इट्स को १९२३ में और बैकेट को १९६९ में नोबेल पुरस्कार मिला। बैकेट बहुत दिनों तक ज्वाएस के निजी-सचिव जवानी के दिनों में रहे। स्मरणीय है कि अपने समय में धर्म की राजनीति की सबसे बड़ी शिकार तसलीमा नसरिन भी कुछ समय निर्वासन में पेरिस में रही हैं। मतलब यह कि जब-जब धर्म और राजनीति का नापाक स्वार्थी घालमेल हुआ है, जैसा हम 'आज' अपने यहाँ एक पार्टी विशेष के शासन में देख रहे हैं, तब-तब सामाजिक ढांचा तो चरमराया ही, उसने क्रांतियों के जरिये (जिनके पीछे साहित्य की ताकत थी) नएन को भी जन्म दिया। भक्ति आंदोलन इसी संदर्भ में आज भी मील का पत्थर इसलिए भी बना हुआ है क्योंकि उसने जो नींव रखी

वह हमें सावधान हमारे उस समय में करती है जब 'जय श्री राम' कई परेशानियों का कारण बन रहा है। भक्तिकाल हमें इन सबसे सावधान करता है और हमें बीसवीं शताब्दी में १९१७ की रूसी क्रांति की याद दिलाता है जिसके सौ वर्ष पूरे हो गए। याद रखने की बात है कि यह क्रांति भी यूरोप के तत्कालीन सबसे गरीब देश रूस में हुई थी; जहाँ जार की राजनीति कहर बरपा रही थी। इस क्रांति के बाद जो क्रम या 'आर्डर' समाज में आया, उसने यानि कम्युनिज्म ने हाशिये के आदमी को बीच के आदमी का दर्जा दिया।

यानि वही काम रूस में थोड़े आधुनिक अंदाज में इसलिए हुआ क्योंकि १९१७ आते-आते समय, राजनीति और धर्म के रूपक या मेटॉफर बदल गये थे। धर्म और राजनीति के घालमेल को १९३० तक आते-आते इसलिए नंगा होना पड़ा; क्योंकि १९३० से 'आधुनिकता' का विमर्श शुरू हो गया और तर्क की महत्ता बढ़ गई। एक सर्वहारा वर्ग उठ खड़ा हुआ लेकिन राजनीति एक बार फिर ठगनी साबित हुई। संदर्भ तो यहाँ भी सर्वहारा का ही रहा लेकिन राजनीति ने 'माईनारिटी' और 'मेजोरिटी' शब्दों को घिसा-घसा कर जो अपने पक्ष में करना शुरू किया तो घपला फिर पैदा हो गया। हम जैसे हों समाजों को या सभ्यताओं को (कैटेल्वी दोनों को एक ही मानते हैं) माईनारिटी और मेजोरिटी में यानि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की श्रेणी में रखने लगते हैं, तभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन दोनों का 'धर्म' फन निकाल कर खड़ा हो जाता है। 'सर्वहारा' या समाजवादी शासन में 'माईनारिटी' की गुहार दुनिया भर में इतनी पक्षपाती ढंग से प्रबल हुई कि इसके प्रक्षेपण भारत जैसे विशाल और प्रगतिगामी देश पर आने ही थे। सो आए और यहां की राजनीति ने अल्पसंख्यक की आड़ में अपने को बचाने की और बने रहने की जो चाल चली वह १९४७ से १९९२ तक पकती रही और उसकी प्रतिक्रिया को जब एक उन्मादी 'मेजोरिटी' की राजनीति ने पकड़ लिया तो बाबरी-विध्वंस के साथ-साथ बहुत कुछ हुआ। इसमें २००२ का गुजरात भी अगर शामिल कर लिया जाय तो २०१४ में एक उन्माद को मिला राजनीतिक प्रचंड बहुमत एकदम साफ हो जाता है। २०१४ में एक पार्टी का शासन पूरी तरह माईनारिटी

मेजोरिटी से निकली प्रतिक्रिया का फलित था और इसने हमें ऐसा ग्रसा कि हमें मध्यकाल की याद आना स्वाभाविक हो गया। अब देश में २९ में से २१ राज्यों में एक उन्माद के शासन को देखने वाले इसे पश्चिम बंगाल के सिंगूर और नंदीग्राम के समय की राजनीति के प्रक्षेपण के रूप में देखते हैं और दोनों पर लानत-सलामत भेजते हैं। इसी में एक पार्टी के साथ एक विश्वविद्यालय को आईडेंटिफाई करने की गंदगी भी अगर जोड़ दी जाय; और वहां से निकले नारे “भारत तेरे टुकड़े होंगे” की जड़ को पहचान लिया जाय तो “बच्चा-बच्चा राम का” वाले मुहावरे का फरूखावादी खेल स्पष्ट हो जाता है और यह भी समझ में आ जाता है कि एक प्रदेश में पाँच-पाँच साधु संत कैसे राज्यमंत्री का दर्जा पा जाते हैं।

आज ये सभी गंदगियाँ एक दूसरे पर कीचड़ उछालकर अपनी कमीज को ज्यादा साफ बताने में लगी हुई हैं तो लेखकों-कवियों को मध्यकाल या भक्तिकाल के अलावा अपनी बात के लिए कोई शरणस्थली नहीं मिल रही। एक के उठान में दूसरे के योगदान का यह विमर्श आज के समय की आवश्यकता है और राजनीति और धर्म के हमाम में ये दोनों अपना अपना नंगापन समाज पर थोपने में लगे हैं। समझ में आना चाहिए कि अगर एक सिंगूर और नंदीग्राम के कारण मुँह दिखाने लायक नहीं रहा तो दूसरा कहाँ रहेगा। कवियों-लेखकों, तुलसीदासों-मीराओं, रैदासों पर एक मशाल का दायित्व है और भक्तिकाल ही वह रोशनी है। भक्तिकाल ने हमें बहुत कुछ दिया है और बहुत कुछ दे रहा है। क्योंकि वह ‘लोगों’ का काल है। दुनिया जानती है कि लोगों के काल और राजनीति के काल में

हमेशा छत्तीस का आंकड़ा रहा है। भक्तिकाल आज भी सिर्फ साहित्य में ही मील का पत्थर नहीं है, वह सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक व्यक्ति के समूचे मानवीय उदात्त का भी मील का पत्थर है।

वह सारे विशेषणों से ऊपर की शब्दावली का हकदार इसलिए भी है कि वह हर ‘समय’ के मनुष्य का एक सजग पहरा है। यही उसका शाश्वत महत्त्व है। राजनीति तो रामायण और महाभारत के समय से आज तक नहीं बदली, तो अब क्या बदलेगी। सिर्फ उसका समय, पात्र और रूपक बदलते रहे हैं। उसका मूल स्वरूप ही आज या तब ‘रोम ऑफ द पासिबुल’ (या संभव के खेल) और “सर्वाइभल ऑफ द फिटेस्ट” से तय होता रहा है। सजग समाज को रहना है। धर्म राजनीति की शह पाकर उच्छृंखल और तानाशाह होता है। इस सच्चाई को भक्तिकाल, आधुनिक यूरोपीय और भारतीय इतिहास, साहित्येतिहास तथा हमारे आज के कई दबाव साबित करते हैं और आगाह भी। सत्ताधारियों के लिए खतरे की घंटियों या पगली घंटी का कोई समय नहीं होता। राजनीति और इतिहास के नीत्से वाले ‘पागलपन’ का लेखा-जोखा हर समय के पास होता है। मुश्किल सिर्फ इतनी है कि गलत परंपराएँ समाप्त होते-होते भी समाज का काफी नुकसान कर चुकी होती हैं। इसकी भरपाई सही मनुष्य को करनी पड़ती है। भक्तिकाल आज इसीलिए लेखकों-कवियों की शरणास्थली बना है क्योंकि हर समय को देखने की सही आँख देता है। वह सिर्फ किताबी ज्ञान का संकुचित सन्निपात नहीं हैं!! सोचना लोगों को है।

संपर्क: ०९७७५९३८२१४

दो जीवन मूल्यों के बीच 'वापसी' रविभूषण

‘नई कहानी’ के शोर और हंगामे के पहले से उषा प्रियंवदा (२४ दिसम्बर १९३१) ने कहानी लिखना आरंभ किया था। ‘वापसी’ कहानी के प्रकाशन ‘नई कहानियाँ’ अगस्त १९६० के पूर्व उनकी एक दर्जन से अधिक कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। ‘आश्रिता’ (सरिता, मार्च १९५२) से उनका कहानी लेखन आरंभ हुआ था। और ‘वापसी’ से वे प्रमुख नये कहानीकारों में शामिल हो गयी। आखिर इस कहानी में ऐसा क्या है, जिससे उन्हें आकाश छूने वाली लोकप्रियता हासिल हुई? ‘वापसी’ कहानी पर अब तक जितने विचार हुए हैं उनमें से अभी तक शहरी जीवन और समाज में पचास के दशक में हो रहे कई बदलावों के साथ कहानी पर अधिक विचार नहीं हुआ है।

नामवर सिंह ने कहानी प्रकाशन के लगभग २ वर्ष बाद नई कहानियाँ के हाशिये स्तंभ के अंतर्गत विस्तार पूर्वक अपने दो लेखों ‘कहानी: अच्छी और नई’ एवं ‘सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में’ इस कहानी पर विचार किया था। कहानी में बाह्य पक्ष के स्थान पर आंतरिक पक्ष कहीं अधिक प्रमुख है। “कहानी लिखते समय मेरे मन में एक प्राणी का अकेलापन और परिवार में अपनी उचित जगह न पाने की पीड़ा ही थी, पर उसमें कल्पना और स्मृति का ऐसा मिश्रण था कि कोई भी उन्हें पहचान न सका... मेरी अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और बाह्यजगत गजाधर बाबू के चरित्र में इतने घुल मिल गये थे कि वह मेरे संबंधी न रहकर एक नये, अपने में ही संपूर्ण प्राणी बन गये थे।” (संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन २००६)

‘वापसी’ कहानी में गजाधर बाबू कथानायक हैं। ३५ साल तक रेलवे की नौकरी करने के बाद वे सेवानिवृत्त होते हैं। रिटायर होने के पहले और बाद के जीवन में कोई संगति नहीं है। रेलवे क्वार्टर में वे कई वर्ष तक रहे थे। “इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था।” उन्होंने अपनी चिंता न कर बच्चों के भविष्य की चिंता की थी। पत्नी बच्चों के साथ शहर में लगने लगी थी। कुछ ही समय तक उनका परिवार उनके साथ रहा था। जब परिवार साथ था तो ड्यूटी से लौटकर पत्नी से हँसते-बोलते, बच्चों से खेलते, उन्हें दुलारते, पारिवारिक चिंता और दायित्व गजाधर बाबू के लिए अधिक बड़ा था। वे

मध्यवर्गीय परिवार से हैं। “सांसारिक दृष्टि से उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में मकान बनवा लिया था। बड़े लड़के अमर और लड़की कांति की शादियाँ कर दी थीं। दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे।” ये दो बच्चे बसंती और नरेंद्र हैं। शहर में गजाधर बाबू की पत्नी अपने बेटे अमर, उसकी पत्नी और बसंती, नरेन्द्र के साथ रहती थी। कुल पांच व्यक्तियों का यह परिवार है, जिसमें रिटायरमेंट के बाद गजाधर बाबू का आगमन होता है। रेलवे क्वार्टर में अकेले रहते हुए उन्होंने बाद के समय की कल्पना की थी। जब वे अपने परिवार के साथ रहेंगे। “इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे।”

स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में घर-परिवार, संबंध में जो बदलाव आ रहे थे, उसकी गहरी पहचान कई नये कहानीकारों को थी। ‘वापसी’ के प्रकाशन के कई वर्ष पहले भीष्म साहनी ने ‘चीफ की दावत’ कहानी लिखी थी, जिसमें मि. शामनाथ का अपनी माँ के साथ व्यवहार पहले के बेटों की तरह नहीं था। ‘वापसी’ कहानी में गजाधर बाबू के साथ उनकी पत्नी और संतानों का व्यवहार भिन्न है। आत्मीयता और सहजता का हास है और व्यावहारिकता का प्रमुख स्वतंत्र भारत में जिस नई पूँजी- औद्योगिक पूँजी का विकास हो रहा था, उसमें संबंधों को पूर्ववत नहीं रहने दिया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना १९५७ के बाद समाज में विशेषतः शहरों में आ रहे बदलावों को, संबंधों में हो रहे परिवर्तनों को देखना-समझना आवश्यक है। नई कहानी में उषा प्रियंवदा ने परिवार में पति, पिता की भूमिका और स्थिति की पहचान की। ‘वापसी’ कहानी में पत्नी को पति की, बेटे-बेटी को पिता की और बहू को सास-ससुर की चिंता नहीं है। स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में परिवार का ही नहीं ‘घर’ और ‘देश’ का अर्थ भी बदलने लगा था। मुक्तिबोध ने यँ ही नहीं लिखा था “मर गया देश अरे! जीवित रह गये तुम”

रेलवे क्वार्टर में गजाधर बाबू की कहीं अधिक चिंता गनेशी को थी। घर आने पर वे बेटी बिट्टो द्वारा बनायी गई फीकी चाय पीकर गनेशी को याद करते हैं। “पैसेंजर आने से पहले रोज सुबह वह गरम पूरियाँ और जलेबी बनाया

करता था... चाय भी कितनी बढ़िया, बिल्कुल उसकी पसंद की- तीन चम्मच चीनी, काँच के गिलास में ऊपर गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, मगर गनेशी की चाय में कभी देर नहीं होती।” और यहाँ अपने घर में आने के बाद उन्होंने बेटी से कहा, “चाय मुझे भी देना बसंती।” कहानी में गनेशी और उसकी ‘घरवाली’ का उनसे व्यवहार आत्मीय है। गनेशी की ‘घरवाली’ उनकी पसंद के कुछ ‘बेसन के लड्डू’ जाते समय रख देती है। उन्हें एक ओर घर जाने की खुशी है तो दूसरी ओर जाते समय ‘विषाद का अनुभव’ भी। कहानी में इस ‘परिचित स्नेह, आदरमय, सहज संसार से’ उनके नाता के टूटने का उल्लेख अकारज नहीं है। अपने घर में वे इस ‘स्नेह आदरमय, सहज संसार से’ वंचित हो जाते हैं। गनेशी की आर्थिक दशा सामान्य है। उसकी बेटी कुंवारी है। वह गजाधर बाबू से ‘कभी-कभी हमलोगों की भी खबर लेते रहने’ का आग्रह करता है। गजाधर बाबू उसकी तुलना में अधिक संपन्न है। बड़ा बेटा अमर नौकरी करता है। क्या स्नेह आदर और सहजता आर्थिक तरक्की के साथ सुख-सुविधाओं के साथ समाप्त हो जाती है ?

गजाधर बाबू को पत्नी का स्नेह पहले की तरह प्राप्त नहीं होता। पहले और बाद का समय भिन्न है, जिसका उम्र और स्थान से कम संबंध है। रिटायरमेंट के बाद गजाधर बाबू के अपने ‘घर’ में आगमन को उनके पारिवारिक सदस्य सहजता और आत्मीयता से नहीं ग्रहण करते। कहानी सहजता और आत्मीयता के हास को रेखांकित करती है। “गजाधर बाबू को देखते ही वहाँ एक सकपकाहट भरा सन्नाटा छा गया। बहू ने झट सर ढाँप लिया और नरेन्द्र ने बैठकर चाय का प्याला ओठों से लगा लिया।” गजाधर बाबू के स्थायी रूप से आकर रहने की प्रसन्नता किसी को नहीं है। कहानीकार ने घर, संबंध, आत्मीयता सबमें हो रहे उस बदलाव को चिह्नित किया है जो, उस समय शहरी मध्यवर्ग में बहुत कम व्याप्त था। गजाधर बाबू चाहकर भी बच्चों के ‘मनोविनोद’ में शामिल नहीं हो पाते। वे अपने घर में ‘बैठकर चाय और नाश्ते का इंतजार’ करते हैं। बहू और बेटी बसंती में से कोई भी तुरंत उनके लिए चाय और नाश्ते का प्रबंध नहीं करती। पत्नी उन्हें अकेले बैठे देखकर

पूछती है-“अरे, आप अकेले बैठे हैं वे सब कहाँ गये?” गजाधर बाबू के लिए उनके पारिवारिक सदस्य ‘वे’ हैं। संबंधों में आई इस दूरी का कारण क्या है?

पचास के दशक में ही यह अहसास तीव्र हो रहा था कि यह देश उस अर्थ में अपना नहीं रहा, जिसकी बहुसंख्यक जनता ने कल्पना की थी। गजाधर बाबू ने भी रिटायरमेंट के बाद अपने घर में अपने लोगों के बीच जिस आत्मीय माहौल में रहने की कल्पना की थी, वह साकार नहीं हुई। उनका घर तीन कमरों का था, जिसमें “ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर, बीच में गजाधर बाबू के लिए एक पतली-सी चारपाई डाल दी गयी।” तीन कमरों के इस घर में एक कमरा बैठक का है, दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू का है और तीसरा पत्नी के साथ का वह कमरा है जो सामान से भरा पड़ा है। गजाधर बाबू के आने के पहले बैठक वाले कमरे में “अमर की ससुराल से आयी बेंत की तीन कुर्सियों का सेट पड़ा था। कुर्सियों पर नीली गद्दियाँ और बहू के हाथों के कढ़े हुए कुशन थे।” कहानी में इसे ड्राइंग रूम न कहकर ‘बैठक’ कहा गया है। घर के मुखिया के लिए घर में ही कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है। समय बदल रहा है और इस बदलते समय ने मध्यवर्ग का मानस बदल डाला है। भारत का विकसित होता हुआ ये मध्यवर्ग अपने पुराने मूल्यों से स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में कटने लगा था, जिसकी पहचान कहानीकार ने कर ली है। गजाधर बाबू अपनी परिवार में खप नहीं पाते। वे अकेले पड़ जाते हैं।

इस कहानी पर ‘विस्तृत चर्चा’ करने वालों ने ‘कहानी में संयुक्त परिवार की टूटती हुई परंपरा का संकेत’ देखा है, जो सही नहीं है। ‘वापसी’ संयुक्त परिवार के टूटने की कहानी न होकर स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में पूर्व मूल्यों के विघटित होने की कहानी है, जिसमें उससे जुड़ा व्यक्ति अकेला होने को विवश और अभिशप्त है। परिस्थितियाँ उस समय बदल रही थी। पूँजी उन मूल्यों को बदल रहे थे जिनसे मनुष्य का जीवन, संबंध और परिवार जुड़ा हुआ

था। परिवार की धारणा, अवधारणा में धीमे रूप में ही सही हो रहे इस बदलाव की पहचान कहानीकार की दूरगामी दृष्टि से जुड़ी है। उस समय ‘कंटेंट’ बदल रहा था और इसे कहानी का कंटेंट बनाना एक बड़ी बात थी। भारत ‘आधुनिक’ बन रहा था। ‘वापसी’ नेहरूकालीन भारत में लिखी गई कहानी है, जिसमें हम दिखावटी-बनावटी और कृत्रिम ‘आधुनिकता’ को भी लक्षित कर सकते हैं। इस आधुनिकता में भावुकता, सहृदयता और संवेदनशीलता के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ ‘चारपाई’ के लिए कोई स्थायी जगह नहीं है। गजाधर बाबू का अकेलापन एक भावुक और संवेदनशील व्यक्ति का अकेलापन है। पत्नी समय के अनुसार ‘एडजस्ट’ कर गयी है। गजाधर बाबू समय के साथ अपने को ‘एडजस्ट’ नहीं कर सके। उनका सोच-विचार पुराना है। वे पत्नी से कहते हैं- “सिर्फ रुपये से ही इंसान अमीर नहीं होता” स्वतंत्र भारत में इंसान की पहचान रुपये से होने लग गयी थी। वे जिस गहरे अकेलेपन का अनुभव करते हैं उसे उनकी पत्नी भी नहीं समझ पाती। गजाधर बाबू पत्नी में ‘सहानुभूति का पूर्ण अभाव’ देखते हैं जो उन्हें खटकता है। पत्नी की ओर उनका ‘आहत, विस्मृत दृष्टि से देखना’ कहानी को और अधिक अर्थपूर्ण बनाता है। कहानी में मौन संकेत से कहानी का अर्थ कहीं अधिक सघन हो जाता है।

सामान्य मध्यवर्ग की श्रम विमुखता कहानी में देखी जा सकती है। परिवार का काम सभी सदस्य मिल-जुल कर नहीं करते। चौके में चारों ओर जूठा बर्तन फैला रहता है। पत्नी कहती है, “किसी से इतना भी नहीं होता कि खाये-पिये बर्तन ही समेट दें।” सब नौकर पर आश्रित हैं। वह नौकर को ‘बाजार’ भेजती है। कहानी में केवल एक बार ‘बाजार’ का जिक्र है। गजाधर बाबू की पत्नी का हाथ कोई नहीं बँटाता, “नौकर से किसी बात की मदद नहीं...कोई जरा हाथ भी नहीं बँटाता।” गजाधर बाबू के आगमन के बाद परिवार में तीन पुरुष और तीन स्त्री सदस्य हैं। बहू परिवार में कोई काम नहीं करती। काम सास करती है। बहू ‘पड़ी रहती है’। बेटी बसंती कॉलेज में पढ़ रही है। वह अपनी माँ की भी नहीं सुनती। सबके लिए ‘व्यक्तिगत स्वतंत्रता’, अपनी इच्छा बड़ी है। ‘स्व’ महत्वपूर्ण है,

‘अन्य’ या ‘पर’ नहीं। बेटी को माँ की और बहू को सास की फिक्र नहीं। सम्मान की बात दूर रही। फिक्र पति गजाधर बाबू को है। वे बेटी को समझाते हैं, “यह भी तो सोचो कि तुम्हारी अम्मा के शरीर में अब वह ताकत नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी है दोनों को मिलकर काम में हाथ बँटाना चाहिए।” विडंबना यह है कि गजाधर बाबू को पत्नी की चिंता है, पर पत्नी को उनकी चिंता नहीं है। समय के अनुसार पत्नी बदल चुकी है। गजाधर बाबू को लगता है कि “वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गयी, उसकी जगह आज जो स्त्री है वह उनके मन और प्राणों के लिए नितांत अपरिचिता है।” बड़ा बेटा अमर नौकरी करता है और छोटा बेटा नरेंद्र पढ़ाई कर रहा है। इन दोनों बेटों का पिता से आत्मीय लगाव नहीं है। अमर अलग रहने की सोचता है। पिता की उपस्थिति और मौजूदगी उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक है। “अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत-सी थीं। उनका कहना था कि पिताजी हरदम बैठक में ही पड़े रहते हैं। कोई आ जाये तो कहीं बैठाने की जगह तक नहीं।” गजाधर बाबू के आगमन के पहले “अमर घर का मालिक बनकर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक नहीं थी। अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड़्डा जमा रहता था और अंदर से चाय और नाश्ता जाता रहता था। बसंती को भी वहीं अच्छा लगता था।” गजाधर बाबू के आने के बाद पहले की तरह अमर घर का मालिक नहीं रहा। बहू की स्वतंत्रता बाधित हुई। बेटी बसंती भी स्वतंत्र न रही। जीवन बदल रहा है। गजाधर बाबू इस बदले जीवन को स्वीकार नहीं कर पाते। संतानें अपनी स्वतंत्रता के छिन जाने से दुखी हैं। कहानी में इस स्थिति में गजाधर बाबू अपने पुराने दिनों को याद करते हैं। पहले अपना बड़ा-सा खुला हुआ क्वार्टर और आज अपने घर में उनकी स्थिति-उपस्थिति। “वह जीवन अब उन्हें एक खोयी हुई निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह जिंदगी द्वारा ठगे गये हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा उनमें से उन्हें एक बूंद भी ना मिली।” ‘वापसी’ का यह अकेलापन न तो किसी व्यक्ति का अकेलापन है और न साठ के दशक में ‘अकेलेपन’ की जो व्याख्या यूरोपीय अकेलेपन से की जाती थी वह अकेलापन है। घर, परिवार, संबंध पचास

और साठ के दशक में अधिक नहीं बदले थे। पर धीमी गति से वह बदलाव की प्रक्रिया आरंभ हो रही थी। ‘वापसी’ कहानी का महत्व उसे रचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने में है। उसी समय नामवर सिंह ने ‘वापसी’ के अकेलेपन को ‘अभारतीय’ कहने की आलोचना की थी और इसे ‘अवास्तविक’ नहीं माना था। ‘वापसी’ के नायक का अकेलापन आज बहुत व्यापक नहीं है किंतु इतने से ही यह अवास्तविक नहीं हो जाता, न किसी कहानी के लिए अग्राह्य ही...। ...अग्रदर्शी लेखकों का कृतित्व कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।... ‘वापसी’ का अकेलापन सारे समाज का भले ही न हो किंतु वह सामाजिक तो है ही।”

‘वापसी’ में परिवार के बदलते ढांचे और स्वरूप का चित्र है। कुंवारी बेटी बसंती जान-बूझकर ऐसा खाना बनाती है कि “कौर न निगला जा सके।” अमर को पिता की दखलअंदाजी नहीं सुहाती। गजाधर बाबू घर के रहन सहन और खर्च को अपनी हैसियत से ज्यादा समझते हैं। नौकर का खर्च उन्हें बेकार लगता है। मिल-जुलकर काम करने में उनका विश्वास है। नौकर को हटाने के बाद अमर की टिप्पणी है, “बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।” छोटा बेटा नरेंद्र कहता है-“अगर वह समझे कि मैं साइकिल पर गेहूँ रखकर आटा पिसाने जाऊंगा, तो यह मुझसे नहीं होगा।” बसंती भी पीछे नहीं रहती-“मैं कॉलेज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ, यह मेरे बश की बात नहीं है।” संतानें माँ से यह सब कहती हैं। पिता से कोई कुछ नहीं कहता, पर पिता के प्रति किसी भी संतान के मन में प्रेम, मान सम्मान का भाव नहीं है। मात्र कॉलेज के उल्लेख से शिक्षा के बदलते स्वरूप की भी पहचान की जा सकती है, जो मनुष्य को एक दूसरी विपरीत दिशा में मोड़ रही है। गजाधर बाबू की पत्नी भी उन्हें नहीं समझ पाती। वह उन्हें बच्चों के बीच में बोलने से मना करती हैं। “बच्चे बड़े हो गये हैं हमारा जो कर्तव्य है, कर रहे हैं, पढ़ा रहे हैं, शादी कर देंगे।” बल ‘कर्तव्य’ पर है, भावना-संवेदना पर नहीं। पिता के कर्तव्य के सामने पत्नी और बच्चों का कर्तव्य गौण है। बाह्य स्तर पर पत्नी, बच्चे सब दोषी और गजाधर बाबू के अकेलेपन के जिम्मेदार दिखाई देंगे, पर मुख्य कारण बदलता समय है। इस बदलते समय

के साथ सब है; केवल गजाधर बाबू नहीं समय सबके लिए बदला भी नहीं है। गजाधर बाबू और गनेशी इस बदले समय के साथ नहीं हैं। दोनों जिस भाव-दशा में जी रहे हैं वह भाव-दशा बदलते समय से मेल नहीं खाती। आर्थिक दृष्टि से गजाधर बाबू स्वनिर्भर हैं, पर आंतरिक रूप से एकाकी। कहानी का आंतरिक अर्थ और मर्म महत्वपूर्ण है। गजाधर बाबू को, “सबसे बड़ा गम यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कोई परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे हैं, इससे वह अनजान ही बनी रही बल्कि पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने से शांति ही थी।”

‘वापसी’ कहानी में गजाधर बाबू परिवार के केन्द्र में नहीं हैं, वे ‘परिधि’ पर हैं। ‘केन्द्र’ और ‘परिधि’ का यह वह व्यापक प्रश्न है, जो एक साथ घर, संबंध, परिवार, समाज और देश पर नये सिरे से विचारणीय है। ‘केन्द्र’ बदल रहा है। जो पहले ‘केन्द्र’ में था, अब वह ‘परिधि’ पर जा रहा है और जो ‘परिधि’ पर था वह ‘केन्द्र’ में आ रहा है। ‘केन्द्र’ का ‘परिधि’ और ‘परिधि’ का ‘केन्द्र’ बनना महत्वपूर्ण है। प्रश्न अस्तित्व का भी है। गजाधर बाबू अपने घर-परिवार में ही अस्तित्वहीन हो जाते हैं। “उनका अस्तित्व घर के वातावरण का कोई भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी, जैसे कि सजी हुई बैठक में उनकी चरपाई थी।” गजाधर बाबू का अपना कोई नहीं हो पाता। कहानी के अंत में वे चीनी मिल में अपनी नौकरी मिलने की सूचना पत्नी को देते हैं—“खाली बैठे रहने से चार पैसे हाथ में आए यही अच्छा है।” पत्नी उनके साथ नहीं जाती। उसे ‘बड़ी गृहस्थी’ और ‘सयानी लड़की’ की चिंता है। उनका घर से जाना, वापस होना किसी को आहत नहीं करता। उनके लिए कोई चिंतित नहीं है। बेटा नरेंद्र “बड़ी तत्परता से बिस्तर बांधकर रिक्शा बुला लाता है।” उनके जाने के बाद परिवार का रंग बदल जाता है।” बहू अमर से सिनेमा ले चलने को कहती है। बसंती उछलकर बोलती है, भैया हमें भी! और पत्नी बेटे नरेंद्र से कहती है—“बाबूजी की चरपाई कमरे से निकाल दे, उसमें चलने तक की जगह नहीं है।”

कहानी में क्वार्टर और घर के कई प्रसंग हैं। दोनों जगहों में अंतर है। यह अंतर ध्वनियों का भी है। क्वार्टर में सुनायी पड़ने वाली ध्वनियाँ और ‘घर के अंदर से आने वाले विविध ‘स्वर’ एक-दूसरे से भिन्न हैं। क्वार्टर में “निश्चित जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिर-परिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पट्टियों की खट्-खट जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह थी। तूफान और डाकगाड़ी के इंजनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी।” और घर आने के बाद गजाधर बाबू “घर के अंदर से आने वाले विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गोरेयों का वार्तालाप”। गजाधर बाबू अपने घर में परदेशी और बेगाने की तरह है।

‘वापसी’ कहानी एक जीवन के गायब होते जाने और दूसरे जीवन के आगमन की कहानी है। यह जीवन मूल्यों के बदलने की भी कहानी है। गजाधर बाबू अपरिचितों के बीच जाने को विवश हैं। उनके जाने का निर्णय एक प्रकार का प्रतिरोध है। वे बदलते मूल्यों, स्थितियों का साथ नहीं देते। अकेलेपन से निकलकर वे पुनः अकेलेपन में चले जाते हैं। नामवर ने इस कहानी पर विचार करते हुए ‘निर्गुण’ की ‘एक शिल्पहीन’ कहानी पर विस्तार से विचार किया और कहानी को जीवन दृष्टि से जोड़ा। इस जीवन दृष्टि के साथ कहानीकार की मूल्य दृष्टि भी जुड़ी है। ‘वापसी’ कहानी ने अपने समय में एक हलचल पैदा की थी। कहानी पर कई प्रकार की आपत्तियाँ की गयी थीं। अकेलेपन की थीम को ‘विदेशी थीम’ कहा गया था। कईयों को यह कहानी ‘असंगतिपूर्ण, अवास्तविक, फार्मूलाबद्ध’ भी लगी थी। नामवर ने केवल ‘एक शिल्पहीन कहानी’ के साथ ही नहीं, राजेन्द्र सिंह बेदी की कहानी ‘गुलामी’ और प्रेमचंद की ‘सुजानभगत’ के साथ भी ‘वापसी’ पर विचार किया। निर्गुण और उषा प्रियंवदा की कहानियों में उन्होंने दो जीवन-दृष्टियों का अंतर देखा। वे ‘वापसी’ कहानी को कहानीकार की जीवन दृष्टि से जोड़ते हैं। सवाल यह है कि यह जीवन-दृष्टि कहानीकार को कहाँ से प्राप्त होती है? इस जीवन-दृष्टि के निर्माण के पीछे उसके

अपने समय और यथार्थ की किंचित ही सही कोई भूमिका है या नहीं? इस जीवन-दृष्टि का संबंध यथार्थ से है या कल्पना से? स्वयं उषा प्रियंवदा ने इस कहानी के संबंध में अपनी (कथाकार की) 'अंतःदृष्टि और संवेदनशीलता की बात कही है। गजाधर बाबू और परिस्थिति दोनों में से किसी एक को जिम्मेदार ठहराना असंभव मानते हैं नामवर सिंह। कहानी में मुख्य बात परिवार के सभी सदस्यों में गजाधर बाबू के प्रति संवेदना और आत्मीयता का हास है। १९६० में यह बहुत कम जीवन में दिखाई देता था आज की तुलना में। यह स्वतंत्र भारत के बदलते समय का उदाहरण भी है, जिसे उस समय समाजशास्त्रियों और समाजवैज्ञानिकों ने भी नहीं देखा था। गजाधर बाबू अपने ही परिवार में अजनबी बनकर नहीं रहना चाहते। उनकी वापसी का निर्णय उस परिवार और स्थिति से अपने को अलग करने के निर्णय एक प्रतिरोधी कदम के रूप में भी देखा जाना चाहिए, संवेदनहीनता के प्रति प्रतिरोध को कहानी अपने 'कंटेंट' और 'फॉर्म' दोनों ही रूपों में महत्वपूर्ण है। इस कंटेंट को किसी दूसरे फॉर्म में नहीं ढाला जा सकता था। उस समय कहानी के नयेपन पर विचार किया गया था। आज 'वापसी' को अपनत्व, संबंध और मूल्य-विघटन के साथ देखना चाहिए। 'वापसी' केवल एक व्यक्ति, रिटायर्ड व्यक्ति गजाधर बाबू की ही कहानी नहीं, जीवन से संवेदना की रिटायरमेंट की भी कहानी है। कहानी में शिल्प प्रमुख नहीं है। वह अनायास है, सहज है, जो कंटेंट है, उसे इसी शिल्प में, प्रभावशाली और आत्मीय, सहज शिल्प में प्रस्तुत किया जा सकता था। संबंध सहज नहीं है, पर शिल्प सहज है। 'छोटी-छोटी घटनाओं के दृश्य-चित्र। सामने आते हैं और सभी चित्र कुल मिलाकर एक जीवन मर्म का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। कहानी वर्णनात्मक से अधिक चित्रात्मक है, चरित्रों के क्रियाकलापों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कम-से-कम हैं, क्रियाकलापों का तथ्यपरक अंकन ही अधिक है।' नामवर ने इस प्रकार कहानी की खूबियाँ गिनाकर १९६२ में ही 'वापसी' कहानी को विशिष्ट कहानी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। कहानीकार ने जिस तटस्थता से, सहज कला-कौशल से यह कहानी लिखी, वह आज भी उनकी कहानियों में

सर्वप्रमुख स्थान रखती है। कहानियों की एक-दूसरे से तुलना में अक्सर बाह्य सामान्यताओं पर ध्यान दिया जाता है, 'थीम' पर नहीं। बेदी की कहानी 'गुलामी' की और उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' की 'थीम' में अंतर है। गजाधर बाबू का नौकरी पर वापस जाना, घर-परिवार से टूटकर बाहर जाना है। वे स्वेच्छा से नहीं, मजबूरी में नौकरी पर जाते हैं। रेलवे की नौकरी मजबूरी की नहीं थी, वह जीवन यापन के लिए थी। मिल की नौकरी में जाना मजबूरी में है। वे मजबूर किये जाते हैं। घर उनके लिए घर नहीं है। अज्ञेय ने कहीं लिखा है, 'घर लौटने के लिए होता है, घर एक छांह है, जो गजाधर बाबू को नहीं मिलती। चरपाई उनकी स्थिति का प्रतीक है। चारपाई पहले बैठक में जाती है, फिर पत्नी के छोटे कमरे में और अंत में चारपाई स्वयं उनकी पत्नी के द्वारा हटाई जाती है। गजाधर बाबू किसके द्वारा हटाये जाते हैं? स्थिति उनके प्रतिकूल है। क्या गजाधर बाबू की भाव-दशा सही नहीं है? ऐसा समझना गलत होगा। वे कहीं से भी अशक्त नहीं हैं। वे पत्नी और संतानों पर बोझ भी नहीं हैं। 'वापसी' कहानी अनात्मीय संबंधों को 'रिजेक्ट' करती है।

'वापसी' पर विचार करते हुए नामवर को प्रेमचंद की कहानी 'सुजानभगत' की याद आयी थी। गृहस्थी सुजानभगत ने खड़ी की थी, पर भगत बनने के बाद वे अपने ही घर में बीबी-बच्चों के द्वारा उपेक्षित हुए। प्रेमचंद ने यह कहानी १९२७ ('माधुरी', मई, १९२७) में लिखी थी। नामवर ने 'सुजानभगत' के साथ 'वापसी' को रखकर देखने पर कुछ और रोचक तथ्य सामने आ सकने की बात कही है। 'सुजानभगत' कहानी में प्रेमचंद ने कर्म और धर्म पर ध्यान दिया। 'सुजानभगत' में इन दोनों का समन्वय है। भगत बनने के बाद वह धर्म की ओर मुड़ता है। भिखारी को आवश्यकता से अधिक अन्न देना उसके बेटे भोला को अखरता है। अपमानित होने के बाद वह पुनः कर्ममय जीवन को स्वीकार करता है। प्रेमचंद इस कहानी में धर्म के स्थान पर कर्म को वरीयता प्रदान करते हैं। यह कहानी श्रम की प्रतिष्ठा करती है। 'वापसी' कहानी में संबंधों की आत्मीयता का हास है। एक साथ घर, परिवार में आ रहे बदलावों की पकड़ है। कहानीकार में एक ढहते मूल्य की

गहरी, सूक्ष्म पहचान है। बड़ी बात 'आसन्न या संभावित सत्य' की पकड़ है।

क्या 'वापसी' के 'तथ्य' और 'सत्य' को कहानी विधा के अन्तर्गत ही देखने की जरूरत है? यह कहानी 'जिंदगी और गुलाब के फूल' में संकलित है। कुँवरनारायण ने १९६२ की 'कल्पना' में उषा प्रियंवदा के इस कहानी-संग्रह और निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' संग्रह पर विचार किया था। उनके सामने कुछ ऐसे तथ्य आये "जो कहानी ही नहीं, साहित्य की अन्य विधाओं के संदर्भ में भी विचारणीय हैं।" उन्होंने 'कहानीकार की विज्ञान युगीन-संवेदना' की बात कही, जिससे वह मौलिक ढंग से जीवन से उलझ सकने की क्षमता अर्जित करता है, विकसित भी करता है। वे टेक्निक की बात करना बहुत जरूरी नहीं मानते। "आधुनिक विचारों और रहन-सहन का जो नया संस्कार लेखिका के मूलतः भारतीय दृष्टिकोण पर पड़ा है, वह अधिक आकर्षित करता है।" परिवार के संबंध में भारतीय और विदेशी (मुख्यतः यूरोपीय-अमेरिकी) दृष्टिकोण भिन्न है। स्वतंत्र भारत में नेहरू जिस आधुनिकता पर बल दे रहे थे उसका 'भारतीयता' से संबंध नहीं था। देश एक नये मार्ग का- आधुनिक

मार्ग का अनुसरण कर रहा था। स्वाभाविक था- पुराने 'कंसेप्ट' का बदलना। एक नया 'कंसेप्ट' बन रहा था और उषा प्रियंवदा ने 'वापसी' कहानी के जरिये इसकी पहचान कर ली थी। नये भारत की जो रचना हो रही थी, उसमें घर, परिवार संबंध कुछ भी पूर्ववत् बना नहीं रह सकता था। कुँवर नारायण ने 'कहानी को मुख्यतः जीवन-वस्तु' मानकर इस तथ्य के प्रति लेखिका को 'सचेत' देखा है कि "स्वस्थ जीवन मूल्य मनुष्य की इच्छा-क्षमता से अधिक उसकी चिंतन क्षमता पर निर्भर करते हैं।" 'वापसी' कहानी में भावना नियंत्रित है, लेखिका का 'जीवन से घनिष्ठ संपर्क और सूक्ष्म निरीक्षण' है और है 'यथार्थ की सही पकड़' कुँवर नारायण 'यथार्थ की इस सही पकड़' को 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों की अपेक्षा शिक्षित जिज्ञासा की प्राथमिकता' से जोड़ते हैं। 'वापसी' कहानी की समस्या आज अधिक विचारणीय है क्योंकि आज गजाधर बाबू अकेले नहीं हैं। उनके साथ उनकी एक बड़ी बिरादरी है। उस समय 'ओल्ड होम' नहीं बने थे जो आज प्रायः सभी बड़े-छोटे शहरों में हैं, जहाँ परिवार से टूटकर वृद्धजन रह रहे हैं। गजाधर बाबू वृद्ध नहीं थे। उनका दर्द कहीं बड़ा दर्द है।

संपर्क :

२०४, रामेश्वरम कॉम्प्लेक्स, साउथ ऑफिस पारा, दोरंदा,
रांची-८३४००२ (झारखंड), मो. ९४३११०३९६०

गोपाल लाहोरी का 'ब्रजभिलाष': एक अनुपलब्ध रचना प्रो. दयाशंकर शुक्ल

हिंदी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल में विक्रम की सत्रहवीं शती के पूर्व रचित किसी काव्यग्रंथ में 'ब्रजभाषा' अथवा 'अवधी' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। कवियों ने स्पष्ट कहा कि वे 'भाषा' में अपने काव्य की रचना कर रहे हैं। मलिक मोहम्मद जायसी अथवा गोस्वामी तुलसीदास किसी ने भी अपनी प्रिय 'अवधी' भाषा का नाम नहीं लिया। गोस्वामी जी ने तो 'रामचरितमानस' के प्रारंभिक श्लोक में 'भाषा' शब्द का ही उल्लेख किया है— 'नानापुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति।' तुलसीदास जी ने इसे और भी स्पष्ट रूप से कहा— 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई।' महात्मा सूरदास जी ने भी अपनी लाड़ली 'ब्रजभाषा' का नाम नहीं लिया। आचार्य केशवदास के वंश में सभी संस्कृत में बोलते थे यहां तक कि उनके सेवकगण भी संस्कृत बोलते थे— 'भाषा' बोलना उन्हें आता ही नहीं था, किन्तु विडम्बना देखिये उसी कुल के केशवदास जी 'भाषा कवि' हुए। इस तथ्य पर भाषा वैज्ञानिकों ने विचार करते हुए कहा— "भाषा विज्ञान की दृष्टि से साहित्य की सम्मानित भाषा से पृथक् जनता के बीच बोली जाने वाली भाषा 'देश भाषा' या 'भाषा' के नाम से अग्रहित होती रही है। भरतमुनि ने इसी 'लोकभाषा' को 'देश भाषा' कहा है। जब प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश भाषाओं का लोक में प्रचलन हुआ, तब यह भी 'देश भाषा' ही कही जाने लगीं। पंद्रहवीं शती के कवि विद्यापति ने भी इसी अभिप्राय से 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' का प्रयोग किया था। जनभाषा के लिए 'देशी', 'देश भाषा' अथवा 'भाषा' इन शब्दों का प्रयोग हिंदी ही नहीं, अन्य प्रादेशिक भाषाओं के प्राचीन कवियों ने भी किया है।"^१

हिन्दी साहित्य में आचार्य भिखारीदास ने 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग किया था, जिसे हिन्दी साहित्य के अध्येता जानते हैं, किन्तु इनसे बहुत पहले सम्वत् १६४४ वि. में अर्थात् अकबर के राज्यकाल में 'गोपाल लाहोरी' नामक कवि ने सर्वप्रथम बार 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग अपने काव्य ग्रन्थ में किया था। यह ग्रन्थ एक काव्यानुवाद था। इसके पूर्व कि हम गोपाल लाहोरी तथा उनके ग्रन्थ की चर्चा करें अच्छा होगा कि हम 'अनुवाद' शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा, उसके प्रयोग और उसकी उपयोगिता आदि पर विचार कर लें।

'शब्दार्थ चिंतामणि' नामक कोश में 'अनुवाद' शब्द का अर्थ है 'प्राप्तस्य पुनः कथने' (पहले कहे गये को फिरसे कहना) या ज्ञातार्थस्य प्रतिपादने— ज्ञान अर्थ का प्रतिपादन करना। 'अनुवाद' शब्द 'वद् धातु' में 'अनु' उपसर्ग और घञ् प्रत्यय के योग से बना है। अनु+वद्+घञ् = अनुवाद। 'वद्' का अर्थ है बोलना अथवा कहना। शाब्दिक अर्थ हुआ किसी के कहने के बाद कहना या किसी के पीछे कथन करना।

इस व्युत्पत्ति मूलक अर्थ से अनुवाद का वांछित आशय स्पष्ट नहीं होता है। अनेक देशी-विदेशी भाषाविदों ने 'अनुवाद' की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं— जैसे — 'मूलभाषा के संदेश के समतुल्य संदेश को लक्ष्य भाषा में प्रस्तुत करने की क्रिया को 'अनुवाद' कहते हैं।"^२ "एक भाषा की पाठ्य सामग्री को दूसरी भाषा की समतुल्य पाठ्य सामग्री द्वारा प्रतिस्थापित करना 'अनुवाद' कहलाता है। "अनुवाद वह प्रक्रिया है

जिसके द्वारा सार्थक अनुभव को एक भाषा समुदाय से दूसरे भाषा समुदाय में सम्प्रेषित किया जाता है।” “अनुवाद वह प्रविधि है जिसके माध्यम से एक भाषा में कही गई बात को, विचारों को, सामग्री को दूसरी भाषा में उसी क्षमता के साथ कह दिया जाता है।” इन सभी परिभाषाओं का सार यह है कि एक भाषा में जो कुछ कहा गया है उसे समतुल्यता के आधार पर दूसरी भाषा में प्रस्तुत करना ‘अनुवाद’ है। समतुल्यता अथवा सदृशता को थोड़ा और स्पष्ट करने की अपेक्षा है। स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की सांस्कृतिक पीठिका, प्रकृति और संरचना में सदृशता अपेक्षित होती है। ‘अनुवाद’ की क्रिया को संवादित करने वाला अनुवादक होता है जिसे मूल भाषा के ग्रन्थ के रचनाकार के वैशिष्ट्य को समझे, रचनाकार की प्रकृति को समझे और तदनुसार अपने अनुवाद में उनका अनुसरण करे। स्रोत भाषा में निर्मित ग्रन्थ के भावों को यदा-कदा और अधिक स्पष्ट करने के लिए अनुवादक को ‘छंद-विस्तार’ करना पड़ता है, उदाहरणार्थ- ‘बेली क्रसनरुक्मणी’ में केवल ३०५ छन्द हैं जबकि उसके अनुवाद ‘रस-विलास’ में ३४५ छंद हो गये थे। कभी-कभी अनुवाद ग्रन्थ में प्रयुक्त किसी शब्द का अपेक्षित अनुवाद न हो पाने की स्थिति में लक्ष्य भाषा में समतुल्य भाव लाने के लिये अनुवादक को शब्द-विस्तार करना पड़ता है। अनुवादक के लिये आवश्यक होता है कि वह दोनों भाषाओं का समुचित ज्ञान रखे और केवल शाब्दिक अनुवाद न करके भावानुकूल अनुवाद प्रस्तुत करे तभी अनुवाद में सौष्ठव आ सकता है। यहाँ हम डिंगल भाषा की कृति ‘बेलि’ के कुछ छंद दे रहे हैं और उनके समतुल्य भाव के छंद ‘ब्रजभाषा’ की कृति ‘रस-विलास’ से उद्धृत करके प्रस्तुत काव्यानुवाद की चारुता देखेंगे।

१. जम्पजीव नहीं आवतौ जाणे, जोवणहार जण। (मूलभाषा)
बहु बिलरवी वीछणती बाळा, बाकू सेंधाती बाळयण।।
जोबन आवज जाँनि। चेन न पावे छिनक मन।
बाल सेंधातिनि मानि। बाल दसा बिछुरति जुराति।। (लक्ष्यभाषा)
१. आगळि पिच मात रमन्ती अंगणि, काम विराम छिपाडण काज।
लाजवती अंगि एहलाज विधि, लाज करन्ती आवैं लाजा।। (मूल)
मातपिता आगेतिया, दुरवति काम समाज।
आवनि लाज किये हिये, अति लाजहिं को लाज।

स्रोत भाषा तथा लक्ष्य भाषा के उपर्युक्त दोनों छंदों में भावों की सदृशता स्पष्ट है। प्रथम छंद में बाला रुक्मिणी अस्थिर यौवन के आगमन को जानकर अशान्त हो उठी- अब यौवन के आने से उसके बचपन की संगिनी ‘बाल्यावस्था’ चली जायेगी- यह सोच कर वह बहुत रोई। यही भाव मूल-भाषा तथा लक्ष्य-भाषा में व्यक्त हुआ है। दूसरे छंद में मूल भाषा के भाव को लक्ष्य भाषा में और भी अधिक समतुल्यता प्राप्त हुई है। वयःसंधि की स्थिति में पहुँची बाला अपने माता-पिता के आगे अपने अंगों को जो कामोद्दीप्त से उभर आए हैं, उन्हें छिपाए हुये घूम रही है- ऐसा लगता है जैसे लज्जा को भी ‘लाज’ लग रही हो। प्रथम छंद में ‘काम विराम’ का आशय ‘कुच’ आदि से है जिसे बाला छिपाती है। लक्ष्य भाषा का शब्द ‘काम समाज’ अर्थ विस्तार कर देता है। कामोद्दीपन से न केवल उरोज ही उत्फुल्ल हो उठते हैं वरन् अंग-अंग में उमंग भर जाना, लज्जा की लाली कपोलों में भर जाना और गति में ‘लोच’ आदि अनेक ‘काम समाज’ के अन्तर्गत आ जाते हैं। हम देखते हैं कि ‘काम विराम’ से भी अधिक अर्थद्योतन ‘काम समाज’ से होता है।

‘रस विलास’ ग्रंथ का महत्त्व मात्र ‘ब्रजभाषा’ शब्द के प्रथमतः प्रयोग से ही नहीं है, अपितु प्रस्तुत ग्रन्थ से डिंगल की सुप्रसिद्ध कृति ‘बेलि’ के रचना-काल के निर्धारण पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। दीर्घ काल से ‘बेलि’ के रचना-काल पर विद्वानों में विवाद होता रहा है। प्रस्तुत रचना से निर्णयकारी परिणाम की अधिक संभावना है। इन प्रश्नों पर हम विचार करेंगे। कवि गोपाल कौन थे, कहाँ के थे तथा उनका अनुमानित समय क्या था साथ ही मिर्जाखाँन जिन्होंने गोपाल लाहोरी को काव्य-रचना की आज्ञा दी थी- इन सभी की हम चर्चा करेंगे।

गोपाल लाहोरी के विषय में हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है और न किसी खोज रिपोर्ट में ही हमें कोई सूचना उपलब्ध हो सकी है। उनके नाम से अवश्य यह ध्वनित होता है कि वे लाहौर के निवासी रहे होंगे। ‘रस विलास’ की पुष्पिका से पता चलता है कि कवि गोपाल लाहोरी को ‘मिर्जाखाँन’ ने उक्त ग्रन्थ की रचना करने की आज्ञा दी थी, तभी उन्होंने ‘रस विलास’ की रचना की थी-

‘आज्ञा मिर्जाखांन की भई, करी गोपाल’।

यहां यह जान लेना आवश्यक होगा कि ये मिर्जाखांन कौन थे। मिर्जाखांन के कालक्रम की जानकारी उपलब्ध होने से गोपाल लाहोरी के समय का भी अनुमान लगाया जा सकता है। अकबर बादशाह के कभी अभिभावक रहे बैरम खां जब गुजरात की यात्रा पर थे, उसी समय उनकी हत्या कर दी गयी थी। उस समय उनके पुत्र अब्दुरहीम सम्भवतः चार-पांच वर्ष के थे। अकबर ने अब्दुरहीम को मंगवा कर अपने संरक्षकत्व में कर लिया था। उनकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की। शहजादों जैसा उनका पालन-पोषण किया, शहजादों जैसा प्यार दिया और ‘मिर्जाखांन’ की उपाधि जो शहजादों को ही दी जाती थी, से उन्हें अलंकृत किया। उस समय से अब्दुरहीम को मिर्जाखांन के नाम से जाना जाने लगा।

इन्हीं मिर्जाखांन अब्दुरहीम ने जो अकबरी दरबार के नवरत्नों में से एक थे, उक्त ग्रन्थ की रचना की आज्ञा दी थी। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि मिर्जाखांन ने गोपाल लाहोरी को ‘रस विलास’ की रचना की आज्ञा क्यों दी थी तथा रचना के ‘नामकरण’ में इतनी रुचि क्यों ली थी। यह भी प्रश्न उठता है कि अकबर के प्रधान सेनापति, विश्रुत विद्वान और प्रसिद्ध कवि से कोई सामान्य व्यक्ति कैसे मिल सकता था।

गोपाल लाहोरी सम्भवतः लाहौर के निवासी थे और मिर्जाखांन का जन्म लाहौर में हुआ था इसकी पुष्टि इतिहास ग्रंथों से होती है। ‘रस विलास’ ग्रन्थ की रचना के पूर्व गोपाल लाहोरी सम्भवतः अन्य रचना कर चुके होंगे और उनकी ब्रज भाषा-कवि के रूप में अच्छी ख्याति हो चुकी होगी तथा अब्दुरहीम खानखाना को इसकी जानकारी मिल चुकी होगी, लेकिन गोपाल लाहोरी की अन्य रचनाओं की चर्चा और उनकी ख्याति का कोई उल्लेख तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलता है। फिर भी खानखाना, गोपाल लाहोरी को ग्रन्थ-रचना की आज्ञा देते हैं। कविवर रहीम के सम्बन्ध हिन्दी के अनेक कवियों से थे। कविवर केशवदास, नरहर, मंडल, आसकरन तथा कवि गंग उनके स्नेह पात्र थे। गंग कवि के दो छंदों पर रीझकर रहीम ने उन्हें छत्तीस लाख रुपये पुरस्कार के रूप में दिये थे। वे तुलसीदास के भी मित्र थे। ऐसे सुप्रसिद्ध कवियों की श्रेणी में कवि गोपाल लाहोरी

का तो कोई स्थान ही नहीं दिखता है, लेकिन अब्दुरहीम खानखाना का उस समय की सुप्रसिद्ध डिंगल काव्य रचना ‘बेलि क्रिसन रुक्मिणी री’ जिसके रचयिता ‘रहीम’ के समान ही अकबरी दरबार के रत्न, परमकृष्ण भक्त और प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज राठौर थे, का ब्रजभाषा पद्यानुवाद प्रस्तुत करने के लिए गोपाल लाहोरी कवि को आज्ञा देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे गोपाल लाहोरी की ब्रजभाषा कवि के रूप में और ब्रजभाषा के योग्य काव्यानुवाद के रूप में श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

‘बेलि’ राजस्थानी भाषा की बड़ी प्रसिद्ध काव्य कृति है। अनेक विद्वानों ने उसकी वर्णन-चारुता, काव्य-सौष्टव, अर्थ-गौरव तथा उसकी अलंकृत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ‘बेलि’ का श्रृंगार-वर्णन तो अप्रतिम है। गोपाल लाहोरी के ब्रजभाषा काव्यानुवाद में भी ‘बेलि’ की ये विशेषताएं अनूदित होकर आ गईं। ब्रजभाषा वैसे भी अपनी लालित्यपूर्ण पदवाली के कारण ख्यात है। गोपाल लाहोरी ने अपनी काव्य प्रतिभा से उसके श्रृंगार-वर्णन और प्रकृति-वर्णन को और भी रसमय बना दिया। उन्होंने ‘रस विलास’ की पुष्पिका में काव्य की रचना का कारण निवेदन किया है—

मरुभाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषां चोज।

अब गोपाल यांतैलहे, सरस अनूपम मोज॥

कवि गोपाल यह ग्रन्थ रचि, लायो मिरजा पास।

‘रस विलास’ दे नाउ भनि, कवि की पूरी आस॥

गोपाल लाहोरी को उत्कर्ष प्रदान करने वाले कविवर अब्दुरहीम खानखाना का जीवन उत्थान-पतनमय रहा है। जब बैरम खां साठ वर्ष के थे उस समय ‘लाहौर’ में ‘रहीम’ का १७ दिसम्बर १५५६ ई. को जन्म हुआ था। सन् १५७३ से उनका भाग्योदय प्रारम्भ हुआ जो अकबर के निधन-काल-सन् १६०५ तक चलता रहा। उन्हें जीवन में सभी प्रकार का वैभव और यश प्राप्त हुआ, किन्तु ‘चक्रार पंक्तिरिव गच्छति भाग्य पंक्तिः’ रहीम का पराभव प्रारम्भ हो गया। उन्होंने जहांगीर बादशाह की नीतियों का विरोध किया था— परिणामतः उन्हें कैद में डाल दिया गया और उन्हें पद और उपाधियों से निरस्त कर दिया गया। उन्हें दर-दर भटकना पड़ा। रहीम की स्वयं की अभिव्यक्ति देखिये—

‘ये रहीम दर दर फिरें, माँगि मधुकरी खाँहि।

यारो यारी छोड़ दो वै रहीम अब नाँहि॥

‘रहीम’ राजनीतिक तथा पारिवारिक त्रासदियों से टूट गये थे। अन्ततोगत्वा रहीम ने जहांगीर के दरबार में उपस्थित होकर क्षमा माँग ली और स्वामि-भक्ति का प्रण लिया। जहांगीर ने भी रहीम के पूर्ववृत्त को ध्यान में रखकर उन्हें क्षमा कर दिया तथा उनके पद और उपाधियां उन्हें ससम्मान वापस कर दिया। रहीम जहांगीर की इस कृपा से अभिभूत हो उठे। उन्होंने अपनी कब्र के पत्थर पर यह पंक्तियां खुदवाने की वसीयत कर दी जिनमें जहांगीर के प्रति आभार ही व्यक्त किया गया है—

मरा लुत्फे जहांगीर, जो हाई ढाते रब्बानी।

दो बार: जिन्दगी दाद दोबार: खानखानी।।

अर्थात् ईश्वर की सहायता और जहांगीर की दया से दो बार जिन्दगी और दो बार ‘खानखाना’ की उपाधि मिली। बहत्तर वर्ष की आयु पाकर सन् १६२७ ई. में रहीम इस संसार से विदा हो गये।

गोपाल लाहोरी ने सम्वत् १६४४ वि. वैशाख सोमवार तीज की तिथि को ‘रस विलास’ की रचना की थी। उस बार वैशाख सौर मास था। केवल तीन बार सोमवार पड़ा था। ‘रस विलास’ की रचना के समय मिर्जाखान की आयु इक्तीस वर्ष की थी। गोपाल लाहोरी कवि उस समय तक प्रौढ़ आयु के तो रहे ही होंगे, तभी उन्होंने ‘बेलि’ जैसी प्रसिद्ध शृंगार कृति के अनुवाद का उत्तरदायित्व लिया होगा। मिर्जाखान ने भी गोपाल लाहोरी की रचनाशीलता से पूर्ण रूप से संतुष्टि प्राप्त करके ही उन्हें उक्त रचना की आज्ञा दी होगी, अतः कवि गोपाल लाहोरी मिर्जाखान के समवस्यस्क ही होंगे— ऐसा अनुमान होता है।

‘रस विलास’ की स्रोत कृति ‘बेलि’ राजस्थानी भाषा की अत्यंत प्रसिद्ध कृति है जिसकी अनेक टीकाओं तथा कुछ अनुवादों ने उसे सामान्यजन के लिये सुलभ बना दिया है। ‘बेलि’ के उक्त अनुवाद से वह राजस्थान से निकलकर सम्पूर्ण ब्रज क्षेत्र में भी पढ़ी और समझी जाने की स्थिति में आ गई। मिर्जाखान का उद्देश्य भी यही था कि ऐसी ‘रसमयी’ रचना का आनन्द वृहद् जन समुदाय उठा सके। अनुवाद का लक्ष्य ही होता है कि प्रसिद्ध रचना जन-जन तक पहुँचे।

साहित्य किसी देश विशेष अथवा समाज विशेष के लिये नहीं होता है, अपितु वह तो समस्त मानवता के लिये

होता है। अपरिचितता तथा क्लिष्टता के कारण मूलरूप में कोई रचना हमारे उपयोग में नहीं आ पाती है, ऐसी स्थिति में मूल तथा लक्ष्य भाषा के सुविज्ञ अनुवादक उस रचना को सर्वसुलभ बना देते हैं। अनुवाद की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। विश्व की महान रचनाएँ अनुवादों के कारण ही प्रचार पा सकीं। उनके कारण ही हमारे विचारों और भावों में वैविध्य आ सका। हम विभिन्न देशों के समाज की रीति-नीति और संस्कृति से परिचित हो सके।

‘बेलि’ की टीकाओं और अनुवादों की अनेक विद्वानों ने चर्चा की है। ‘जयकीर्ति’ ने ही सबसे पहले ‘बेलि’ के ‘ब्रजभाषा’ पद्यानुवाद की सूचना दी थी। जयकीर्ति संवत् १६८६ वि. में विद्यमान थे। खरतरगच्छीय समय सुन्दर के शिष्य हर्षनंदन के शिष्य जयकीर्ति ने वनमाली-वल्लीबाला-ववोध की रचना की थी। जयकीर्ति ने ‘बेलि’ के अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है – इसी क्रम में उन्होंने ‘रस विलास’ जो ब्रजभाषा पद्यानुवाद है, की रचना गोपाल लाहोरी ने की है यह भी बताया था।^{१०} जयकीर्ति ने सम्भवतः ‘रस विलास’ ग्रंथ को स्वयं देखा नहीं होगा। यदि स्वयं देखा होता तो उन्हें ‘रस विलास’ का रचना सम्वत्-मास, दिवस और तिथि भी दिख जाती तथा उसकी पुष्पिका में ग्रंथ रचना की आज्ञा करने वाले मिर्जाखान का नाम भी मिल जाता तथा मिर्जाखान ने ही उस पद्यानुवाद के भाषा लालित्य, वर्णन-चातुर्य तथा अनुवाद की उपयुक्तता और ‘बेलि’ जैसी ही शृंगार-रसमयता देखकर और अनुभूत करके उसका नाम ‘रस विलास’ रखा था— यह भी लक्षित हो जाता। मिर्जाखान तो इतिहास पुरुष थे। उनके जन्म-मृत्यु तथा रचना-काल का उल्लेख साहित्य और इतिहास सभी स्थानों पर हुआ था तो उससे गोपाल लाहोरी के समय का अनुमान भी हो जाता और ‘बेलि’ के रचनाकाल पर भी उपयुक्त विचार हो जाता। पृथ्वीराज राठौड़ का देहावसान इक्यावन वर्ष की आयु में सम्वत् १६५७ वि. में हुआ था। इसके पूर्व वे ‘बेलि’ के रचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। ‘रस विलास’ की रचना सम्वत् १६४४ वि. में हुई थी। इस विषय में कोई विवाद नहीं है, अतः ‘बेलि’ की रचना सम्वत् १६४४ वि. के पूर्व ही होनी चाहिये। इन सब उल्लेखों का निष्कर्ष यही निकलता है कि ‘बेलि क्रसन रुक्मणी’ का रचना-काल सम्वत् १६३८ वि. ही होना चाहिए—

वरसि अचल गुण आंग ससि संवति।

तवियउ जस करि स्त्री भरतार।।

करि स्त्रवणै दिन-राति कंठि करि।

श्रीफल प्रामै भगति अपार।।

अठारहवीं शताब्दी की प्रतियों में रचना-सूचक जो सम्बन्ध दिये गये हैं उनमें उपर्युक्त पद्य में दिया गया रचना-काल हमारी दृष्टि में सर्वाधिक उपयुक्त है। जयकीर्ति ने भी इसे स्वीकार किया है। यद्यपि हमें जो 'रस विलास' की दो प्रतियां मिली हैं उनमें किसी में भी 'बेलि' का रचना-काल नहीं दिया गया है।

'रस विलास' की हस्तलिखित प्रतियों का परिचय :- प्रस्तुत ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियां हमें दो स्थानों से प्राप्त हुई थीं जिसका विवरण ये हैं- इस प्रति में इक्कीस पृष्ठ हैं, तथा दस पत्र हैं ग्यारहवें पत्र का एक पृष्ठ है। पत्र का आकार ८'' . १२*४'' ६ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में पंद्रह पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग तेरह शब्द हैं। प्रति अठारहवीं शती की लिखी प्रतीत होती है। प्रतिलिपि संवत् का उल्लेख नहीं है, किन्तु प्रतिलिपिकार का नाम-मुनि लक्ष्मीसागर दिया है तथा रचना-स्थान का नाम 'बाहुपुर' दिया गया है।

पाटण की प्रति : दूसरी प्रति हमें गुजरात के नगर पाटण से प्राप्त हुई थी। इसमें कुल तेईस पत्र हैं। सत्रहवें पत्र का एक पृष्ठ निरस्त कर दिया गया है, क्योंकि इसका पिष्टपेषण हो गया था। तेईसवें पत्र का एक ही पृष्ठ है। पहले पत्र का भी एक ही पृष्ठ लिखा है। इस प्रकार कुल लिखित सामग्री तैंतालीस पृष्ठों की है। प्रत्येक पृष्ठ में नौ पंक्तियाँ, जो काली स्याही से लिखी हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग सोलह शब्द हैं। आकार ९'' . ८*४'' . ५ है। लिपिकार का नाम चहुआण फकीर चंद है तथा रचना-स्थान 'भुज' है। रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार है- भृगुवार, तिथि, षष्ठि, कृष्ण पक्ष, माह महीना-शाके १६६७ तथा सम्बत् १८०२ वि. इन्हीं दो प्रतियों को आधार बनाकर प्रस्तुत आलेख की रचना की गई है। पूर्वज प्रति अथवा अन्य प्राचीन प्रतियों के अभाव में यहां जो भी तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं अथवा निष्कर्ष निकाले गये हैं वे सभी पूर्वज प्रति अथवा अन्य प्राचीन प्रतियों की

प्राप्ति पर पुनः विचारणीय होंगे। उपलब्ध दोनों प्रतियों में केवल पाठ-भेद ही नहीं, अपितु उनकी लिखावट अस्पष्ट है। मात्रा तथा शब्द पृथक्-पृथक् करके लिखा गया है जैसे से सव ईस सिरकिं वस्तुतः सैसव सिसिर 'के' को लिपिकार ने उक्त प्रकार से लिखा है। इस प्रकार की अनेक उलझनें पैदा करने वाली कठिनाईयाँ इन प्रतियों में हैं।

'रस विलास' के रचनाकार ने 'बेलि' के छंदों का भावग्रहण करके ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। उसका यत्न रहा है कि मूल भाव का प्रभाव वैसा ही ब्रजभाषा के अनुवाद में भी बना रहे। 'बेलि' का जो उपलब्ध स्वरूप है उसमें तीन सौ पांच छंद हैं जबकि गोपाल लाहोरी के 'रस विलास' में तीन सौ पैंतालीस छंद हैं। गोपाल लाहोरी ने 'बेलि' के अनेक छंदों के मूल भाव को अपने अनुवाद में अधिक स्पष्टता के लिये तथा ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाने की दृष्टि से विस्तृत कर दिया है। उसने 'बेलि' के पाठ से क्या फल प्राप्त होते हैं उसकी लंबी व्याख्या की है। उसने ग्रन्थ की समाप्ति पर लंबी पुष्पिका प्रस्तुत की है। इस प्रक्रिया में 'रस विलास' में चालीस छंदों की वृद्धि हो गई है। विश्वास है 'रस विलास' कृति कविवर रहीम को प्रिय लगी थी, तो सुधी पाठकों में प्रस्तुत आलेख पढ़कर 'रस विलास' पढ़ने की जिज्ञासा अवश्य जाग्रत होगी जिससे उसके प्रकाशन की प्रेरणा मिलेगी।

संदर्भ:

१. हिंदी का उद्भव और विकास, डॉ. उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ-४०-४२
२. नाइडा ई. एम.
३. कैट फोर्ड जे.सी.
४. पट्टनायक डी. पी.
५. कैलाश भाटिया
६. India Iphemerics by swami kannu pillay- 1400-1599
७. क्रिसन रुकमणी बेलि, प्रस्तावना- पृ. ३८-३९, सं. नरोत्तम शास्त्री

संपर्क : १-बी, ८०६, ट्रिनिटी टावर्स, गेरा ग्रीन विले, खराड़ी,
पुणे- ४११०१४, मो. ९८२५६०४७१०

केदारनाथ सिंह: भृष्टि के पक्षधर कवि

विद्या रजक

शोधार्थी, कलकत्ता विश्वविद्यालय

“जा रहा हूँ/ लेकिन फिर आऊँगा/ आज नहीं तो कल/ कल नहीं तो परसों/.....हो सकता है अगले जन्म में ही/ भ्रम न हो कि मैं अगले जन्म में/विश्वास करता हूँ/लेकिन प्रिय पाठक /एक कवि का काम चलता नहीं/अगले जन्म के बिना/वह यही तो करता है अधिक से अधिक/कि लोगों में/यहाँ तक कि चीजों में भी/ हमेशा बनी रहे/ बार-बार जन्म लेने की इच्छा/जा रहा हूँ/ लेकिन आपके दरवाजे पर/ चिड़ियाँ के पर जैसा एक छोटा-सा कागज़ / धीरे से रख कर / ताकि सनद रहे कि एक कवि आया था।”^१

एक कवि का जाना कितना खौफनाक होता है यह कहने की जरूरत नहीं। कवि केदारनाथ सिंह चले गए, पर आप आज भी हमारी स्मृति में जीवित और अपनी कविताओं में उपस्थित हैं। आपकी कविताओं में भोजपुरी की अनुगूँजों से दीप्त हिन्दी की आधुनिक चेतना का सौंदर्य आज भी हमारे साथ है। एक कवि की कभी मृत्यु नहीं होती, यह एक जीता जागता सत्य है। वह अपनी कविताओं में हमेशा जीवित रहता है। कवि केदारनाथ सिंह अपने काव्य-जीवन की शुरुआत प्रकृति और जीवन के उल्लास भरे गीतकार के रूप में करते हैं। उनकी शुरुआती दौर की कविताओं को पढ़कर मैं उन लोक गीतों की ओर लौट जाती हूँ जो अक्सर किसी मंगल अवसर पर हमारे मोहल्ले की स्त्रियाँ गाया करती थीं, फिर से वह सारे गीत मानों सजीव हो उठते हैं। कई बार बचपन में जब मेरे मोहल्ले की स्त्रियाँ लोकगीत गाया करती थी तो मैं सबसे छुपाकर अपने ही मन में उन गीतों को गुनगुनाती या यूँ कहूँ कि सीखने का प्रयास करती थी, कुछ एक गीत मैंने सीख भी लिया था जैसे भैया दूज पर गाये जाने वाला गीत। केदार जी ने प्रगीत तत्व को आधुनिक संदर्भ में नये ढंग से अपनी कविताओं में रचा है। इनकी पहचान जिन कविताओं से बनती है वे कविताएँ लोकभूमि पर रचित कविताएँ हैं। ये कविताएँ न केवल लोक-जीवन का प्रसंग हमारे समक्ष रखती हैं बल्कि इनकी धुने भी प्रायः लोकगीतों वाली हैं। इस संदर्भ में ‘धानों का गीत’ कविता की कुछ पंक्तियाँ- “धान उगेंगे कि प्राण उगेंगे/ उगेंगे हमारे खेत में/ जाना जी बादल जरूर! / चंदा को बांधेंगे कच्ची कलगियों/ सूरज को सूखी रेत में/ आना जी बादल जरूर।”^२ इन गीतों में ग्राम जीवन एवं ग्रामीण प्रकृति के संवेदनशील चित्र ही नहीं हैं बल्कि इसका रूप भी लोक-गीतों की भाँति लचीला है।

समकालीन कवियों में केदारनाथ सिंह का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी के शीर्ष कवि केदारनाथ सिंह ने समकालीन हिंदी कविता को समृद्ध किया है। इनका पहला कविता-संग्रह

‘अभी बिलकुल अभी’ (१९६०) से लेकर अंतिम कविता-संग्रह ‘सृष्टि पर पहरा’ (२०१४) तक की जो काव्य यात्रा है वह भारतीय जीवन के सौंदर्य एवं विडंबना को एक साथ देखने की यात्रा है। इन्होंने अपनी कविता में न केवल ग्राम्य जीवन का चित्रण किया है बल्कि नगरीय जीवन बोध एवं कस्बाई जिंदगी का यथार्थ चित्रण भी किया है और इन सब के बीच लोकभूमि की सुगंध इनकी कविता में बराबर मौजूद रही है। गाँव से लेकर महानगर की ओर यह स्थानान्तरण ऐसा है जिसे केदार जी के पूरे विकास क्रम में देखा जा सकता है। उन्होंने कई काव्य पीढ़ियाँ एक साथ न केवल देखा बल्कि उनके साथ जुड़े भी रहे हैं। लीलाधर मंडलोई के शब्दों में- “भोजपुरी और ग्रामीण संवेदना का जब एक द्वन्द्वात्मक मेल खड़ी बोली और नागर संवेदना से होता है तो जो नया कवि रूप बनता है, दरअसल उसी पहचान का नाम है-केदारनाथ सिंह।”^३

जीवन के प्रति उनका गहरा राग बोध उन्हें अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार संवेदना से उपलब्ध हुआ है। यह सब उन्हें अनायास ग्राम संस्कृति से अपनी जातीय विरासत के रूप में हस्तगत हुआ है। जिसकी वजह से उनमें सृष्टि के प्रति उनका अनुराग दुनिया की तमाम समृद्धि सभ्यताओं के निकट परंपरा और पहचान के बाद भी संपूर्ण जीवन काल में तनिक भी कम नहीं हुआ था- “नैतिक परिप्रेक्ष्य के आलोक में केदार जी की कविता को पढ़ें तो वह सृष्टि की पक्षधरता की ऐसी कविता है, जिसमें जीव-जन्तु और मनुष्य से लेकर प्रकृति का भौतिक-अभौतिक वास है। वह लोक से शक्ति ग्रहण करती है, मिथकों का नये ढंग से संधान करती है और इतिहास विवेक के साथ अवतरित होती है।”^४

केदार जी का यह मानना है कि ‘कविता की जरूरत है, क्योंकि वह मनुष्य के अस्तित्व की बुनियादी माँगों में से एक है।’ कविता के भविष्य को लेकर कवि बहुत चिंतित हैं कि जो गाँव भारत की जन्म भूमि है जहाँ भारत ने अपने नन्हें-नन्हें कदमों से चलना सीखा, जो भारत की आत्मा है। आज हम उसे भूलते जा रहे हैं, जिस तरह से समकालीन कविता में शहरीकरण अपना कदम बढ़ा रही है, गाँव मानों लुप्त होता जा रहा है। कवि को यह डर है कि कहीं हिंदी

कविता अपना जातीय स्वरूप खो न दे। जिस कारण इसे बचाए रखने की अत्याधिक जरूरत है। केदार जी यह भी मानते हैं कि हम पहले कि भाँति तो गाँव की ओर नहीं लौट सकते पर इस अनमोल संपत्ति को संभाल कर जरूर रख सकते हैं। केदार जी के शब्दों में- “एक और बात में महसूस करता हूँ और यह की हिन्दी कविता की अपनी परंपरा शुरू से ही गाँव से जुड़ी रही है, मैं आज की कविता को जब अत्यधिक नागरिक होते देखता हूँ तो मुझे कई बार अपने भीतर एक डर पैदा होता है कि कहीं वह अपना जातीय स्वरूप खो न दे। ...यह मुझे बराबर लगता है कि गाँव की चेतना और आधुनिक जीवन की वास्तविकता के बीच एक महत्वपूर्ण तनाव समकालीन हिन्दी कवि के लिए जरूरी है, मेरी कोशिश उसी दिशा में है।”^५ केदार जी की इन पंक्तियों से समकालीन हिन्दी कविता की एक बड़ी बिडंबना का पता चलता है। समकालीन कविता के ज्यादा नागरिक हो जाने के प्रति चिंता को व्यक्त करते हैं। समकालीन हिन्दी कवियों का ध्यान इस ओर झुकाने का प्रयास करते हैं।

केदार जी की कविता ‘चकिया गाँव’ उस स्त्री के ललाट पर चमकती हुई बिंदी के समान है जो उस स्त्री के सौंदर्य में चार चाँद लगा देती है। जिसे ‘चिट्ठी’ कविता में देखा जा सकता है, कविता की कुछ पंक्तियाँ- “कल गाँव से एक चिट्ठी आयी/ बहुत दिनों बाद /शायद नदी ने भेजी थी/न दिन/ न तारीख/ न सिरनाम /बस ऊपर कोने में/एक बूँद की तरह / टँका था/छोटा-सा प्यारा-सा/गाँव का नाम -/‘चकिया’।”^६

केदार जी कविता में चीजों को बड़े हौले-हौले आत्मसात करते हैं। उनकी कविता में कस्बाई, ग्राम्य और छोटे शहरों के जीवन की लय होती है तो एक मामूली व्यक्ति का मरना भी। आज के इस संवेदनहीन समाज में जहाँ मानव वस्तु मात्र बनकर रह गया है वही केदार जी की कविता वस्तुओं को भी चरित्र रूप में बदल देती है। वे अपनी कविता में समाज के छोटे से छोटे व्यक्ति का जिक्र करते हैं, चाहे वह छोटा सा जीव ही क्यों न हो। साधारण वस्तुओं से लगाव ने उन्हें असाधारण बना दिया। चींटियों पर लिखी उनकी एक कविता है। जहाँ उन्होंने चींटियों को प्रकृति की बेहद खूबसूरत

रचना के रूप में देखा है। उनके अस्तित्व को बचाए रखने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं उन्हें यह चिंता है कि कहीं मनुष्य जाति इन चींटियों को इस संसार से बेदखल न कर दे- “सुनो, लगता है यह शहर अपनी जगह से खिसककर / किसी गलत अक्षांश / पर आ गया है/ कि अपनी धुरी से/ उतर गया है इसके चक्के / और इस इतने बड़े शहर में अब इतनी भी जगह नहीं/ कि एक गर्भवती चींटी/ कहीं रख दे अपना अंडा।”^{१०}

इनकी कविता की भाषा मोहित और चकित करने वाली भाषा है जो शब्द की शक्ति को पहचानती केदार जी की कविताओं में केदार जी का बोलना कम होता है उनसे अधिक उनकी कविताएँ ही बोलती हैं। विकास के नाम पर अक्सर आदिवासियों के घर छिन लिये जाते हैं, नदियों के प्रभाव को रोक दिया जाता है, पेड़ काट दिए जाते हैं गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं पर इन बातों से किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता है। इस संदर्भ में ‘माँझी का पुल’ कविता कि कुछ पंक्तियाँ- “एक गहरी बेचैनी के बाद/ मैंने कई बार सोचा है माँझी के पुल में/ कहाँ है माँझी?/ कहाँ है उसकी नाव?/ क्या तुम ठीक उसी जगह उँगली रख सकते हो/ जहाँ एक पुल में छिपी रहती है नाव?”^{११}

इस पृथ्वी की सबसे अनमोल धरोवर पानी अब वह भी लुप्त होने के कगार पर है। जिसे कवि “पानी की प्रार्थना” कविता में उठाते हैं, जहाँ स्वयं पानी अपने लुप्त होने के कारण पर प्रश्न खड़ा करता है- “अंत में प्रभु/ अंतिम लेकिन सबसे जरूरी बात/ अब पानी दुर्लभ होने के कगार तक पहुँच चुका है/ पर इसमें चिंता की कोई बात नहीं। यह बाजारों का समय है/ और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत से/ मैं हमेशा मौजूद हूँ...।”^{१२} इन पंक्तियों के माध्यम से केदार जी ने आज के समूचे सत्ता एवं पूँजीवादी तंत्र की पोल खोल कर रख दी है। कवि हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं जहाँ बाजारवाद ने सभी वस्तुओं को अपना शिकार बनाया है वहाँ पानी को कैसे छोड़ देता, पानी को बाजार की वस्तु बनाने की लिए ही इसके प्रकृति स्रोतों को नष्ट किया जा रहा है। कवि सृष्टि के बने रहने की आशा करते हैं, जिसे वह अपनी कविता “ईश्वर को एक भारतीय नागरिक के कुछ सुझाव” में

व्यक्त करते हैं- “इस उलट-फेर में बस इतना ध्यान रहे मेरा छोटा-सा गाँव / कहीं उजड़ न जाय / और दलपतिपुर-चट्टी की बुढ़िया की बकरी/ लौट आए घर / ...सो पृथ्वी का कॉपीराइट सँभालकर रखना/ यह क्लोन-समय है/ कहीं ऐसा न हो / कोई चुके से रच दे/ एक क्लोन-पृथ्वी।”^{१३} केदार जी यहाँ सृष्टि के अस्तित्व को लेकर चिंतित हैं। वे इस आधुनिकीकरण के युग में चाहे जो हो जाए सृष्टि के साथ-साथ गाँव के बचे रहने की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं।

केदार जी की कविता, मनुष्य को प्रकृति के साथ जोड़ने वाली कड़ियों के तड़कने से उपजी अनुगुंजों की कविता है। प्रकृति केदार जी की कविता की सहचरी रही है, वे प्रकृति को निहारते भी हैं और उससे उजास भी लेते हैं। प्रकृति के कण-कण की अनुगुंज उनकी कविताओं में सुनाई पड़ती है इस संदर्भ में “सृष्टि पर पहरा” कविता की कुछ पंक्तियाँ- “कितना भव्य था/ एक सूखते हुए वृक्ष की फुनगी पर/ सहज तीन चार पत्तों का हिलना / उस विकत सुखाड़ में / सृष्टि पर पहरा दे रहे थे तीन-चार पत्ते।”^{१४}

कवि का सामूहिक जीवन के प्रति सहजता संलग्नता और संपृक्तता का यह दुर्लभ बोध है जो इनके कविता की मूल पूंजी है। यह इन्हें सहज सुलभ है। जिसकी सच्ची तस्वीर “पानी में धीरे लोग” कविता में देख सकते हैं- “वे जला देते हैं/ एक टूटी लालटेन / टाँग देते हैं किसी ऊँचे बाँस पर / ताकि उनके होने की खबर/ पानी के पार तक पहुँचती रहे/ फिर उस मद्धिम रोशनी में/ पानी की आँख में / आँख डाले हुए/ वे रात-भर खड़े रहते हैं / पानी के सामने/ पानी की तरफ/ पानी के खिलाफ/ सिर्फ उनके अंदर/ अरार के तरह/ हर बार कुछ टूटता है/ हर बार पानी में कुछ गिरता है/ छपाक.....छपाक ”^{१५} गाँव में बाढ़ आना एक आम बात है पर यह बाढ़ गाँव वालों के लिए आम नहीं यह जब भी आती है, इनके जीवन को उलट-पलट कर रख देती है। बिना किसी सूचना के इनके जीवन में प्रवेश करती है और अपने साथ इनका सब कुछ लाद ले जाती है, अपने कंधों पर एक अपरिचित दिशा की

शोधार्थी की कलम से

ओर। यह बाढ़ केवल इनके घर-बार एवं मवेशियों को ही नहीं बहा ले जाती बल्कि इनके जीवन भर की मेहनत एवं इनकी जिंदगी को भी साथ ले जाती है। कवि को यह बात सबसे अद्भुत लगती है कि इतना सब कुछ होने के पश्चात भी वे किसी से भी किसी तरह की शिकायत नहीं करते। चाहे बाढ़ कितनी भी भयानक क्यों न हो वे किसी भी हालत में घबराते नहीं बल्कि एक जुट हो कर उसका सामना करते हैं यह बाढ़ उन्हें एकजुट कर देती है। वह बाढ़ की आँख में आँख डाल कर उसके खिलाफ खड़े रहते हैं, अपने जीवन संघर्ष रूपी लालटेन को लेकर। कवि अंदर शहर और गाँव की विसंगतियों को करीब से देखने की जिजीविषा थी। केदार जी जीवन के संघर्ष में आशा की उम्मीद जलाने वाले कवि हैं। इस आशा के किरण को उन्होंने अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक संभाले रखा।

“मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिला / तो मैं लिखने बैठ गया हूँ।.../मैं पूरी ताकत के साथ /शब्दों को फेंकना चाहता हूँ आदमी की तरफ/ यह जानते हुए कि आदमी का कुछ नहीं होगा/ मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका/ जो शब्द और आदमी के टक्कर से पैदा होती है/ यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा/ मैं लिखना चाहता हूँ।”^{१३}

संदर्भ सूची:

१. सिंह केदारनाथ, अभी बिल्कुल अभी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१६, पृष्ठ-५०

२. सं. अज्ञेय, तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २००३, पृष्ठ -१३४

३. सं. मंडलोई लीलाधर, नया ज्ञानदोय, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, अंक १८, अप्रैल २०१८, पृष्ठ-१२

४. वही, पृष्ठ-११

५. सिंह केदारनाथ, मेरे समय के शब्द, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१३, पृष्ठ-१८२

६. सिंह केदारनाथ, अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१५, पृष्ठ-९८

७. सिंह केदारनाथ, तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१०, पृष्ठ-९०

८. सिंह केदारनाथ, जमीन पक रही है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१४, पृष्ठ-९७

९. सिंह केदारनाथ, तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१०, पृष्ठ-११

१०. सिंह केदारनाथ, सृष्टि पर पहरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१४, पृष्ठ-४८

११. वही, पृष्ठ-६२

१२. सिंह केदारनाथ, यहाँ से देखों, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण १९९९, पृष्ठ-१९

१३. सिंह केदारनाथ, सृष्टि पर पहरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण २०१४, पृष्ठ-६९

संपर्क: तिनकारी बनर्जी लेन, गोंदल पाड़ा, चंदननगर,
हुगली- ७१२१३७, मो. ८८२०९११७९०

कविता सघन आत्मीयता का अखंड-अटूट, भावसिक्त संवाद है भरत प्रसाद

मेरे काव्य-सृजन का बीज है अनुभूति, संवाद, साक्षात्कार। अनुभूति इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्थूल, प्रकट और रहस्यमय सृष्टि की, प्रकृति की, भौतिक किंतु अद्वितीय जगत की। मैं अपने पूरे वजूद के साथ संवाद बनाता हूँ- जड़ से, सजीव से, रंग से, रूप से, आकारमय और आकारशून्य से। यह संवाद ही है जो मेरे अंतर में सबको जीवित कर डालता है- फिर चाहे वह पत्थर हो, मिट्टी हो, प्रातःकाल हो, संध्या हो, सूर्य हो या कभी न देखे गये अंतरिक्ष के तारे-ग्रह पिण्ड। यदि हमारी नजरें शब्दों के बहाने उन्हें जान गयीं, चित्रों के बहाने उनके आकार-प्रकार को देख लिया तो सघन आत्मीयता का अखंड-अटूट, भावसिक्त संवाद शुरू हो जाता है। अंतरतम में और यह लगभग नियमित धड़कन की तरह जारी रहता है। साक्षात्कार वह सूत्र है जो मेरी कलम की प्रेरणा है। इसे लगभग संवाद जैसा ही मानें- मगर पूर्णतः संवाद नहीं, थोड़ा उससे अलग, उससे आगे की जमीन, उससे विस्तृत फलक। यह साक्षात्कार मेरी अंदरूनी आँख को रचनात्मक रोमानियत के कई पंख लगा देता है फिर मैं उड़ता हूँ अनोखी, अनजानी कल्पना के ओर-छोर गगन में उन्मुक्त भावाकुलता के साथ। यकीन माने मैं खांटी रोमांटिक हाड़-मांस का आदमी हूँ। यहाँ तक कि ठेठ यथार्थ को रोमांटिक जिद के तहत बदल देना चाहता हूँ। यही जिद ही वह दृष्टि है जो हमारे विषय में नये पन की गंध भरती है, उसे चिरस्थायी व्यक्तित्व देती है तो खैर! इस साक्षात्कार को एक पुकार आह्वान, सुमिरन और ध्यान भी समझिए। पुकारता हूँ भारतीय और देश-विदेश के अमर कवियों को, चाहे वे जीवित हों या मृत, बीत चुके हो या बीत रहे हों, आदिकाल के हो या आजकल के। देखे गये हों या सुने-पढ़े गये हों। हमारा वही खांटी-रोमांटिक चित्त साक्षात्कार करता है- कबीर से, नानक, मीरा, रैदास और भक्तवर सूरदास से। होशो हवाश में सपना देखता हूँ कि कबीर कहीं गंवई कच्ची-मिट्टी के चौराहे पर अपने दीवाने शिष्यों के साथ बैठकर 'रहना नहीं देस वीराना है' की अलख जगा रहे हैं। साक्षात्कार अपने अनुरागी चित्त से लाखों दरख्तों का, छाया का, पानी का, पर्वत और पठार का, बंजर और बीहड़ वन का। जब कलम के शिखर पर इन्हें बैठा लेता हूँ तो सुमिरता हूँ परमभक्त की तरह, बार-बार पुकारता हूँ। यह पुकार सांसारिक पुकार से बहुत अलग, भिन्न टोन वाली और अव्याख्येय होती है। नहीं बता सकता कि अन्तरतम की किस आकुलता, उत्फुल्लता और उछाह के साथ यह सुमिरन धधकाता हूँ। यही रोम-रोम में जलता सुमिरन ही मुझे नये भाव, नये चित्र और उन चित्रों को साकार करने के लिए नये शब्द, सुदूर, अज्ञात प्रतीक और चिंगारीनुमा नये विचार देता है। सच मानें हमारी रचना-प्रक्रिया एक ऐसा भुक्खड़ पेट है जो शायद कुछ भी खाकर तृप्त, संतुष्ट नहीं होता। अतृप्ति की यह बहु दिशात्मक आग ही मेरे सृजन का मूल रहस्य है और कारण भी।

मैं सदैव तलाशता रहता हूँ वह उपाय कि पहुँचा दे मेरे शब्दों को मेरे आम से आम पाठकों तक, परंतु यह हसरत, यह सपना बेतरह अधूरा है- अब तक। ले-देकर साहित्यिक पत्रिकाएँ ही स्थायी, नियमित और स्तरीय माध्यम बचती हैं जिसके सहारे आप निरंतर पाठकों के समक्ष उपस्थित रह सकते हैं। वैसे इनकी पहुँच और पकड़ सर्वाधिक है। यह बात और है कि ये पत्रिकाएँ अनिवार्यतः श्रेष्ठ और पाठक योग्य रचनाशीलता की संवाहिका नहीं है। आजकल फेसबुक और ब्लॉग्स खूब चल रहे हैं। लंबे समय तक इन

समय की शिला पर

दोनों माध्यमों के प्रति हमारे मन में एक उपेक्षा, उदासीनता और इंकार का भाव था। गाहे-बगाहे लिखित या मौखिक रूप में इनकी खुली आलोचना करने से नहीं चूकता मगर अब अपने गलत और प्रतिक्रियावादी नजरिए को सुधारने की जरूरत है। अब इनको साहित्यिक अभ्युत्थान के लिए एक वरदान के रूप में देखता हूँ। वैसे स्तरीयता, पाठकीय विश्वास का घोर संकट यहाँ भी है। कारण कि फेसबुक और ब्लॉग्स पर दस्तक देने की कोई मर्यादा, कोई कसौटी शर्त और सीमा नहीं है। कोई चाहे कितना भी अपनी कलाबाजी से पाठकों की नाक, आँख, मन और मस्तिष्क में दम कर रहा हो— कब्जा जमाया हुआ है यहाँ बावजूद इसके यदि आप अपनी कलम की सार्थकता के निर्मम मूल्यांकन हैं, यदि आप सस्ती और फोकट की लोकप्रियता की खुजली से पीड़ित नहीं हैं, यदि अपनी ऐकांतिक शब्द साधना को किसी भी हल्लावादी प्रचार से लाख गुना कीमती मानते हैं तो यहाँ लगातार उपस्थित रहकर भी इससे उत्पन्न लोकप्रियता के खतरे और चलताऊँ प्रशंसा से अप्रभावित रहेंगे। इसीलिए ठीक-ठीक आज की तारीख में मैं पत्रिकाओं के बाद साहित्यिक ब्लॉग्स और अपने फेसबुक पर आत्म मूल्यांकित रचनाओं, लेखों, विचारों को लगातार पहुँचाने का प्रयत्न करता हूँ। अपनी रचनाओं पर प्रतिक्रिया लिखित रूप में चिट्ठियों के माध्यम से कम, मौखिक रूप से अधिक मिलती हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएँ देने वाले दोनों तरह के पाठक हैं— साहित्यिक और गैर साहित्यिक। बल्कि गैर साहित्यिक, आम साहित्य प्रेमी ज्यादा। साहित्यिक वर्ग से ऐसे पाठक अधिक प्रतिक्रियाएँ देते हैं— जो देश के दूर-दराज शहरों में रहते हैं जो साहित्य के अलावा और किसी माध्यम से मुझे रत्ती भर भी नहीं जानते। युवा और वरिष्ठ साहित्यकारों ने बहुत कम, आम साहित्येतर पाठकों ने मेरा मनोबल अधिक बढ़ाया और जीवित रखा है— कारण बड़ा खुला है अपनी श्रेष्ठता और प्रसिद्धि का पत्थरी अहंकार जो अपने आगे किसी को सहने, सुनने स्वीकार करने और समर्थन देने की सोच ही गंवा चुके हैं। इसीलिए मैं इनके बीच उपस्थित रहकर भी अनिवार्यतः उपस्थित रहने की मानसिक बीमारी नहीं पालता। हाँ, साधारण से साधारण पाठक की चित्तभूमि पर सार्थक ढंग से खड़े रहने की ललक, सपना अवश्य है और जीवन पर्यन्त रहेगा।

पहला जागरण

अनगिनत इंसानों का ऋण नजर आता है
अपनी शरीर पर उगा एक-एक रोवां
हैरान हूँ, हतप्रभ हूँ, अवाक् कि
अपने पास अपना कुछ भी नहीं
कितना झूठा, भ्रम है
अपने जीवन को अपना जीवन कहना
कैसे कह दूँ?
कि मेरा शरीर, मेरा शरीर है
माँ की हँसी की तरह
भीतर खिलने लगा है— मिट्टी का चेहरा
कौन कहता है?
केवल औरत ही माँ होती है
कहीं मिट्टी के महामौन में
बैठ तो नहीं गयी है
हमारे पतन की गहन उदासी ?
मेरे लिए तो कुछ भी साधारण नहीं इस दुनियाँ में
न आग, न पानी, न अन्न, न ही बीज

न छाया, न धूप
न रोना, न सोना
यहाँ तक कि जूता-चप्पल भी नहीं
कहता हूँ सुबह
तो घूम जाता है— शताब्दियों से नाचती
एक स्त्री का चेहरा,
कहता हूँ— मैं
तो मन की न जाने कितनी गहराई से
उठने लगती है सम्पूर्ण सृष्टि की गूँज
पुकारता हूँ आकाश
तो प्रेम जैसा कुछ झरने लगता है हृदय में
मुझे तो भ्रम होता है
कि मैं अपने पैरों पर खड़ा हूँ
अपने बल पर चलता हूँ
अपने बूते उठता हूँ
अपने दम पर जीता हूँ
मुझे बार-बार भ्रम होता है।

समय की शिला पर

पृथ्वी को खोने से पहले

लाचार, अवाक् सा, साँसें रोके
सुदूर अतीत को झाँकता रहता हूँ अपलक
एक से बढ़कर एक पृथ्वी को अनमोल दिन,
अरे, खोते जा रहे हैं मुझसे।
आँखें उठाकर देखिए,
इतिहास करवट बदलता है- एक दिन
छोटे-छोटे दिन मिलकर ही
बड़ी-बड़ी सभ्यताओं को जन्म देते हैं
किसी दिन ही घटित होती हैं अमर घटनाएँ
भूलिए मत,
बुद्ध में बुद्धत्व छः साल में नहीं
सिर्फ छः दिन के भीतर प्रकट हुआ था
वर्षों से बुझे हुए मस्तक में
किस दिन चमकता हुआ विस्फोट भर जाय
कुछ कह नहीं सकते।
नाउम्मीदी के अंधकार में भी
एक न एक दिन
उम्मीद की सुबह खिलती है,
हजार बार पराजय में टूटे हुए कदम भी
एक दिन, जीत का स्वाद चखते हैं
घृणा की चौतरफा मार से किसी का मरा हुआ सिर
अचानक किस दिन
बेइंतहा सम्मान पाकर जी उठे
कौन बता सकता है ?
पिछला कोई भी दिन, नहीं है आज का दिन
वह कल भी नहीं आएगा,
आज का दिन, सिर्फ आज के दिन है
अनगिनत शताब्दियों के लिए।
१५ अगस्त की जगह, रख दीजिए १४ अगस्त
अर्थ का अनर्थ हो जाएगा,
नहीं हो सकता ५ दिसम्बर, ६ दिसम्बर की जगह
सिर्फ एक दिन का फासला
मनुष्य का चेहरा बदल देता है,
पलट देता है इतिहास को देखने का नजरिया
हमारे जीवन में हजारों दिन आए
और हजारों दिन गये

मगर धिक्कार ! कि हम जीने की तरह
एक दिन भी नहीं जीए।
पृथ्वी को खोने से पहले
जी भर के जी लेना चाहता हूँ
एक-एक दिन का महत्त्व,
सुन लेना चाहता हूँ
जड़-चेतन में अनंत काल से धड़कती
पृथ्वी का हृदय
पी लेना चाहता हूँ
सृष्टि के सारे अलक्षित मर्म
पा लेना चाहता हूँ
हर वृक्ष के प्रति माटी की ममता का रहस्य
इसके बगैर जीना तो क्या ?
इसके बगैर मरना तो क्या ?

प्रतीक बनकर कौन मरता है?

कहाँ रह गये हैं शब्दों में अर्थ,
बड़े से बड़े अर्थ अब अर्थ कहाँ रहे ?
सिर से पाँव तक भिगो दें जो शब्द
ऐसे शब्दों के मर्म अब कहाँ खो गये हैं ?
नजरों में 'नजर' अब नजर नहीं आती,
गायब है चेहरे में से चेहरा
चुप्पी का अर्थ किसी को सुनाई कहाँ देता है ?
झुके हुए हाथ न उठते हैं, न उठाते हैं,
कायर से कदम न बढ़ते हैं, न बढ़ाते हैं।
समय, कुसमय बोलती रहने वाली जुबान,
अब बोलती ही कहाँ हैं ?
खो चुकी है आग अपने नये-नये अर्थ
जीवित रहने का मकसद जीवित रहना है
इतिहास बनता जा रहा है
चिंगारी की तरह जीने वाला आदमी
घटने लगे हैं- जीते जागते उदाहरण
अकाल पड़ गया है
एक से बढ़कर एक मिसालों का
अपना अपना नाम अमर करने के फैशन में
गुमनामों को कौन जीता है ?
प्रतीक बनकर कौन मरता है ?

समय की शिला पर

गंगा का अनाम

(‘जन-जन में श्रद्धा से गंगा मैया कही जाने वाली नदी का चेहरा आज पहचानने लायक नहीं रह गया है।’)

पछाड़ खा-खाकर

रात-दिन

खून के आँसू रोती

अँचरा पसार कर प्राण की भीख मांगती

जहर का घूँट पी-पीकर

मौत के एक-एक दिन गिनती,

गूंगी पराजय की मूर्ति बन गयी है गंगा

अरे! तुम्हारे छूते ही गंगा का पानी

काला क्यों हो जाता है?

तुम्हारे पास जाते ही

गंगा कांपने क्यों लगती है?

तुम्हारे नहाते-नहाते

गंगा के विषाक्त हो जाने का रहस्य

अब समझ में आया,

तुमने कैसा प्रेम किया?

कि भीतर-भीतर सड़ गयी है गंगा

तुमने कैसी पूजा की?

कि जन्म-जन्मांतर के लिए दासी बन गयी,

तुमने कैसी श्रद्धा की?

कि मर रही है नदी

कितना भयानक साबित हुआ, तुम्हारा उसे माँ कहना?

कितना उल्टा पड़ गया, गंगा का माँ होना?

सिद्ध हो चुका है तुम पर, नदियों की हत्या का इतिहास

यह नदी है या कोई और?

जो मात खा-खाकर भी

धैर्य खोने का कभी नाम ही नहीं लेती,

पी जाती है, अपने पानी का ‘पानी उतर जाना’

छिपा जाती है तरंगों में, हाहाकारी विलाप

आखिर यह है कौन?

जो मर-मिटकर भी

करोड़ों शरीर में प्राण सींचती है;

सदियों से गंगा बनारस के लिए जीती है,

काश, गंगा के लिए बनारस चार दिन भी जी लेता

बनारस बसा हुआ है, गंगा की आत्मा में

मिट्टी में घँसे हुए बरगद के मानिंद

मगर देखो तो

बनारस के लिए गंगा की हैसियत

अहक-अहक कर जीती हुई

बीमार बुढ़िया से भी बदतर है

समूचे शहर का दुख-दर्द धो डालने के लिए

गंगा के पास आँसू ही आँसू हैं,

मगर बनारस की आँखों में

गंगा के लिए आँसुओं का अकाल ही अकाल

रो सको तो जी भर कर रो लेना,

शायद तुम्हारे माथे पर लगा हुआ

गंगा की हत्या का ऐतिहासिक कलंक

थोड़ा-बहुत धुल जाय।

माह की कविता: जड़ों की महानता का गीत

जैसे शब्द-शब्द में छिपा है

हृदय में बरसते अर्थों का जादू

जैसे वाणी में छिपी है

असीम चेदना की ऊँचाई

जैसे शरीर, हर माँ की कीमत सिद्ध करता है

वैसे ही हर माँ से उठती है

पृथ्वी जैसी गंध

वृक्षों से झरती है, जड़ों की महानता

गूँजती है कल्पना में

सृष्टि की महामाया

धूल-मिट्टी में

अपने प्राणों की पदचाप सुनाई देती है

दाने-दाने में जमा है

अनादि काल से बहता हुआ

आदमी का खून

उतरना फसलों की जड़ों में

तुम्हें विस्मित कर देगी

खून-पसीने की बहती हुई

कोई आदिम नदी,

पूछो तो किस पर नहीं लदा है

रात-दिन का कर्ज?

सोचो जरा कौन जीवित है

परिचय

भरत प्रसाद

२५ जनवरी १९७०ई., ग्राम- हरपुर, जिला- संत कबीर नगर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा: एम.ए. एम. फिल. और पी-एच. डी. (हिंदी विभाग) जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

कहानी संग्रह: 'और फिर एक दिन', इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, सन् २००४, (पुरस्कृत)

'चौबीस किलो का भूत', साहित्य भंडार, इलाहाबाद, सन् २०१६

काव्य संग्रह: 'एक पेड़ की आत्मकथा', अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), सन् २००९ (पुरस्कृत)

'बूँद-बूँद रोती नदी', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सन् २०१६

लेख संग्रह: 'देसी पहाड़ परदेशी लोग' शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, सन् २००७ (पुरस्कृत)

'सृजन की इक्कीसवीं सदी', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सन् २०१३

'बीच बाजार में साहित्य', शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सन् २०१६

आलोचना: 'नयी कलम: इतिहास रचने की चुनौती', अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), सन् २०१३

'बीहड़ चेतना का पथिक: मुक्तिबोध', अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), सन् २०१६

'कविता की समकालीन संस्कृति', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् २०१७

'प्रतिबद्धता की नयी जमीन', प्रतिश्रुति प्रकाशन, कलकत्ता, सन् २०१८

विचार: 'कहना जरूरी है', प्रतिश्रुति प्रकाशन, कलकत्ता, सन् २०१६

स्तंभ लेखन: 'परिकथा' पत्रिका के लिए 'ताना-बाना' शीर्षक से स्तंभ लेखन (२००८-२०१२ई.)

'लोकोदय' पत्रिका के लिए 'गहरे पानी पैठी' शीर्षक से स्तंभ लेखन।

रचना-अनुवाद: कविताओं का अंग्रेजी एवं बंगला भाषाओं में अनुवाद

संपादन: 'जनपथ' पत्रिका के युवा कविता विशेषांक, 'सदी के शब्द प्रमाण' का संपादन- २०१३ ई.

संस्थापक: लोकांचल: ग्रामीण जनता के भौतिक, आर्थिक और वैचारिक उत्थान को समर्पित संस्था।

पूर्वांगन: साहित्य, कला और संस्कृति के अभिनव विकास को समर्पित संस्था।

प्रकाशित रचनाएँ: साहित्य की लगभग सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में लेखों, कहानियों और कविताओं का निरंतर प्रकाशन।

संप्रति: एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय वि. वि., शिलांग, मेघालय- ७९३०२२,

मो. ०९३८३०४९१४१, ०९७७४१२५२६५, ई-मेल: deshddhar@gmail.com

फेसबुक: bharat prasad

पंचतंत्र नहीं लोकतंत्र की कहानी

बुजर्गों ने
कितनी मेहनत से
रटा-रटाकर सिखाया था-
“शिकारी आयेगा
जाल बिछायेगा
दाना डालेगा, पर
लोभ में फँसना नहीं”
लेकिन हम भूल गए
बुजर्गों की सिखाई बात
और फँस गए
लोभ में
अब कसमसा रहे हैं
शिकारी की जाल में कि
जाने क्या होगा आगे
बूढ़े चूहे को भेजा गया है-
संदेशा
जाल को काटकर, मुक्त कराने का
लेकिन उन्होंने आने में जताई
अपनी असमर्थता
कहा कि
दाँत अब नहीं रह गए हैं पैने
बहेलिया खुश है कि
बहुत दिनों बाद
हाथ लगा है शिकार
बूढ़ा चूहा सोच रहा है कि
वे अपने बच्चों से कहें कि
दाँत को कर ले पैने
भविष्य में काटना पड़ेगा
न जाने कितने जाल शिकारी के।

बंगालिया

देर रात तलक तो उसे
लाल चादर ओढ़े देखा
सुबह मिला तो
रामनामी ओढ़े मिला
दूरंदाज था
‘टू इन वन’ की व्यवस्था
पहले से कर ली थी
सुना है बाजार में आजकल
रामनामी चादर का अकाल पड़ गया है।

अमृत कविता

हर साँस को ढाल दिया
कविता में
पूरी उम्र जिया
कविता में
जिंदगी के बाद भी
एक और जीवन देगी कविता
मृत्यु से अमृत की ओर
यात्रा है- कविता

बंशद

नंगे हैं
हमाम में सब
और बजा रहे हैं
एक-दूसरे को देखकर तालियाँ
कैसे ढकते
अपनी अपनी लज्जा को
इसलिए कह रहे हैं हँस-हँसकर
तू भी नंगा
हम भी नंगे
भज हर हर गंगे
हर हर गंगे!

माक्सवाङ्क

खेत-खलिहानों से
कल-कारखानों से
निकलकर अब
माक्सवाद आसीन हो गया है
विश्वविद्यालयों के 'पीठ' पर
जहाँ विद्वतजन बताते हैं कि
डायनासोर जैसी विशाल विचारधारा
कैसे विलुप्त हो गयी
जबकि कुछ दिन पहले तक तो
सभी मिलकर
जोर-जोर से गा रहे थे गीत कि
'हम होंगे कामयाब एक दिन'

सिंसकियाँ

सुन रहा हूँ
सिंसकियाँ
हजार प्रकाश वर्ष दूर
अतीत की उन गलियों से
जिस पथ
वसंत के दो कदम
संग-संग चले थे
प्रदूषित समय में
दिन के कोलाहल में
अपने आकाशगंगा के
सैकड़ों क्षुद्र ग्रहों से
नित्य टकराता हूँ
ओ प्रिये!
आधी रात को जब सुनता हूँ
सिंसकियाँ
मैं देव पुरुष होने को बेचैन हो जाता हूँ।

जगद्वेष्ट

और एक चोर इधर का है
जो नगरसेठ हैं
राजदरबार का सम्मानित सदस्य है
राजा का बरदहस्त है
निर्लज्ज है इतना कि
ऋण लेकर घी पीता है
उड़न खोटोला पर उड़ता है
उस किसान की तरह तो बिल्कुल नहीं है
'जो ऋण में जन्म लेता है
और ऋण में ही मर जाता है
ऋण नहीं चुका पाने की ग्लानि से
आत्महत्या कर लेता है।'

तिस्ता

तिस्ता तुम मेरे साथ
आँख मिचौली तो खेल रही हो
पर बहुत थकी-थकी लग रही हो
इस बार
निष्प्राण-सा
किसने हर ली तुम्हारी
चंचलता अलहड़पन
शोख अदा
ओह तिस्ता
तुम तो बंधी हो
एक नहीं दो नहीं
कई-कई बंधनों में
कोई मुक्त करो तिस्ता को
इन बंधनों से।

संपर्क: एकता हाईट्स.ब्लॉक- २/११ई, ५६,
राजा एस. सी. मल्लिक रोड, कोलकाता-७०००३२, मो. ९००२०२५४६५

काली प्रसाद जायसवाल

तुम्हारा आना

सुना था लोगों से मैंने
जब ढलेगी शाम
छाने लगेगा अंधेरा
तुमने कहा था, तुम आओगे
अंधकार से त्रस्त जग को
अपनी आलोक प्रभा से
आलोकित कर जाओगे
किंतु, जब ढली शाम
छाने लगा अंधेरा
डूब गए गहन अंधकार में
घर-द्वार, आंगन
खेत-खलिहान सब
एकाकी एक कोने में
करता रहा मैं तुम्हारी प्रतीक्षा
एक विश्वास था मन में
जब कहा है तुमने
तुम जरूर आओगे
किंतु न आये तुम
न फैला प्रकाश ही
रात होने लगी गहरी
मिटने लगे सब चिह्न जीवन के
ठेस सी लगी मन को
टूटने लगा सारा विश्वास
तुम्हें न आना था
न आते
झूठी तसल्ली तो न दे जाते
तभी एक शोर-सा उठा
मन की गहराईयों से

एक स्वर सा फूटा
उठो जला लो दीप
और अपने कांपते हाथों से
मौने जलाया दीप
फैल गया सर्वत्र प्रकाश
सहसा एहसास-सा हुआ
तुम्हारा यों आना
और आकर
चुपचाप चले जाना।

अंतिम दस्तक

सपना था आँखों में
कि धरती की हर चीज पर
हो हक सभी को
पर
कुछ सपने हुए पूरे
कुछ रह गये अधूरे
न तुमसे है शिकायत
न खुद से है गिला
था जितना मुकद्दर में
उतना मुझको मिला
बस
इतनी कृपा करना
हँसते-हँसते रो दे हम
इतना मत हँसाना
अब है
अंतिम इच्छा
कि जब तुम दो
अंतिम दस्तक
तब मैं
स्वयं द्वार खोलू।

पिता का दर्द

मेरा बीता कल
आज से अच्छा था
मेरे बेटे
तब तू बच्चा था
तब मैं जो कहता था
तू वह सुनता था
मेरी हर बात को गुनता था
पर अब मेरी बात को
बूढ़े की बकवास बताता है
मैं सठिया गया हूँ
ऐसा कहकर
मेरे बुढ़ापे का मजाकर उड़ाता है
आज मैं पराया हो गया तो क्या
कभी मैं अपना था
मेरे बेटे मेरी आँखों में
तब कितना सपना था
दुआ बहुआ बन जाए
ये मुमकिन नहीं है
औलाद के लिए
बाप के मुँह से
बहुआ नहीं निकलती
जीभ कट गई दांत से
तो सजा किसको दें
दांत भी अपने जबां भी अपनी है
मेरे बेटे बस इतना ही कहूँगा
एक दिन तू भी
बूढ़ा हो जायेगा
तब तुझे बूढ़े बाप का
दर्द समझ में आयेगा।

संपर्क: २२, सरकार लेन, कोलकाता- ७००००७, मो. ९८३१३२१२५७

वाराणसी में गिरता पत्थर

मैं कल जब यहाँ था
ठीक उसी समय
बस में सवारी करते हुए
कार चलाते हुए
बाइक से घर लौटते हुए
मैं वाराणसी में भी था
सुबह ऑफिस जाते वक्त बेटी ने कहा था
पापा शाम आज बर्थ डे है मेरा
केक लाना मत भूलना
लौटते वक्त मैंने केक को
कार की पिछली सीट पर संभाल कर रखा था
कॉलेज के लिए निकलते वक्त माँ ने याद दिलाया था
बेटा लौटते वक्त दवाई लाना मत भूलना
वरना पूरी रात बीतेगी खांसते खरोसते हुए
लौटते वक्त मैंने दवाइयों को
बाइक के हैंडल पर लटका रखा था
आज सुबह लाठी के सहारे चलकर
पत्नी ने डबडवाई आँखों से कहा था
नाती-पोतों को ले आओ बड़ा मन है उनसे मिलने का
शाम को मैं, बस में अपनी पोती के संग लौट रहा था
आहिस्ता आहिस्ता
बाइक, कार, ऑटो और बसों में
गंगा किनारे सड़कों पर रेंग रही थी जिंदगियाँ
उस पल जिंदगी की रफ्तार धीमी थी
क्योंकि शहर में विकास की कलियाँ खिल रही थीं
अचानक गंगा के शहर में वज्रपात हुआ
विकास का एक पीलर
धम्म से जमीन पर औंधे मुँह गिर पड़ा
और नीचे दबकर खाकसार हो गई
बाइक, कार, ऑटो और बसों में रेंग रही जिंदगियाँ
लिखने से पहले ही मिटा दी गई कई कहानियाँ

अनसुनी कर दी गई सारी प्रार्थनाएँ
जो गूँज रही थी ब्रिज के पास बने मंदिरों और मस्जिदों में
सड़क की दूसरी ओर एक पागल चिल्ला रहा था
कंक्रीट के जंगल कुर्बानी मांगते हैं...
कंक्रीट के जंगल कुर्बानी मांगते हैं...
मगर उसकी आवाज
क्रंदन, चित्कार और ट्रैफिक के शोरगुल में दब गई।

किताबें पढ़ती दीमकें

होना तो चाहिए था
आइंस्टीन से भी तेज
दीमकों को दिमाग
हर रोज चट कर जाती है
पूरी की पूरी किताब
चटकारे लेकर पढ़ती हैं
जमीन के छुपाई हुई
मस्तराम की कहानियों को
तहखानों में संभाल कर रखी हुई
सविता भाभी की रसभरी बातों को
यहाँ-वहाँ बेतरतीब से रखी हुई
कविताओं और हरे-भरे पन्नों को
कभी देखा है आपने
तस्लीमा या लैने की किताबों का
बॉयकाट करते हुए दीमकों को
अलग-अलग नजरों से देखते हुए
बेस्ट सेलर और रद्दी किताब को
दीमकें मन लगाकर पढ़ती हैं
धार्मिक और धर्मविरोधी किताब को
आपसे, मुझसे कहीं आगे हैं दीमकें
वे न केवल पढ़ती हैं
बल्कि अपने भीतर समा लेती हैं
एक दिन में पूरी की पूरी किताब को।

संपर्क: अधिकारी (रा.भा), मंगलूर रिफाइनरी एंड पेट्रोकेमिकल्स लिमिटेड, कर्नाटक

पोस्ट: कुत्तूर, वाया काटिपल्ला-५७५०३०, ई-मेल: lalitcallingyou@gmail.com

आशुतोष सिंह

गजल

तेरे कलाम की सूरत तेरे कहन की तरह।
कहाँ से चाल मैं लाऊँ तेरे चलन की तरह॥
नजर नवाज नजारों के दरमियाँ नही।
डरी हुई सी लगे है किसी दुल्हन की तरह॥
जो कर सको तो रवानी नयी करो पैदा।
चलो न चाल नए साल के चलन की तरह॥
सबूत क्या है की हजरात जिंदगी देंगे।
न वो किरन की तरह हैं न हम चमन की तरह॥
तमाम उम्र था लहजा मेरा वही तहतुल।
कही गयी न वो बातें गजल बदन की तरह॥
इसी गली में मेरा आना जाना है साहिब।
यहीं रहे है मेरा दर्द फिक्रो-फन की तरह॥
कोई तो हो कि अंधेरो में रौशनी बख्शो।
कोई तो बात करे मुझसे हमसुखन की तरह॥

वो हवाओं के जब रू-ब-रू हो गया।
तो वफाओं में पतझड़ शुरू हो गया॥
धूप में फूल की पंखुड़ी को छुआ।
और जमाने का शिकवा रफू हो गया॥
चंद लम्हों में कितने जमाने मिले।
गुफ्तगू का सफ़र जब शुरू हो गया॥
गुल ने जादू किया क्या पता कौन-सा।
खार था अब वही रंगो-बू हो गया॥
जब बदलने के मौसम ने अंगड़ाई ली।
झंडाबरदार दल का अदू शत्रु हो गया॥

ये माना उम्र कटी एक घर बनाने में।
बुछेक ताजमहल हैं गरीबखाने में॥
जो खुल के बोलने में सौ हिचक की मारी थी।
वो खुल के गा ही उठी लोरियाँ सुनाने में॥
जो साथ-साथ जिए जाते हैं वो मीठे लम्हे।
कई जन्म तो लग ही जाते हैं भूलाने में॥
कोई हो साथ तो रस्ते में डर नहीं लगता।
अगरचे हमसफ़र मिलना कठिन जमाने में॥
तुम्हारे पास अगर हो तो भेज दो नक्शा।
कोई मदद तो मिले राह ढूँढ पाने में॥
जमीन, बीज, हवा-पानी, धूप और माली।
परस्तिशें हैं बहुत फूल को खिलाने में॥
था जिसकी आँख प' मुह्त से ऐब का कब्जा
वो सबसे आगे रहा रास्ता बताने में

ये भी क्या? आँख में नमी-सी है।
तू है लेकिन तेरी कमी-सी है॥
शोर था आसमां तलक जिसका।
तर्जुमानी थमी-थमी-सी है॥
नफ़्तों के हजार हों बाईस।
गर्ज की शै भी आलमी-सी है॥
गुलमोहर धूप में खिला-सा है।
इसकी आदत भी आदमी-सी है॥
जिंदगी, चाह, जुस्तजू, सपने।
सब में बस तू ही तू रमी-सी है॥

संपर्क: डी एस ७९, चर्च पारा, आद्रा, जिला पुरलिया, प. बंगाल, पिन- ७२३१२१, मो. ८७८९३५२६९७

अष्टभूजा शुक्ल

कविता लिखना मेरे लिए आत्मकथा लिखने जैसा ही है लेकिन कोई भी आत्मकथा केवल आपबीती नहीं हो सकती। उसमें हमारा समूचा परिसर, आसपास और चतुर्दिक फैला जीवन-प्रसार होता है। कहीं-कहीं दृष्टि और मन देर तक विलम करते हैं तो उन दृश्यों, वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की आवाजाही और चहल-पहल शुरू हो जाती है जैसे उमस बढ़ने पर आसमान में बादलों की दौड़ धूप तेज हो जाती है। इनमें बहुत से बादल के टुकड़े शुष्क और बेपानी होते हैं तो बहुत से बूँदों से संघनित और आर्द्र। अधिक से अधिक सजल शब्दों में कविता का दीर्घकालिक जीवन संचित होता है। यह संचय किसी कवि की अपनी चेतना, काव्याभ्यास और जीवनानुभवों की सांद्रता पर निर्भर करता है।

मैं कवि नहीं हूँ लेकिन कविता लिखने का यत्किंचित् प्रयत्न करता हूँ। शुरू-शुरू में कवि-कर्म जितना सुगम प्रतीत होता है, शनैः शनैः कालक्रम में वह उतना ही असाध्य और असंभाव्य होता जाता है, अन्यथा कविता का वृत्त बहुत सिकुड़ जाने की आशंका बनी रहती है। जो कविता अपनी ही खींची गई लकीर को अतिक्रमित नहीं कर पाती तो कवि का काव्यादर्श परिमित होता जाता है। इसलिए अपनी कविताओं को लेकर व्यक्तिगत रूप से मैं बहुत सशंकित रहता हूँ।

यद्यपि लेखन ही मेरा प्राथमिक कर्म है लेकिन इसकी जगह अक्सर और जगत् की दूसरी प्राथमिकताएँ जगह बना लेती हैं और लेखन टलता जाता है। इस लिहाज से मैं बहुत मंदगामी हूँ- प्रचुरता में सफल। अब जिन कविताओं पर खुद ही आसक्त हो पाता हूँ उनकी संख्या अपेक्षया बहुत कम है। फिर भी सुधी पाठकों, सराहकों, श्रोताओं और मित्रों के पीठ ठोकते रहने से उत्साह बना रहता है। कविता का 'आत्म' व्यक्तिगत न होकर सर्वा... का प्रतिदर्श है फिर भी वह सबसे पहले स्वान्तःसुखाय निर्मिति है। कभी कभी लंबे अंतराल तक कुछ नहीं लिख पाता लेकिन कभी कभी छप्पड़फाड़ हो जाता है। बस कविता का बगूला उठना चाहिए।

हम प्रार्थना करते हैं

इस बुरे वक्त में

भुतुआ कद्दू जैसे मूड़ों को

कुछ हो जाए

तो घबराने की कोई बात नहीं

जलकुंभी के जड़ जैसी मूछों को

कुछ हो जाए

तो बहुत चिंता की बात नहीं

झोंझों जैसी दाढ़ियों को

केहरि-कटि या वृषभस्कंध को

निर्वीर्य होते पौरुष को

सूँघ जाए साँप

तो भी बहुत निराश होने की जरूरत नहीं

लेकिन इस बुरे वक्त में

मैदा की लोई जैसी देहों

कच्ची मूगफली की दालों जैसे दाँतों

तोतली बोलियों

और केले की बतिया जैसी नन्हीं अँगुलियों को

कुछ न हो

इसके लिए हम प्रार्थना करते हैं

इस बुरे वक्त में।

किस ओर देखूँ

अपनी अपनी ओर

देख रही हैं

सभी दिशाएँ

प्राची पूरब की ओर देख रही है

पश्चिम की ओर देख रही है प्रतीची

ऊपर, ऊपर की ओर देख रहा है

नीचे, नीचे की ओर

कोने भी देख रहे हैं कोनों की ओर

पेड़ देख रहे हैं आकाश की ओर

जबकि फल धरती की ओर देख रहे हैं

प्याज देख रही है चाकू की ओर

जबकि रोटी नमक की दिशा में देख रही है

अब किस ओर देखूँ मैं?

मुखड़ा तो इधर करो यार

ओ मेरी दिशा!

तो तुम हो!

संपर्क: संस्कृत महाविद्यालय, चित्राखोर, पो. बरहुआ, बनकटी

बस्ती- २७२१२३, मो. ८७९५५९४९३१

विशेष चंद्र नमन

स्नातक (गणित) तृतीय वर्ष

श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज (दिल्ली वि.वि.)

खत नहीं लिखे सदी से!

सुबह उठते ही कहीं से
ओसारे की बैठकी में
पछिया की बयार आयी
जाने कितनी यादें लायी
छप्परोँ को भेद मुझ तक
इक किरण पहुँची व पूछा
लौटे हो तुम किस बदी से?
खत नहीं लिखे सदी से!

थान पर बैठी थी टिकरी
हो चली थी बुझती दिबरी
देख मुझको रह न पायी
और उठ कर फिर रंभाई
आँखों से वो पूछती थी
जाके तुम परदेश प्यारे
स्वाद तुम भूले दही के?
खत नहीं लिखे सदी से!

चल पड़ा मैं, खेत देखूँ
माटी- पानी रेत देखूँ
धान की बाली ने पूछा
आम की डाली ने पूछा
वो जो तुमको खींचती थी
तेरा हर पल सींचती थी
अब वो बहना भूलती है
रोज थोड़ा सूखती है
बातें तुमने की नदी से?
खत नहीं लिखे सदी से!

अधहवीं चाह

बास्केटबॉल के कोर्ट की सीढ़ियों से
निहार रहा था आसमान
कि भनक लग गयी हवाओं को
इतने तेज बहे कि
क्षण में बुला लाये बादल
देखने भी ना दिया; ढाँप लिया पूरा आकाश
मुँह चिढ़ाते, बाल उड़ाते
बहने लगे ऊपर से नीचे
झाड़ गए नीम के अधहरे पत्ते
मैंने पूछा झरते पत्तों से
दर्द नहीं हुआ!
कहते, उड़-फड़फड़ाकर जमीन की पंखुड़ियों पर
बैठने की ललक थी
सो पता न चला कब छूट गए टहनी से
पर अब जो गिरे हैं तो
छिटक गए हैं बास्केटबॉल कोर्ट की फर्श पर
थोड़ी चोट लगी, थोड़ी जमीन न मिली
सो दर्द है
तुम अबकी निहारो ना ज़मीं को
कहीं फिर भनक लगी हवाओं को
तो उड़ा ले आएँगे कुछ धूल, थोड़ी सी मिट्टी
तुम्हारे लिए, हमारी खुशियों के लिए।

संपर्क: पंजाबी गली, सराय पीपल थाना, हाउस न. २५१/१,
आदर्शनगर, नई दिल्ली- ११००३३, मो. ७६५४२१४५०५

फरीद चा

डॉ. पंकज साहा

फरीद चा को मैं कभी समझ नहीं पाया। पिताजी के बचपन के मित्र थे। बाद में दोनों एक साथ कस्बे के रजिस्ट्री ऑफिस में एक्स्ट्रा क्लर्क, फिर क्लर्क बने। मेरे घर उनका आना-जाना था। एकदम बचपन की बातें मझे याद नहीं; पर जब से होश संभाला उन्हें सफेद कुरता-पाजामा में ही देखा। पाजामा घुटने से चार इंच ऊपर। लंबा-चौड़ा-तगड़ा शरीर। मौलानाओं जैसी दाढ़ी। काले घने बाल। मुझे देखते ही गोद में उठा लेते। कुरते की जेब से एक लेमनचूस निकाल कर देते। लेमनचूस से ज्यादा आनंद मुझे उनकी दाढ़ियों से खेलने में आता था। वे बुरा नहीं मानते। कोई मुझे टोकता तो वे हँस देते। कोयले के समान काले चेहरे के मध्य उनकी सफेद दंत पंक्तियाँ चमक उठतीं।

मेरी माँ फरीद चा से परदे की आड़ में ही बातें करती थीं, पर मेरी दादी उनके आते ही दौड़कर बैठकखाने में पहुँच जातीं और घंटों दुनिया जहान की बातें करतीं। फरीद चा अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अपने धर्म से उन्हें अगाध प्रेम था, पर दूसरे धर्मों का वे आदर भी करते थे। कभी-कभी तो हिंदू धर्म के किसी मामले में अगुआ की भूमिका भी निभाते थे। हमारे कसबे से लगभग आठ मील दक्षिण-पूर्व कोयला बाजार में उनका गाँव था। वहाँ पच्चीस-तीस मुस्लिमों एवं पाँच-छह गरीब हिन्दुओं के घर थे। एक मस्जिद वहाँ थी, पर कोई मंदिर न था। हिन्दुओं में इतना सामर्थ्य न था कि अपने खर्चे से वे एक मंदिर का निर्माण करवा सकें। फरीद चा को हिन्दुओं की भावना का पता चला तो उन्होंने सारे गाँव वालों से चंदा एकत्र कर न केवल मंदिर का निर्माण करवाया, बल्कि अपने खर्चे से तीन दिनों तक कीर्तन एवं भोजन का प्रबंध भी करवाया।

मेरे पिताजी फरीद चा की तरह धार्मिक प्रवृत्ति के न थे। ईद में या किसी आयोजन में फरीद चा के घर दावत का आनंद लेने में उन्हें परहेज न था। ऐसे ही एक दावत में पिताजी मुझे भी अपने साथ ले गये।

कोयलाबाजार मोड़ तक तांगे की सवारी उसके बाद लगभग एक मील पैदल या साइकिल पर चलकर उनके गाँव जाया जा सकता था। हमलोग तांगे से मोड़ पर उतरे। वहाँ फरीद चा दो साइकिलें लेकर खड़े थे। एक साइकिल उनका भतीजा लेकर आया था। पिताजी ने एक साइकिल संभाली। उनका भतीजा पीछे कैरियर पर बैठा। मैं फरीद चा की साइकिल पर आगे बैठा। कच्ची सड़क पर लड़खड़ाती हुई साइकिलें चल पड़ीं। दोनों ओर गेहूँ की पकी लहलहाती फसलें। कहीं-कहीं सरसों। फरीद चा की साइकिल आगे थी। उन्होंने दूर एक धब्बानुमा आकृति की ओर संकेत करते हुए कहा, “वह है हमारा कोयलाबाजार गाँव।”

मैंने बाल-सुलभ कौतूहल से पूछा, “चाचा क्या वहाँ कोयले का बाजार है?”

फरीद चा हँसकर बोले, “नहीं वहाँ तो कोयले की एक भी दुकान नहीं है। कोयला तो हमें शंकरपुर से ही लाना पड़ता है।”

“तब इस गाँव को कोयलाबाजार क्यों कहते हैं?”

“पता नहीं, मैंने जब से होश संभाला, कोयले का कोई कारोबार यहाँ नहीं देखा न अपने बुजुर्गों से इस बारे में कुछ सुना। हाँ, यहाँ की अमराइयों में कोयलें खूब कूकती हैं। हो सकता है इसी कारण किसी ने इसका नाम कोयल बाजार रखा हो जो बाद में बिगड़कर कोयलाबाजार हो गया हो।”

मेरे बाल-मन में कुछ समाया, कुछ नहीं समाया। पर उस समय मेरा मन फूला न समाया जब गाँव को चारों ओर से घेरे हुए आम के बागीचे में हमने प्रवेश किया। आम में मंजर आ गये थे। मंजर की खुशबू मदहोश कर रही थी और कोयलें कूक-कूककर मानो हमारी अगवानी कर रही थीं।

गाँव के लगभग सारे घर कच्चे थे। गोबर और मिट्टी से पुती हुई दीवारों पर खपरैल की छत। प्रायः प्रत्येक घर के बाहर मुर्गियाँ विचरती हुई। किसी-किसी के दरवाजे के बाहर गाय-बैल बँधे दिखे। घर के बाहर ही नाद और नाद में गाय-बैलों को सानी-पानी कराते कुछ लोग।

फरीद चा का घर अपेक्षाकृत बड़ा था। अंदर बड़ा आँगन। आँगन में कुआँ। एक ओर खपरैल के छाजन में कुछ गाय-बैल-बकरियाँ बँधी हुई। मुर्गे-मुर्गियाँ आँगन में, छाजन में, कमरों में निर्बाध आ-जा रहीं थीं। कभी-कभी वे इस प्रकार उधम मचातीं जैसे बच्चे ननिहाल में उधम मचाते हैं।

पिताजी फरीद चा के साथ बाहर बरामदे में बैठे, परंतु मुझे फरीद चा की बेटी सलमा हाथ पकड़कर अंदर ले गई। सलमा की अम्मी ने मुझे इस प्रकार अपने आँचल में छुपा लिया जैसे मैं उनका कोई बिछुड़ा हुआ बेटा हूँ। सलमा मुझसे चार साल बड़ी थी, पर उसने मुझे अपना दोस्त बना लिया और मैंने उसे दीदी मान लिया। वह मुझे मकान के पीछे अमराई में ले गई जहाँ एक पेड़ की डाल पर झूला लगा हुआ था। उस दिन जैसी मस्ती मैंने अपने

जीवन में कभी नहीं की।

कोयला बाजार के पास के गाँव के मिडिल स्कूल से सातवीं कक्षा पास करने के बाद सलमा आपा का एडमिशन हमारे कसबे के हाईस्कूल में हो गया। बेटी की शिक्षा के लिए फरीद चा ने कस्बे में गंगा किनारे एक मकान बनवा लिया। मेरा अधिकांश समय उनके मकान में सलमा आपा के साथ खेलने-कूदने में बीतने लगा।

उत्तर की ओर कल-कल करती गंगा नदी और दक्षिण की ओर पहाड़ियों से घिरे बीस-पच्चीस हजार की आबादी वाले हमारे कसबे शंकरपुर ने तब न तो गाँव का अनगढ़पन उतारा था न शहर की आधुनिकता ही ओढ़ी थी। हिंदू एवं मुस्लिम आबादी का अनुपात साठ एवं चालीस प्रतिशत का था। कसबे के प्रत्येक मोहल्ले में सदियों से हिंदू-मुस्लिम एक साथ रहते आये हैं। कहीं-कहीं तो दोनों के घरों के बीच की दीवार एक ही है। देश के किसी भी कोने में हिंदू-मुस्लिम दंगे होते तो भी हमारा कसबा बिल्कुल शांत रहता।

होली में मुस्लिमों की एवं ईद में हिन्दुओं की शिरकत आम बात थी। होली में अगजा जलाने के लिए हमलोग रात में लकड़ियाँ चुराकर लाते थे। दोनों समुदायों के लोगों को दूसरे दिन सुबह पता चलता था कि किसी की बाँस की टट्टी, किसी की पुरानी खाट, किसी की टूटी चारपाई, किसी के घर में रखा लकड़ी का कुंदा गायब है। सबों को पता होता कि वे कहाँ गये होंगे, पर कोई कुछ कहता न था। कुछ लोग तो हँसते भी थे। कुछ मुस्लिम तो अपने घर में रखी लकड़ी स्वतः दे देते थे।

कुछ वाकये मुझे विशेष तौर पर याद हैं, जिन्हें बताने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। कसबे में फरीद चा के चचेरे भाई की जूते की दुकान थी। उनका बेटा नजीर फिल्मी हीरो की तरह खूबसूरत था। काफी फैशनबाज। अपनी खूबसूरती के कारण वह शंकरपुर का प्रिंस कहलाता था। परंतु विधि का विधान भी विचित्र था। नजीर के अब्बा ठीक उससे उलट थे। काला-कलूटा, मरियल, पिचके गालों वाला। शरारती बच्चे नजीर को देखकर कहते “बाप छछूंदर, बेटा धरमेन्दर।” नजीर चिढ़ जाता और गालियाँ बकता हुआ मारने को दौड़ता। चिढ़ाने से पहले ही बच्चे भागने की पोजीशन ले लेते थे। पर कभी-कभी कोई पकड़

में आ जाता था, तो वह बहुत पिटाई करता। जिस बच्चे की पिटाई होती थी उसके घर वालों को अगर पता चल जाता था, तो उसकी दोबारा पिटाई होती, सो मार खाने की शिकायत कोई अपने घर में करता ही नहीं था।

मेरी भी बहुत इच्छा थी उसे चिढ़ाने की, पर साहस नहीं होता था। फरीद चा के घर आने-जाने के कारण नजीर मुझे अच्छी तरह जानता था। मैं उन्हें नजीर भैया कहता था। एक दिन चार-पाँच लड़कों के साथ मैं स्कूल से घर लौट रहा था। नजीर भैया एक सैलून में बाल कटवा रहे थे। हमने उनको देखा। आँखें-ही-आँखों में इशारे हुए और हम 'मत चूको चौहान' की स्थिति में आ गये। हमने एक स्वर में "बाप छछूंदर, बेटा धरमेन्दर" कहा और देखते-ही-देखते वहाँ से छू-मंतर।

नजीर भैया को मुझसे यह उम्मीद नहीं थी। वे सीधे मेरे घर आये। मेरे तो प्राण ही सूख गये। मेरी शिकायत होगी और मुझे मार पड़ेगी, इसमें कोई शक नहीं था। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "तुमने आज जो हरकत की उसकी शिकायत तुम्हारे पिताजी से नहीं करूँगा, पर सलमा को सब बता दूँगा।"

मैंने डबडबाई आँखों से कहा, "आप बेशक चार-पाँच झापड़ मार लीजिए, मेरे पिताजी से शिकायत कर दीजिए, पर भगवान के लिए सलमा आपा को कुछ मत कहिएगा।"

उन्होंने कहा, "तो वादा करो ऐसी गंदी हरकत कभी नहीं करोगे।" मैंने वादा किया और निभाया भी। बाद में उसी नजीर भैया से सलमा आपा की शादी हुई और वह उनके साथ कानपुर चली गई जहाँ नजीर भैया को एक जूते की फैक्ट्री में नौकरी मिल गई थी।

दूसरा वाक्या आपात्काल के समय का है। तब मैं कक्षा आठ में पढ़ता था। बड़े-बूढ़ों से सुनने को मिलता था कि लोकतंत्र की हत्या हो गई, अभिव्यक्ति की आजादी छिन गई, पर कुछ समझ में नहीं आता था। पुलिस की जीप में लाउडस्पीकर लगाकर रोज लगातार घोषणा की जाती थी कि धारा १४४ लागू है। लोग चार-पाँच के झुण्ड में न चलें, कोई अस्त्र-शस्त्र लेकर न चलें इत्यादि। पुलिस का ऐसा आतंक था कि हमलोग स्कूल जाना-आना भी झुण्ड में नहीं करते थे। घर के बाहर हमारा खेलना भी बंद कर

दिया गया था। पुराने दबे मामले खोले जा रहे थे और रोज कसबे के कुछ लोग गिरफ्तार हो रहे थे। अनेक विरोधी नेता गिरफ्तार हो चुके थे, अनेक अंडरग्राउण्ड हो चुके थे।

उन दिनों फरीद चा बहुत डरे-सहमे रहते थे। उनके गाँव कोयलाबाजार के दक्षिण-पूर्व में एक झील है। वहाँ हर साल अप्रवासी पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड आते हैं। फरीद चा को काज, लालशर जैसी पक्षियों के माँस बहुत पसंद थे। अपनी दोनाली बंदूक से वे अक्सर उन पक्षियों का शिकार करते। बाद में शिकार पर प्रतिबंध लग गया, परंतु फरीद चा की स्थिति "मुँह जब लागै तब नहिं छूटै" वाली थी। चोरी-चोरी, चुपके-चुपके शिकार कर ही लेते थे। एक बार रंगे हाथों पकड़े गये। उन पर मुकदमा दायर हो गया। रुपये-पैसे, पैरवी के बल पर केस दबा दिया गया। आपात्काल में जब पुराने केस खुलने लगे तो फरीद चा के अंदर डर समा गया कि कहीं उनका दबा केस खुल न जाए और पुलिस उन्हें गिरफ्तार न कर ले।

फरीद चा का एक चचेरा भाई पुरीद कलकत्ते में कुछ काम करता था। वह अपने गाँव लौट रहा था। शंकरपुर स्टेशन में ट्रेन रात के बारह बजे पहुँची। आपात्काल की वजह से स्टेशन में लगभग सन्नाटा था। कोयलाबाजार मोड़ तक जाने के लिए पहले एक-दो तांगे सवारी की प्रतीक्षा में मिल जाते थे, पर उस दिन एक भी तांगा नहीं था। जाड़े की ठंडी रात स्टेशन में बिताने के बजाय उसने फरीद चा के घर में आश्रय लेना उचित समझा। उसने फरीद चा के दरवाजे पर दस्तक दी। अंदर से फरीद चा ने पूछा, "कौन?"

बाहर से आवाज आयी, "पुरीद।" फरीद चा ने सुना 'पुलिस'। फिर क्या था लुंगी पहने ही वे पिछवाड़े की ओर भागे। चारदीवारी फाँदने के क्रम में लुंगी के कारण लटपटा गए और धड़ाम से पीछे की ओर एक गड्ढे में गिर गये। उनके एक हाथ और एक पैर की हड्डी टूट गयी। उन्हें तुरंत अस्पताल पहुँचाया गया। पता नहीं उस घटना को किसने लीक किया, पर दूसरे दिन सुबह दस-ग्यारह बजते-न-बजते सारा कसबा जान गया कि फरीद चाँ पुलिस के डर से भागते हुए हाथ-पैर तुड़वा बैठे हैं। उन्हें देखने के लिए अस्पताल में भीड़ उमड़ पड़ी। मैं भी पिताजी के साथ गया। उनकी हालत देखकर मुझे दया भी आयी, हँसी भी आयी।

जेनरल वार्ड के एक बेड पर लेटे हुए वे मुझे दुनिया के सबसे दयनीय इंसान दिखे। उनके बायें पैर एवं हाथ में प्लास्टर चढ़ा हुआ था। पैर और हाथ दोनों विपरीत दिशा में लगभग तीस डिग्री के कोण में रस्सियों के सहारे टंगे हुए थे। मुझे पुलिस के डर से उनके भागने की बात पर खूब हँसी आ रही थी। किसी तरह मुँह दबाकर बाहर निकला, फिर जोर-जोर से हँसने लगा। जिसने मुझे देखा, पागल समझा।

हमारे कसबे की जीवन-नैया इसी तरह मंथर गति से हँसी-गमी में चल रही थी। मैट्रिक पास करने के बाद पास के शहर से मैंने बी. ए. भी कर लिया। नौकरी के लिए संघर्ष कर ही रहा था कि पिताजी की हृदयाघात से मृत्यु हो गयी। फरीद चा के प्रयासों से ही अनुकंपा के आधार पर मुझे पिताजी वाली नौकरी मिल गयी। मेरा पूरा परिवार फरीद चा का मुरीद हो गया।

१९९० तक हमारे कसबे ने कोई उल्लेखनीय करवट नहीं ली। १९९० के बाद भूमंडलीकरण एवं विश्वबाजारवाद का प्रभाव कसबे पर भी पड़ा। कसबे पर आधुनिकता का रंग इस प्रकार चढ़ा कि वह शहर में तब्दील होने लगा। एक कॉलेज खुल गया। कुछ नये दफ्तर खुले, रेफरल अस्पताल बना, इंगलिश मीडियम का एक बड़ा स्कूल खुल गया। धूल भरी सड़कों पर चींटी की चाल से रेंगने वाले लोगों के बीच स्कूटर या बाइक पर सर्र से गुजर जाने वाला एक बेपरवाह युवा-वर्ग अस्तित्व में आया। गाँव के लोग कसबे की जमीन खरीद कर पक्के मकान बनाने लगे। एक दलाल वर्ग सक्रिय हो उठा, कसबे की जमीन की कीमत आसमान पर चढ़ने लगी। रेल लाइन के किनारे खास जमीन पर मुस्लिमों की एक बड़ी बस्ती बसी, जिसे 'नया बस्ती' नाम दिया गया। कसबे में हिन्दू-मुस्लिम आबादी का ठहरा हुआ अनुपात अचानक चंचल हो उठा। सदर मस्जिद एवं नया बस्ती में कुछ बाहरी मौलानाओं की आवा-जाही अचानक बढ़ गई। हिन्दू आबादी चौकन्नी हो गई, हिन्दू संगठन बने, इत्यादि।

फरीद चा एवं मेरे परिवार में कुछ खट्टी-मीठी घटनाएं घटीं। सलमा आपा को उनके शौहर ने गुस्से में तालाक दे दिया। वह अपनी दो बेटियों के साथ फरीद चा के पास

आ गयीं। उस सदमें में फरीद चा की बीबी की मौत हो गयी। कुछ दिनों बाद फरीद चा रिटायर हो गये। मेरी शादी हो गयी।

दिसम्बर, १९९२। आयोध्या में कार सेवकों का जमावड़ा बढ़ रहा था। सारा देश दम साधे टी. वी. अखबार पर नजरें जमाए हुए था। कुछ लोग रेडियो से भी चिपके हुए थे। अपना कसबा भी अछूता नहीं था। नुक्कड़ों में, चाय की दुकानों में उत्सुक चर्चाएँ होतीं।

६ दिसम्बर। रविवार। छुट्टी का दिन। मैं अपने घर में ही था। शाम अभी उतरी ही थी कि अचानक शंख-ध्वनि, घंटा-ध्वनि आने लगीं। मैं हड़बड़ा कर घर से निकला। अवार्जे भोला ठाकुर के घर से आ रही थीं। भोला ठाकुर स्वतंत्रतापूर्व कांग्रेस के बड़े नेता थे। स्वतंत्रता सेनानी के कोटे से अपने बेटे को पेट्रोल पंप का लाइसेंस दिलाया। हवा का रुख भाँपकर वे खुद विश्व हिंदू परिषद के नेता बन बैठे और बेटे को भाजपा का नगर अध्यक्ष बनवा दिया। उनकी हवेलीनुमा घर के सामने बड़ी भीड़ थी। लोग जय श्रीराम के नारे के साथ एक-दूसरे को गुलाल लगा रहे थे। भोला ठाकुर सबको लड्डू बाँट रहे थे। एक आदमी ने बताया कि बाबरी मस्जिद के ढाँचे को ढहा दिया गया है, सब इसी की खुशी मना रहे हैं। मैं सन्न रह गया। अचानक मुझे लगा कि इस समय मुझे फरीद चा के पास होना चाहिए।

शाम रात्रि के अंधकार में बदल चुकी थी। ठंड ने अपनी चादर को फैला दिया था। रास्ते में हन्नान दर्जी की दुकान पड़ती थी। उनकी दुकान शाम के बाद हम कुछ मित्रों का स्थाई अड्डा थी। देर रात तक हमारी गप्पबाजी चलती थी। देखा हन्नान भाई दुकान में ताला लगा कर निकल रहे हैं। मैंने पुकारा, 'हन्नान भाई!' पर वे अनसुना कर पास की अंधेरी गली में गुम हो गये।

तीन-चार बार दस्तक देने के बाद फरीद चा का दरवाजा खुला। सलमा आपा थी। उसका चेहरा भारी था। उसने बैठक में बैठने का इशारा किया। मैंने फरीद चा के बारे में पूछा तो वह रो पड़ी, "जब से बाबरी मस्जिद गिरने का समाचार मिला तब से अब्बा परेशान थे। अचानक उन्होंने दो-तीन जगह फोन किया। थोड़ी देर पहले सुलेमान चाचा

का फोन आया तो वे बिना कुछ बोले घर से निकल गये।”

मैंने पूछा, ‘कौन सुलेमान चाचा, कहीं सुलेमान अंसारी तो नहीं?’

उसने आँसू पोंछते हुए हामी भरी तो मेरा दिल जोर से धड़क उठा। सुलेमान अंसारी एक कट्टरवादी मुस्लिम संगठन के स्थानीय नेता थे। बांग्लादेश के कुछ आतंकवादियों से उनके तार जुड़े होने के संदेह में पुलिस ने कई बार उससे पूछताछ भी की थी। उसके यहाँ फरीद चा का जाना.....। अचानक मुझे लगा कि मेरा कसबा एक रेलवे स्टेशन में तब्दील हो गया है, जिसमें दो प्लेटफार्म हैं और दोनों प्लेटफार्म के यात्रीगण दो अलग-अलग दिशाओं में जाने वाली ट्रेनों का इंतजार करने लगे हैं।

कुछ दिनों बाद फरीद चा से भेंट हुई। बात-चीत में पहले जैसी बेतकल्लुफी न देख मैं बहुत निराश हुआ।

मकर संक्रांति आयी, पर ठंड में कोई कमी नहीं आयी। मैं सपरिवार गंगा स्नान करने गया था। कड़ाके की ठंड के कारण घाटों में स्नानार्थियों की बहुत भीड़ नहीं थी। अभी

हम एक घाट में पहुँचे ही थे कि अचानक एक शोर उठा। पता चला कोई बच्चा डूब रहा है। बच्चे की माँ चीख-चीखकर बच्चे को बचाने की गुहार लगाने लगी। विभिन्न घाटों में उपस्थित कुछ लोग शोर मचा रहे थे, अधिकतर मूक दर्शक बने हुए थे। किसी की भी हिम्मत ठंडे जल में कूदकर बच्चे को बचाने की नहीं हो रही थी। अचानक लोगों ने देखा धारा के विपरीत एक आकृति तेजी से बच्चे की ओर बढ़ रही है। जब वह आकृति बच्चे को किनारे लेकर आयी तो लोग खुशी से चिल्ला उठे, ‘फरीद खाँ।’

बच्चे को तो बचा लिया, पर फरीद चा का बूढ़ा शरीर ठंड से अकड़ गया। उन्हें तुरंत अस्पताल पहुँचाया गया, पर बचाया न जा सका।

अस्पताल के उसी जेनरल वार्ड के एक बेड पर फरीद चा का निष्प्राण शरीर पड़ा था। सलमा आपा दहाड़ें मार-मारकर रो रही थीं। आस-पास गमगीन चेहरे लिए हुए लोग खड़े थे। मैं स्तंभित था।

संपर्क:

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज,
खड़गपुर (प.बं.), पिन-७२१ ३०५, मो. ९४३४८९४१९०

गुमशुदा दिनों की तलाश नीरजा हेमेन्द्र

“माँ मेरा टिफिन तैयार है?” कॉलेज के लिए तैयार होते हुए श्रेया ने कमरे से आवाज लगायी।

“हाँ...हाँ बस दे रही हूँ।” मैंने रसोई से ही कहा।

श्रेया और हनी का टिफिन शीघ्रता से बन्द कर मैं उनके स्कूल बैग में रखने के लिए रसोई से बाहर आयी। इतनी देर में बच्चों की स्कूल बस की हॉर्न की आवाज बाहर सुनायी दी। श्रेया तैयार थी। उसने स्कूल बैग कन्धे पर रखा और गेट की ओर बढ़ गयी। हनी की स्कूल की वाटर बॉटल में पानी नहीं भरा था। अतः मैं बॉटल में पानी डालते हुए हनी से बोल पड़ी—

“हनी अब बड़े हो रहे हो। बॉटल में पानी तो डाल ही सकते हो।”

“सही समय पर कोई कार्य स्वयं कर नहीं पाती हो। फिर अपनी कमियाँ बच्चों पर क्यों डालती हो?” अपने कमरे से सोकर निकलते हुए राहुल ने कहा।

मैंने राहुल की तरफ एक खीज भरी दृष्टि डाली व शीघ्रता से रसोई की तरफ बढ़ चली। इस समय मैं राहुल से कुछ कहना नहीं चाहती थी। कुछ भी कहने का अर्थ है अर्थहीन बहस। अभी घर के बहुत सारे काम शेष हैं। उन्हें करना हैं और समय से मुझे कार्यालय भी पहुँचना है। मैं जानती हूँ कभी-कभी यही अर्थहीन बहस लम्बे झगड़े का रूप ले लेती है। इससे मेरे और राहुल के कटु होते जा रहे सम्बन्धों में और कटुता बढ़ती है। मैं घर को तनाव पूर्ण माहौल व सम्बन्धों को कटुता से बचाना चाहती हूँ। रसोई में तैयार अपना व राहुल का टिफिन बाक्स डायनिंग मेज पर रखकर नहाने चली गयी। मुझे आधे घंटे के अन्दर तैयार होना है तथा घर के शेष कार्यों को निपटाकर कार्यालय के लिए निकलना है। सब कुछ शीघ्रता से निपटा कर मैं कार्यालय के लिए निकल पड़ी। ऑटो में बैठ कलाई घड़ी पर एक दृष्टि डाली। मन ही मन बुदबुदा पड़ी “ओह! आज पुनः लेट न होने पाये। किसी प्रकार समय पर कार्यालय पहुँच जाऊँ।” सुबह घर के सारे कार्य अकेले करते-करते अब वह थक जाती है। घर में इतना सारा काम रहता है। अकेले अब उससे सब कुछ नहीं हो पाता। बच्चे छोटे थे तो वह भी युवा थी। तब वह घर के सारे काम अकेले कर लेती थी। अब वह प्रौढ़वय की ओर बढ़ रही है। बच्चे भी अब किशोरावस्था की ओर बढ़ रहे हैं, बड़े हो रहे हैं। किन्तु इतने बड़े नहीं हो पाये हैं कि उन्हें अपने उत्तरदायित्व का बोध हो सके, या माता-पिता में आये दिन होने वाले तकरार ने उनमें लापरवाही के बीज बो दिये हैं। राहुल तो उसकी नौकरी के पैसों व परिश्रम का सुख भोग रहा है। सोच-सोच का मरा मन खिन्न होने लगा।

कार्यालय पहुँच कर घर की चिन्ता परे रख कर काम में जुट गयी। दो बज रहे थे। लंच के पश्चात् वापस आ कर काम में जुट चुकी थी। सहसा फोन की घंटी बजी। “हैप्पी बर्थडे मम्मा.....” श्रेया की आवाज थी। श्रेया के फोन से मुझे स्मरण आया कि आज मेरा जन्मदिवस है।

“थैंक यू बेटा....। मैं तो भूल ही गयी थी।” मैं भावविभोर थी।

“मम्मा हनी भी आपको विश करना चाहता है।” हनी ने भी जन्मदिवस की बधाई दी। मैंने बच्चों पूछा वे इस अवसर पर क्या उपहार लेना चाहेंगे... ? उन्होंने ने मनाकर दिया। शाम को कार्यालय से घर लौटते हुए मैंने बच्चों के लिए केक के साथ उनकी पसन्द के बिस्कुट, पेस्ट्री इत्यादि लेते हुए घर आयी। मैं यह सोचकर मुस्करा पड़ी कि यदि बच्चे मुझे विश न करें तो कभी मुझे अपना जन्मदिवस याद नहीं आता है। शाम के नौ बजे राहुल के आने के पश्चात केक कटा और मन गया मेरा जन्म दिवस भी। अपना जन्मदिवस मनाने की अब मेरी इच्छा नहीं होती, किन्तु बच्चों का मन रखने के लिए मुझे यह सब करना पड़ता है।

समय व्यतीत होता जा रहा है। साथ ही जीवन के अनेक महत्वपूर्ण दिन.....अनेक महत्वपूर्ण तिथियाँ भी व्यतीत होती जा रही हैं। मैं जानती हूँ समय अपनी गति से चलता रहता है, किसी के लिए रुकता नहीं। जीवन के महत्वपूर्ण दिन हों या सामान्य व्यतीत हो ही जाते हैं। एक समय वो भी था मेरे लिए मेरा प्रत्येक दिन महत्वपूर्ण हुआ करता था। वो समय था विवाह के पूर्व के दिन। युवावस्था व विद्यार्थी जीवन.....सचमुच वे दिन ही जीवन के सबसे सुन्दर व मोहक दिन होते हैं। उन्हीं दिनों आहान से मेरा परिचय हुआ था। उसे स्मरण है आहान से मित्रता भी कुछ अद्भुत परिस्थितियों में हुई थी। कॉलेज में उन दिनों वार्षिक परीक्षाएँ चल रही थीं। वो मुझसे एक क्लास सीनियर था। मेरे पास की सीट थी उसकी। परीक्षा के प्रथम दिन उसका मेरा नाम पूछना और न बताने पर बार-बार मेरी ओर देखना मुझे बिलकुल भी अच्छा नहीं लगा। उसे मैं अनदेखा करती रही। मेरे सभी पेपर अच्छे हो रहे थे। उस दिन मेरा पेपर कुछ कठिन आया था। मैं परेशान थी। बार-बार अपने साथ के उन विद्यार्थियों को देख रही थी जो लिखने में व्यस्त थे।

“क्यों.... ? क्या हुआ... ? नहीं आ रहा है.. ? ” अध्यापक की दृष्टि बचाकर आहान ने मुझसे पूछा।

उसकी बात सुनकर मेरी निराशा खीज और क्रोध में परिवर्तित होने लगी।

“मुझे आये न आये तुमसे क्या.. ?” मैंने तल्ख स्वर में कहा।

“मेरा भी विषय है यह। यदि तुम कहो तो मैं कुछ मदद कर सकता हूँ।” उसने कहा।

अन्तिम घंटे का कुछ समय शेष था। कुछ प्रश्नों के उत्तर मुझे अब भी नहीं आ रहे थे। मैं विवश थी तथा मन में यही विचार आ रहे थे कि उससे कुछ पूछ लूँ। मैंने चुपके से आहान की ओर देखा। वो लिखने में व्यस्त था। किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर में मेरी ओर देख भी ले रहा था। मैंने एक कठिन से प्रश्न का उत्तर उससे पूछ लेना ही ठीक समझा। उसकी थोड़ी-सी मदद से उस दिन का वो पेपर भी अच्छा हो गया था। वो ही एक कारण तो नहीं था। आहान के व्यक्तित्व में अनेक विशेषताएँ थीं और वो मुझे अच्छा लगने लगा था। जीवन में इन्द्रधनुषी रंग बिखर गये थे। कॉलेज की शिक्षा पूरी करने के पश्चात भी हमारी मित्रता यथावत रही।

एक दिन वह भी आया जब मेरा विवाह राहुल के साथ हो गया। जहाँ पत्नी-बढ़ी, शिक्षा प्राप्त की विवाहोपरान्त वहाँ से दूर इस शहर में आ गयी। अपनी जड़ों से उखड़ कर दूसरे स्थान पर स्थापित होना इतना सरल नहीं था। यदा-कदा याद आते-आते आहान शनैः-शनैः मेरी स्मृतियों से ओझल हो गया। विवाह के पश्चात राहुल के स्वभाव से परिचित होने के पश्चात यह आभास हुआ कि मेरे विवाहित जीवन की राहें सरल नहीं हैं। आत्मनिर्भरता मेरे लिए आवश्यक है। मैं नौकरी के लिए प्रयत्न करने लगी। मेरा प्रयत्न और परिश्रम तीन वर्षों के पश्चात रंग लाया। सरकारी क्षेत्र में मुझे नौकरी मिल गयी।

नौकरी करते हुए घर के कार्यों के अतिरिक्त बच्चों का पालन-पोषण, उनकी शिक्षा आदि कई स्तरों पर मुझे कठिन परिश्रम करना पड़ता। राहुल की इच्छा हुई तो कभी किसी काम में सहयोग कर देता अन्यथा मुझे अकेले ही इन सब उत्तरदायित्वों से जूझना पड़ता। मैं ये सारे उत्तरदायित्व वहन करती रही तथा संतुष्टि का अनुभव करती रही। मेरा

हृदय टूट-टूटकर तब विदीर्ण हो जाता जब दिन-रात कठिन परिश्रम करने के उपरान्त भी राहुल छोटी-छोटी बातों पर झगड़ने को तैयार रहता। गालियाँ तो जैसे जुबान पर रखी रहती। इन सबसे मुझे कितनी पीड़ा पहुँचती है इसका अनुमान राहुल को नहीं था। आखिर मैं ग़लत कहाँ हूँ? मुझमें कमी कहाँ पर है? मुझसे अधिक समय परिवार को और कौन दे सकेगा? कौन मुझसे अधिक श्रम कर सकेगा? मैं रोती....कभी सबसे छुप कर, तो कभी राहुल के सामने। जीवन के दिन इसी प्रकार व्यतीत होते जा रहे थे।

कभी-कभी सोचती कि राहुल के साथ जीवन कैसे व्यतीत कर पाऊँगी? पुनः इसी आशा में जीने लगती कि कभी न कभी राहुल बदल जायेगा। किन्तु वो दिन कभी नहीं आया। जीवन का एक बड़ा हिस्सा व्यतीत हो गया, मैं प्रतीक्षा करती रह गयी राहुल के परिवर्तित होने का। फुर्सत के पलों में अब कभी-कभी सोचती हूँ कि इस जीवन में मैंने क्या पाया? अपने लिए कब जी पायी मैं.....? सारी उम्र जहोजहद करती रही...जूझती रही मेरे हिस्से के खुशी के क्षण मुझे कब मिले? मैं जानती हूँ स्त्री का धर्म है दूसरों की सेवा करना। परिवार के लिए जीवन को समर्पित कर देना। उसका जीवन तो पति व बच्चों में निहित होता है। तो क्या स्त्री को अपने लिए जीने का कोई अधिकार नहीं है? मैं जानती हूँ कि ये प्रश्न अब बेमानी हैं। पैतालिस के आसपास की उम्र में अपने लिए सोचना ही बेमानी है। बच्चे युवा हो रहे हैं। उत्तरदायित्व बढ़ते जा रहे हैं। एक माँ होने के कारण ये उत्तरदायित्व मुझे वहन करने ही हैं। तो अब अपने लिए क्या सोचना, क्यों सोचना....? सोचूँगी फिर कभी यदि अवसर व समय मिला तो। अपने अधिकारों व स्वाभिमान के द्वंद्व में कहीं बच्चों का अहित न हो.....उनकी भावनाएँ आहत न हों...। अतः सारी कड़वाहट भूलकर चल पड़ी कर्तव्य पथ पर।

समय व्यतीत होता जा रहा था। दोनों बच्चे उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर हो रहे थे। इसी आपाधापी में मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी बेटी अपने साथ पढ़ने वाले किसी लड़के से प्रेम करती है। उसी के साथ विवाह करना चाहती है। मैंने उसे समझाना चाहा कि वो अभी अपनी शिक्षा पर ध्यान दे। आत्मनिर्भर होने के पश्चात विवाह के बारे में सोचे।

“आप लोगों की यही प्रबलम है। खुद तो बाहर जाती हैं.....नौकरी करती हैं.....हमारे ऊपर इतनी बंदिशें लगाती हैं।” मैं सन्न रह गयी अपनी लाडली श्रेया की बातें सुन कर। जी चाह रहा था फूट-फूट कर रोऊँ या सब कुछ छोड़कर कहीं चली जाऊँ। किन्तु ऐसा हो सकता है भला....? श्रेया मेरी बेटी है। उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए उसे उचित मार्ग मैं नहीं दिखाऊँगी तो और कौन दिखायेगा?

“बेटा! विवाह तो एक दिन होना ही है। उसके लिए सारी उम्र पड़ी है। यह समय तुम्हारे जीवन का महत्वपूर्ण समय है। खूब पढ़ो-लिखो.... आत्मनिर्भर बनो। फिर जिससे चाहो विवाह करो। हमें कोई आपत्ति नहीं है। लड़कियों के लिए आत्मनिर्भरता आवश्यक है।” मैंने समझाते हुए कहा।

“हाँ...हाँ...सभी उपदेश तो मेरे लिए हैं। जब आप पापा से झगड़ा करती हैं, उसका हम पर क्या इफेक्ट पड़ता है कभी सोचा है...?” उसने पलट कर धड़ल्ले से कहा।

मेरी बेटी ने अपने माता-पिता के आपसी झगड़े का क्या ही अच्छा लाभ उठाया है। मैं गुँगी हो गयी। राहुल खामोश रहे यह जानते हुए भी कि इस समय बेटी का उठाया यह कदम उसका अहित भी कर सकता है। उसे रोकने व समझाने का प्रयत्न तक राहुल ने नहीं किया। मेरी बेटी ने उस वर्ष परीक्षा दे कर अपनी शिक्षा पूरी की। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जॉब के लिए भी वो प्रयत्न करे। किन्तु मुझे उसका विवाह कर देना पड़ा। विवाह करके वो चली गयी। उसके सुखद भविष्य के लिए मैं चिन्तित रहती हूँ। अनजाने भय से आशंकित भी रहती हूँ। श्रेया का विवाह इसी शहर में हुआ है। वह हम सबसे मिलने भी आती रहती है। मैं मन ही मन यही कामना करती रहती हूँ कि उसका पति राहुल जैसा न हो।

“निधि....निधि....।” कार्यालय से घर के लिए निकल रही थी कि सहसा किसी ने पीछे से पुकारा।

पलट कर देखा तो एक अनजान-सा शख्स मेरी ओर देख रहा था।

“आप निधि हैं न...?” उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट थी। मैंने उसे ध्यान से देखा। कुछ-कुछ परिचित-सा लगा वो। किन्तु कौन है...? स्पष्ट न था।

“पहचाना मुझे....?” उसकी मुस्कान कुछ और गहरी हो चली थी।

“मैं....मैं....आहान.!” मेरे चेहरे पर फैली अनभिज्ञता देखकर वो बोल पड़ा।

सहसा मुझे याद आया....आहान हाँ...ये आहान है। कितना बदल गया है। पहचानना मुश्किल हो रहा है। अन्तराल पश्चात वो मिल रहा है। पहचानती कैसे? कॉलेज में मेरे साथ पढ़ता था। तब से अब तक सब कुछ बदल गया है। उसका बदलना भी तो स्वाभाविक है।

“आहान तुम...? बिल्कुल बदल गये हो। पहचानना मुश्किल हो रहा है।” मैंने हँसते हुए कहा।

“हाँ....हाँ...क्यों नहीं...तब मैं दुबला-पतला लड़का हुआ करता था। अब हुष्ट-पुष्ट पुरुष हूँ।” उसने हँसते हुए कहा।

मैंने आहान को ध्यान से देखा। खिचड़ी बाल जो सामने माथे से कुछ कम हो गये थे। चेहरे पर कहीं-कहीं झुर्रियों ने भी जगह बना ली थी। किन्तु उसकी आँखें अब भी बिल्कुल वैसी की वैसी ही थीं। गहरी व बोलती प्रतीत होती आँखें।

“तुम भी काफी बदल गयी हो निधि।”

“हाँ....हाँ....क्यों नहीं? समय का लंबा अन्तराल जो गुजर गया है इस बीच।” मैंने उसकी बातों का समर्थन करते हुए कहा।

“और सुनाओ तुम कहाँ हो आजकल...? यहाँ कैसे..?” मैंने बातों का रुख बदलते हुए पूछा।

“मुझे देखकर आश्चर्य हो रहा है न? मैंने भी नहीं सोचा था कि तुम ऐसे मिलोगी। मुझे यहाँ आये हुए चार माह हो गये हैं।”

“अच्छा..? कैसे आये हो यहाँ....? मुझे ढूँढते-ढूँढते यहीं शिफ्ट हो गये क्या?”

मैंने कहा।

जोर का ठहाका लगा कर हँस पड़ा आहान।

“मेरा स्थानान्तरण हो गया है यहाँ।”

“अच्छा...!” मैंने आश्चर्य से कहा।

“मुझे ज्ञात था कि तुम इसी शहर में रहती हो और कहीं न कहीं मिल अवश्य जाओगी।” मैं मुस्करा पड़ी।

ऐसा क्यों होता है कि विद्यार्थी जीवन का कोई साथी मिल जाता है तो विद्यार्थी जीवन अपनी स्मृतियों के साथ जैसे वापस आ जाता है। युवा और उन्मुक्त से वो दिन आँखों के समक्ष सजीव होने लगते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे मैं वापस विगत में लौट आयी हूँ.....मेरे भीतर की युवती बाहर आने को आतुर हो उठी। जीवन पथ की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चल कर निढ़ाल हो चुके शरीर में स्फूर्ति व ताजगी का नव संचरण होने लगा था। मन हो रहा था कहीं बैठ कर देर तक आहान से बातें करूँ.....किन्तु मुझे जाना था। मेरा घर.....मेरे बच्चे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। जाने से पहले आहान ने मेरा दूरभाष नम्बर ले लिया।

घर आकर अकेलेपन की वही अनुभूति होने लगी जो किसी माँ को बेटी के विदा करने के पश्चात होती है। बेटा अपनी कोचिंग और कैरियर को लेकर व्यस्त था। जो कि अच्छी बात थी। चार-पाँच दिन व्यतीत हो गये.....एक दिन कार्यालय में आहान का फोन आया। वो मुझसे मिलना चाहता है। मैंने उसे अपने कार्यालय के समीप कॉफी हाउस में बुला लिया। शाम को कार्यालय के पश्चात मैं गयी तो आहान वहाँ मेरी प्रतीक्षा करता मिला। बातें जो अधूरी रह गयी थीं बातें वहीं से प्रारम्भ हुईं।

“घर में कौन-कौन है?” उसने पूछा।

“मेरे पति, दो बच्चे और मैं।” आहान को उत्तर देते हुए मैं मुस्करा पड़ी। वह मेरी ओर ध्यान से देख रहा था।

“बच्चे क्या कर रहे हैं।” उसने पूछा।

“बेटी का ब्याह कर दिया है इसी वर्ष। बेटा प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहा है।” मैंने कहा।

“तुम कहाँ तक पहुँचे?” उसके प्रश्नों के उत्तर देते-देते मैंने पूछा।

“मेरी दो बेटियाँ हैं। दोनों का ब्याह कर दिया है। इस समय घर में मैं और मेरी पत्नी हैं।” कहते हुए आहान ने एक लम्बी साँस ली।

मैंने आहान की ओर देखा। खिचड़ी बाल, आँखों के इर्द-गिर्द उभर आयीं झुर्रियों के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं बदला था। इस आहान में कहीं न कहीं वही युवा आहान छुपा था, जिसकी ओर कॉलेज के दिनों में मैं आकर्षित होने लगी थी। उस समय मैं ये नहीं जानती थी कि आहान को मैं

अच्छी लगती थी या नहीं। जो भी हो उन बातों में अब क्या रखा है? जीवन की एक लम्बी यात्रा तय कर बहुत आगे निकल आये हैं हम।

“तुमसे मिल कर....बातें करना बहुत अच्छा लगता है निधि! मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि इस जीवन में तुमसे इस प्रकार मुलाकात हो जायेगी।” आहान की बातें सुनकर मैं बस मुस्करा पड़ी।

घर जाते हुए मैं सोच रही थी कि मेरे बाल भी तो आहान की भाँति अधपके खिचड़ी हो चुके हैं। मेरे चेहरे पर भी झुर्रियों ने दस्तक दे दी है। किन्तु आजकल मेरे भीतर से अक्सर एक युवती निकल पड़ती है। कदाचित् मैंने उसे जीवन में आगे का सफर तय करने से पहले हृदय के तल घर में बन्द कर दिया था....।

जब भी कभी अकलेपन की अनुभूति होती मैं आहान को बुला लेती... बातें करती। आहान से मिलकर मुझे अच्छा लगता। ऐसा प्रतीत होता जैसे मुझे मेरा वो सच्चा मित्र मिल गया है जिसकी मुझे तलाश थी। मैं जानती हूँ कि हमारे समाज में स्त्री-पुरुष की मित्रता का अर्थ शारीरिक सम्बन्धों पर आकर समाप्त हो जाता है, जबकि मुझे इस समय भावनात्मक संबल की आवश्यकता थी जो कदाचित् आहान से मिलकर पूरी होती। समय आगे बढ़ता जा रहा था। समय के साथ हम भी आगे बढ़ते जा रहे थे। मेरी बेटी के विवाहित जीवन में कुछ अव्यवस्थता आने लगी थी। मुझे ऐसा लगता कि उसके प्रेम का रंग उतर गया था अथवा वह विवाह को समझने का प्रयत्न कर रही थी। कभी वो अपने पति से रूठ जाती तो कभी मान जाती। मैं जानती थी कि वैवाहिक जीवन की ये नैसर्गिक प्रक्रिया है। मुझे तकलीफ तब होती जब वो उसे कुछ दिनों के लिए छोड़कर मेरे पास आना चाहती। किन्तु बुलाने पर आती नहीं थी। आवेश में लिए गये उसके निर्णय को मैं समझती थी। शनैः-शनैः एक वर्ष व्यतीत हो गये और वह माँ बन गयी। बच्चे का पालन-पोषण से ले कर घर के काम व उत्तरदायित्व बढ़ते गये।

जब भी मैं उससे मिलने जाती बातें करते-करते वह उदास हो जाती। विवाह पूर्व का उसके चेहरे का उल्लास व सौन्दर्य खोता जा रहा था। उसके कॉलेज के कई उसकी

मित्र लड़कियाँ नौकरी में थीं। जिनके बारे में मुझसे चर्चा करते हुए पश्चात्ताप के चिह्न उसके चेहरे पर अंकित हो जाते। इस समय उसके पास उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त गोद में नन्हा शिशु भी है। अतः अब उसकी इच्छा हो तब भी शीघ्र कुछ भी नहीं हो सकता। अतः इस विषय पर चुप रहना ही मेरे लिए सही विकल्प होता। जीवन की इन समस्याओं से बोझिल हृदय सुकून की तलाश करता....और मैं आहान से मिलने चली जाती। मुझे अच्छा लगता।

आज श्रेया का फोन आया। फोन उठाते ही उसने “मम्मी...” कहा और सिसकने लगी। मैं पूछती रही....उसने कुछ नहीं कहा और फोन रख दिया। ये बात मैंने राहुल से बतायी। मेरी बात वो सुनता रहा, बोला कुछ नहीं। मेरे बच्चे-मेरे बच्चे करने वाले राहुल की चुप्पी मुझे अन्दर तक व्यथित कर गयी। मैं श्रेया की पीड़ा समझ रही थी। युवावस्था का जोश व नित नये फैशन-सा बदलता जा रहा प्रेम व प्रेम विवाह तथा नासमझी भरी भावुकता बच्चों को गलत कदम उठाने के लिए विवश करती है। जिसका परिणाम अन्ततः पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। बच्चों की समस्याओं कारण मैं तनाव में थी। आहान से मिलना चाहती थी। अतः शाम को कार्यालय के पश्चात् मिलने के लिए उसे फोन किया। फोन करने के उपरान्त सोचने लगी कि मैं आहान से मिलना क्यों चाहती हूँ? मेरे भीतर का अतृप्त प्रेम कहीं आश्रय तो नहीं ढूँढ़ रहा है? कहीं मैं आहान से प्रेम तो नहीं करने लगी हूँ? उम्र की ढलान पर ये कैसी इच्छायें...ये कैसी भावनायें...? पति...बच्चों...व अनेक उत्तरदायित्वों के बीच ये मैं किस प्रकार की भावनाओं की गिरफ्त में आने लगी हूँ। मुझमें अब शेष क्या है...? प्रेम की प्रथम शर्त आकर्षण मेरे चेहरे से मद्धम पड़ती जा रही है। बालों की सफेदी को छुपाने के लिए इन्हें ढाई करती हूँ। कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों से चेहरे को आकर्षण बनाने का प्रयत्न भी करने लगी हूँ। फिर भी उम्र के चिह्न चेहरे पर स्पष्ट होने लगे हैं। ऐसा हो भी क्यों न? पैतालिस से ऊपर की ओर बढ़ चली हूँ। दो बड़े बच्चों की माँ हूँ। तत्काल वाशरूम जाकर शीशे में अपने चेहरे को देखने लगी। चेहरे से कहीं भी मैं युवती प्रतीत नहीं हो रही थी। कृत्रिम प्रसाधनों का प्रयोग कर भी मेरे चेहरे पर

प्रौढ़ावस्था के चिह्न स्पष्ट थे। तो क्या प्रेम किसी भी उम्र में.... किसी भी अवस्था में हो सकता है? प्रेम शारीरिक आकर्षण से परे की चीज है...? अनेक प्रश्न अनेक जिज्ञासाएँ मन में पल्लवित हो रही हैं। मेरे हृदय में आहान के प्रति प्रेम का अंकुरण तो नहीं हुआ है..? सचमुच मैं आहान से प्रेम करने लगी हूँ? उसके सफेद-काले खिचड़ी बालों, आँखों के नीचे गहराते काले गड्ढों व झुर्रियों समेत उसके पूरे व्यक्तित्व से मैं प्रेम करने लगी हूँ। अवश्य आहान का प्रेम भी कुछ इसी प्रकार का मेरे लिए भी होगा। मेरे चेहरे पर संतुष्टि के भाव आये व मेरा चेहरा दीप्त होने लगा।

शाम को मुझे आहान से मिलना था। मैं निकल पड़ी। शाम के नीले आसमान में क्षितिज पर सूर्य की सतरंगी रश्मियाँ बिखर रही थीं। पक्षियों के झुंड कलरव करते अपने ठिकानों की ओर उड़ चले थे। सब कुछ अच्छा लग रहा था। ठंडी हवाओं के झोंके मेरे बालों से खेलने लगे। तय स्थान पर आहान मेरी प्रतीक्षा करता कर रहा था।

“अत्यन्त आकर्षक लग रही हो।” आहान के शब्द सुनते ही मैं झेंप-सी गयी।

क्या मुझे आकर्षक नहीं लगना चाहिए था? मेरी उम्र हो गयी है। आहान के शब्दों का अर्थ यही तो नहीं है....? उस दिन आहान मेरे अत्यन्त समीप बैठकर मेरे हाथों को अपने हाथों में ले कर बातें करता रहा। बातों-बातों में उसका हाथ मेरे कमर के इर्द-गिर्द घूमने लगा। आहान द्वारा मेरे शरीर को स्पर्श करना मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं तुरन्त खड़ी हो गयी व जाने को तत्पर थी। तो मुझसे मित्रता का अर्थ आहान के लिए मुझसे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना है....? मैं आगे बढ़ती जा रही थी....।

“निधि.....निधि.....रुको....क्या हुआ....इस प्रकार उठ कर तुम क्यों जा रही हो..?” आहान के शब्दों को अनसुना करते हुए मैं घर आ गयी।

शनैः-शनैः एक सप्ताह व्यतीत हो गया। उसका फोन प्रतिदिन आता रहा। आज जैसे ही मैं कार्यालय से बाहर निकली कार्यालय के गेट पर आहान मुझे खड़ा मिला। बाल कुछ और खिचड़ी अवस्था में, चेहरे पर झुर्रियाँ, कुछ और अधिक गहरी....। एक सप्ताह में ही जैसे उम्र के कई वर्ष पार कर लिए हों।

“निधि.....निधि.....दूर से देखते ही उसने पुकारा। कुछ वो मेरी ओर बढ़ा.....कुछ मैं उसकी ओर।

“क्या बात हो गयी निधि....? रुक को क्या मुझसे...?” मैं चुप रही।

“मुझसे कोई त्रुटि हो गयी क्या....?” मैंने खामोशी का आवरण ओढ़े रखा था।

“मुझे क्षमा कर दो निधि।” उसने दोनों हाथ जोड़ लिए थे।

“कॉलेज के दिनों से ही तुमसे प्रेम करता हूँ, किन्तु कह नहीं पाया। जीवन पथ पर दूर निकल आया.....किन्तु तुम्हारी स्मृतियों को हृदय में सबसे छुपा कर रखा था। अब सहसा तुम मिल गयी हो ऐसा आभास होता है कि पुराने दिनों की ओर मैं लौट आया हूँ। तुम्हारे शरीर को नहीं मैं तुम्हारे मन को छूना चाहता हूँ। मुझे क्षमा कर दो निधि।” आहान चुप को गया व याचक की भाँति मेरी ओर देखने लगा। मैं पूर्ववत् चुप रही व उसकी जुड़ी हथेलियों पर अपना हाथ रख दिया। इस एक सप्ताह के प्रत्येक क्षणों में मैं भी किसी गुमशुदा की तलाश करती रही।

“थकान हो रही है। चलो एक कप कॉफी पीते हैं। मैंने आहान से कहा। प्रत्युत्तर की आशा में आहान अब भी मेरी ओर देख रहा था।

जीवन में बहुत कुछ हम अनुभव करते हैं, किन्तु व्यक्त नहीं। मैं चल पड़ी मेरे साथ आहान भी चल पड़ा। दिन ढल रहा था। पूरी सृष्टि पर साँझ अपना आँचल धीरे....धीरे...फैला रही थी। साँझ के इस धुँधलके में भी राहें स्पष्ट थीं। इन राहों पर गुमशुदा दिनों की तलाश मुझे नहीं थी। मैं चलती जा रही थी नये लम्हों की तलाश में।

संपर्क:

‘नीरजालय’, ५१०/७५, न्यू हैदराबाद,
लखनऊ - २२६००७, मो. ९४५०३६२२७६

दिमागी-कसरत

रामनगीना मौर्य

प्रायः ऐसा हो जाता है। ट्रेन के गुजरने के बाद चौराहे से आगे रेलवे-क्रॉसिंग खुलने पर, आगे निकलने की होड़ में दोनों ओर से सवारियों की रेलमठेल में, न चाहते हुए भी आध-पौन घण्टे के जाम का झाम, लगभग हर रोज झेलना ही पड़ जाता है। ऑफिस-ऑवर में तो खासा लंबा जाम खलता भी है। फिर आये दिन धरना-प्रदर्शन आदि वजहों से भी जाम लग जाता है। ऐसे में जिन रास्तों पर ट्रैफिक का दबाव कम हो, कभी-कभार उधर से निकलना श्रेयस्कर होता है। फिर, ऑफिस जाने में विलंब से बचने वास्ते, तेज गति में स्कूटी चलाना घातक भी तो हो सकता है।

चूँकि आज समीर ने तनिक विलंब से दफ्तर जाने की स्वीकृति ली थी, सो यही सब सोचते-गुनते, भीड़-भाड़ वाले प्रचलित रास्ते के बजाय समीर ने थोड़ा लंबे रास्ते से दफ्तर जाने का मन बनाया। उसे याद है, लगभग बारह-तेरह साल पहले वो जिस मोहन-कॉलोनी में रहता था, उधर से निकले उसे वर्षों हो गये हैं। दफ्तर जाने के उस लम्बे रास्ते पर मोहन-कॉलोनी भी पड़ती है।

सुनते हैं, जीवन में एक-लयात्मकता होने से बोरियत होने लगती है। ऐसे में कभी-कभार नियमित रास्तों को बदलते हुए भी गंतव्य तक जाना चाहिए। कभी-कभी, यूँ भी दिमागी-कसरत कर लेनी चाहिए? बेवजह भी कहीं घूमने निकल जाना चाहिए। इससे मन में नये-नये विचार आते हैं। दिमाग तरोताजा रहता है। दिमागी-स्फूर्ति के लिए ऐसा फायदेमंद भी हो सकता है।

समीर तो सुबह-सुबह टहलने जाते वक्त, अलग-अलग सड़कों से होकर निकलता है। इससे उसे कॉलोनी के नये रास्तों का तो पता चलता ही है, साथ ही कभी ऐसे लोगों से भी मुलाकात हो जाती है, जो दफ्तर में तो अक्सर मिलते हैं, परन्तु उनके बारे में ये नहीं पता होता कि वे भी उसी कॉलोनी या उससे सट कर बनी कॉलोनी में ही रहते हैं। एक दिन तो गुरनानी साहब, जो उसके बॉस भी हैं, किसी बात पर उससे नाराज हो गये थे, 'बरमूडा' पहने सुबह-सुबह अपना कुत्ता टहलाते, कॉलोनी के दूसरे छोर पर मिल गये। उनसे अचानक मिलने-बतियाने पर ही समीर को पता चला कि गुरनानी साहब भी उसी कॉलोनी के ठीक बगल बने 'हाई-राइज फ्लैट्स' में रहते हैं। उस दिन की मुलाकात और बातचीत के बाद, गुरनानी साहब उससे बेहद आत्मीय हो गये थे। उस दिन बातचीत की रौ में तो उन्होंने समीर से अपने 'क्रोनिक-कॉन्स्टिपेशन' की समस्या पर भी बात की थी। समीर ने भी उन्हें, कॉन्स्टिपेशन की समस्या से निजात दिलाने के कुछ घरेलू उपाय सुझाए थे।

तो क्यों न आज पुराने, पर तनिक लंबे रास्ते से ही दफ्तर जाया जाय? यही सब सोचते, समीर ने अपनी स्कूटी, मोहन-कॉलोनी की ओर मोड़ दी। रास्ते भर वो यही सोचता रहा कि

चलो...इसी बहाने उस कॉलोनी से आने के बाद, बीते बारह-तेरह वर्षों में वहाँ क्या-कुछ बदल गया होगा, के बारे में जानकारी भी मिल जायेगी। पुराने जगह की ढेरों श्वेत-श्याम, रंगीन छवियाँ, खट्टे-मीठे अनुभव, उसकी स्मृतियों में अभी भी ताजा हैं।

आज उसे इस रास्ते के दोनों तरफ काफी-कुछ, बदला-बदला सा नजर आ रहा है। सड़क किनारे जहाँ छोटी-छोटी गुमटियाँ हुआ करती थी, आज वहाँ बड़े-बड़े शॉपिंग-कॉम्प्लेक्स खड़े दिखाई दे रहे हैं।

हालांकि मोहन-कॉलोनी जाने वाले रास्ते पर भी हल्की-फुल्की भीड़ है। शायद पिछली रात, स्थानीय लोगों द्वारा सड़क पर ही कोई कार्यक्रम आयोजित किया गया था। मजदूरगण, अभी भी सड़क पर लगे तम्बू-कनात उखाड़ने-हटाने में व्यस्त हैं। कैटरर्स के सगरो साजो-सामान चतुर्दिक, सड़क पर बिखरे पड़े हैं, जिनसे लगभग आधी सड़क अभी भी घिरी हुई है। किधर से भी निकलिए, सड़कों पर जाम का झाम तो अब आम हो गया है।

कान में इयर-प्लग खोंसे, आगे चल रहे, मस्ती में बाइक चला रहे लड़के को समीर के स्कूटी का हॉर्न सुनाई नहीं दे रहा। बाइक ऐसे चला रहा है जैसे सड़क के मालिक यही जनाब हों। सड़क किनारे खड़ी एक कार से, कुछ पुलिस वाले, उसकी काली फिल्म हटवाने में व्यस्त दिखे।

नाका चौराहे पर ही एक फल वाला ठेला लगाता था। समीर को याद है, कोई भी ग्राहक, फलों को कितना भी छाँट-छाँट कर तराजू पर चढ़ाये, मगर देखने में चूका नहीं कि...“बाउ जी कोई खास प्रॉफिट नहीं है इस बिजनेस में। आधे फल तो रखे-रखे ही सड़-गल जाते हैं।” इसी तरह की लफन्दरी, डपोरशंखी बातें करते, घड़ियाली आँसू बहाते, बड़ी ही चतुराई से वो फल वाला अपने आगे रखे कुछ सड़े-गले फल तराजू में चढ़ाने में सफल हो जाता था। दोराय नहीं कि उसमें अपने सड़े-गले फलों को भी बेच डालने की अद्भुत कार्य-कुशलता थी।

लेकिन यहाँ तो अब “हेल्दी जूस कॉर्नर” का बोर्ड लगा दिख रहा है। शायद उस फल वाले ने इतनी तरक्की कर ली हो कि फल बेचने की जगह अब उसने जूस की दूकान खोल ली हो। पर दूकान में तो कोई नौजवान बैठा दिख रहा है। क्या पता, उस फल वाले का बेटा हो?

काफी बरस बीत गये, हो सकता है कि इस बीच वो फल वाला ? नहीं-नहीं, ये भी तो हो सकता है कि अब उसने अपने बेटे को दूकान पर बिठा दिया हो, और खुद घर पर आराम करने लगा हो ? आखिर, उसकी उम्र भी तो हो गयी होगी ?

अभी समीर सामने न देखते, सड़क के दोनों तरफ का नजारा ले ही रहा था कि उसकी स्कूटी का अगला पहिया, सड़क किनारे पानी से भरे गड्ढे में चला गया। उसकी तन्द्रा भंग हुई।

‘ड्राइवर की जिन्दगी स्टीयरिंग और बेक पर/ अमीरों की जिंदगी बिस्कुट और केक पर।’ एक मिनी ट्रक वाला समीर से आगे निकला, जिसके डाले के पीछे ये जुमला लिखा था।

थोड़ा आगे बढ़ने पर उसे वो ‘बर्तन वाली गली’ दिखी। समीर को याद है, यहीं गली में बच्चों के एक डॉक्टर बैठते थे। जब कभी बच्चों को टीका लगवाना होता या घर में हारी-बीमारी की स्थिति होती, वो इन्हीं डॉक्टर साहब को दिखाता था। मेन-रोड पर स्थित मेडिकल-स्टोर भी दिख रहा है, जहाँ से वो डॉक्टर साहब की लिखी दवाएँ खरीदता था। मेडिकल-स्टोर पर बैठे दुकानदार का चेहरा जाना-पहचाना लग रहा है, बस्सू...उसके सिर का चाँद अब काफी बड़ा हो गया है, और बाल भी खासे खिचड़ी हो गये हैं। परन्तु डाक्टर साहब की क्लीनिक का बोर्ड तो दिख नहीं रहा। क्या पता, उन्होंने अपना क्लीनिक कहीं और शिफ्ट कर लिया हो ?

मोहन-कॉलोनी के लोग बहुत अच्छे थे। समीर को अच्छी तरह याद है, एक बार वो बहुत ज्यादा बीमार था। पूरा शरीर बुखार से तप रहा था। उठ कर खड़े होते ही आँखों के आगे अँधेरा छाने लगता। चक्कर आने लगता। चूँकि, तब आज की तरह मोबायल-फोन की सुविधा नहीं थी। तत्काल घर से भी किसी को बुलाया नहीं जा सकता था। ऐसे में समीर की पत्नी ने बगल वाले पड़ोसी त्रिपाठी जी, जो कि अधेड़ उम्र के ही रहे होंगे, से उसकी बीमारी के बारे में बताते मदद मांगा। त्रिपाठी जी ने फौरन ही समीर को अपनी गाड़ी में बिठाया, और कॉलोनी से थोड़ी दूर स्थित स्थानीय चिकित्सक के नर्सिंग-होम ले गये थे। डाक्टर ने उसे तत्काल ड्रिप लगाया, और इलाज शुरू कर दिया। उसे याद है, वो तीन दिन अस्पताल में एडमिट रहा। त्रिपाठी जी

के पारिवारिक सदस्यों ने बीमारी में पूरे समय एक गार्जियन की तरह उसकी देखभाल की। घर से दूर रहने पर पड़ोसी कितने महत्वपूर्ण मददगार साबित हो सकते हैं, समीर ने उस दिन जाना था।

इसी कॉलोनी की एक घटना तो समीर कभी नहीं भूल सकता। कालोनी के ही एक बुजुर्ग सज्जन, सुबह-सुबह अपनी पोती को गोद में लिए, सड़क पर टहल रहे थे। एक बाइक सवार बड़ी तेजी से पीछे से आया, और पता नहीं किस बात पर उन बुजुर्ग सज्जन से उलझ गया। उनकी गोद में बच्ची, लगातार रोये जा रही थी, और वो बाइक सवार उनसे उलझा हुआ, उन्हें अर्धब में लेने की कोशिश में था। उस समय वो बॉलकनी में बैठा अखबार पढ़ रहा था। बुजुर्ग सज्जन ने कतिपय सहायता की दरकारवश, निरीह नजरों, बॉलकनी में बैठे समीर की तरफ देखा। उस दृश्य को देखकर समीर को भी पता नहीं क्या सूझा, सुबह टहलने जाने वाला रूल, जो बगल में ही पड़ा था, आव देखा न ताव, हाथ में लिये, तेजी से बॉलकनी से नीचे उतरा और ललकारते-दहाड़ते उस बाइक वाले की ओर बढ़ा। उसी बीच कॉलोनी के दो-तीन और लोग भी इकट्ठा हो गये। सबको अपनी तरफ आता देख, वो बाइक सवार तुरन्त वहाँ से भाग खड़ा हुआ। कालोनी में रह रहे लोगों के बीच आपसी एकता का क्या महत्व होता है, समीर ने उस दिन जाना।

थोड़ा आगे चलने पर समीर ने 'मधुरम स्वीट्स' से एक शख्स को बाहर निकलते देखा। समीर को उनका चेहरा जाना-पहचाना लगा। पर कहाँ देखा है, तत्काल उसे याद नहीं आया। तभी कुछ लोग आगे बढ़कर उस शख्स के पाँव छूने लगे। वो भी उत्सुकतावश थोड़ी देर के लिए वहीं खड़ा हो गया। लोग उसे डॉक्टर साहब, कहते बातें कर रहे थे। ओ-हो-हो...उसे याद आया। ये तो 'अर्चना नर्सिंग होम' वाले डॉक्टर मित्रा हैं।

अर्चना नर्सिंग होम वाले इन डॉक्टर मित्रा को लेकर तो समीर के मन-मस्तिष्क में एक अजब-गजब, परन्तु यादगार घटना टकी हुई है।

उस रात उसकी पत्नी के पेट में तीव्र दर्द उठा। काफी देर तक आराम न मिलने पर, दर्द से कराहती पत्नी को वो कॉलोनी स्थित इसी अर्चना नर्सिंग होम ले आया था। डाक्टर ने फौरन ही पत्नी के कूल्हे पर, एक दर्द-निवारक इंजेक्शन

लगाया। इंजेक्शन लगाने के लगभग आध-पौन घण्टे बाद पत्नी को आराम मिल गया, और वो घर आकर गहरी निद्रा में सोई। सुबह जब पत्नी की नींद खुली तो समीर के "कैसी तबियत है?" पूछने पर पत्नी ने बताया कि...."डॉक्टर साहब के उस इंजेक्शन ने तो जादू सा असर दिखाया। दर्द तो गया ही, गहरी नींद भी आयी।"

"पर कुछ पता भी है तुम्हें? उस डॉक्टर ने तुम्हारी कमर से साड़ी का एक हिस्सा हटाते, तुम्हारे कूल्हे पर इंजेक्शन लगाया था। तुम्हें कुछ याद भी है?" समीर ने तनिक ठिठोली करते, पत्नी के समक्ष खुलासा किया।

"अब इतने दर्द में, कुछ भी कहाँ याद रहेगा?" ये कहते उसकी पत्नी की हथेलियाँ, अनायास ही अपने कूल्हों पर चली गयीं, मानो उसे बीती रात के पेट दर्द की याद आ गयी हो।

"क्या पता? पर डॉक्टर साहब के बारे में ऐसा नहीं सोचते। डॉक्टर तो धरती पर भगवान का रूप होते हैं। आखिर, मुझे भयंकर दर्द से निजात भी तो उन्हीं की दवा से ही मिली न! ऐसी ऊल-जलूल बातें सोचना, आपके सनकीपने, उजबकपने की निशानी हैं। सभी, आप जैसी तबियत के नहीं होते। मूर्त को अमूर्त, अमूर्त को मूर्त बनाने के तो आप माहिर खिलाड़ी हैं, पर जरूरी नहीं कि किसी विषय पर, जैसा आप सोचते हों, दूसरे भी वैसा ही सोचते हों।" उसकी पत्नी ने भी तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया था।

"शायद, तुम ठीक कहती हो...?" पत्नी की बौद्धिक, तार्किक और ज्ञानवर्द्धक बातें सुन, बिना किसी तर्क-कुतर्क के पचड़े में पड़े, इस बार समीर ने पत्नी की राय से सहमति व्यक्त की थी।

मोहन-कालोनी के एक शख्स के बारे में तो बताना भूल ही गया।

समीर की सुबह-सुबह टहलने की आदत थी। सुबह जब वो टहलने निकल जाता, लगभग उसी के आस-पास, उसके मकान के सामने वाले तिमंजिले मकान से, लुंगी पहने एक अधेड़ सा शख्स, अखबार लिए अपनी बॉलकनी में आकर खड़ा हो जाता। कभी-कभार तो वो एक टाँग बालकनी की रेलिंग पर रखते, बड़े ही भद्दे तरीके से अपनी जाँघें खुजलाने लगता। ऐसे में लुंगी पहने होने, टाँगे उठी होने के कारण, यदा-कदा उसके पटरे वाला जाँघिया भी दिखाई दे जाता।

एक-दो बार तो उसकी पत्नी ने इस बात का जिक्र करते समीर का ध्यान, उस ओर आकृष्ट भी कराया था कि उस अंधेड़ की ऐसी हरकतों के कारण, बॉलकनी में बैठने में उसे असुविधा होती है। ये सब देख-सुन कर समीर का मन तो करता कि जाकर उस अंधेड़ की खूब धुनाई करे। स्साला...कमीना कहीं काऽ!...आखिर...एक मर्दुमशनास नजर, दूसरे मर्द की नजर, उसके मनोभावों को कैसे नहीं पहचाने या समझेगा ?

पर कभी-कभी इसके विपरीत स्थिति भी हो जाती। उसी बालकनी में कभी-कभार एक नवयुवती भी अपने केश खोले, बाल सुखाती बैठी दिख जाती। ऐसे समय में अदबदा कर या कह लीजिए, मन के किसी कोने में बदले की भावना लिए, समीर भी जान-बूझ कर, अखबार लेकर पढ़ने का अभिनय करते, अपनी बॉलकनी में कुर्सी डालकर बैठ जाता, और बीच-बीच में कनखियों से उस युवती को देख लिया करता।

खैर...। आइये अब आगे बढ़ते हैं।

“मुन्ना सर्विसिंग सेण्टर”...अऽरे, यहाँ तो फुटपाथ पर एक छोटा सा लड़का मुन्ना, जो रिंच-पाना, कुछ औजार आदि लिये बैठा रहता था। दुपहिया गाड़ियों में हल्की-फुल्की रिपेयरिंग या प्लग आदि साफ करने का काम भी कर दिया करता था, उसकी दुकान आज इतनी बड़ी हो गयी ? दुकान पर बैठा दिख रहा शख्स शायद, मुन्ना ही है ? उसकी दाढ़ी-मूँछे भी उग आयीं हैं। दूकान पर खासी भीड़ लगी है। मैले-कुचैले कपड़ों में पाँच-छः मिस्त्रीनुमा लड़के भी काम पर लगे हैं। कोई बाइक धो रहा है, तो कोई पहिया खोले कुछ बना रहा है। एक लड़का स्कूटी में ऑयल चेंज करता दिख रहा है। समीर को याद है, जब भी उसे अपनी बाइक की सर्विसिंग करानी होती, वो मुन्ना की दुकान पर ही आता था। मुन्ना काफी होशियार मिस्त्री था।

मोहन-कॉलोनी अब पीछे छूट गयी है। समीर मुख्य सड़क पर आ गया है। ऑफिस के पहले वाले चौराहे पर अभी भी जाम लगा हुआ है। थैंक्स-गॉड...जाम जल्दी ही खुल गया।

समीर ने दफ्तर के प्रांगण में आकर अपनी दुपहिया खड़ी की और डिग्गी में से पानी की बोतल, टिफिन, बैग निकालते, सीढ़ियाँ चढ़ते, झटपट अपने कमरे की ओर

भागा। पानी की बोतल, टिफिन, बैग अपने मेज की दराज में रखने के बाद वो, बॉस के चैम्बर में दाखिल हुआ।

“आओ समीर, देखो इनसे मिलो। मिस रेवती खन्ना।” बॉस ने अपने सामने बैठी एक सुन्दर-सौम्य-सुशील सी महिला से उसका परिचय कराया। तीखी नाक, सुराहीदार गर्दन, तराशा बदन, गोरी सुडौल बाहें, लम्बे घने कंधे तक फैले बाल, करीने से बने आई-ब्रो। कांजीवरम साड़ी में वो निहायत ही खूबसूरत लग रही थी। थोड़ी देर तक तो समीर उस महिला को ठगा सा देखता ही रह गया।

“ये तुम्हारी जगह आयीं हैं। तुम्हारा ट्रांसफर दूसरे प्रकोष्ठ में हो गया है, और साथ ही प्रमोशन भी। ये तुम्हारी जूनियर होंगी। अपना चॉर्ज हैंडओवर करने से पहले, इन्हें अपनी सीट का काम ठीक तरीके से समझा देना।” बॉस की इस सूचना और हिदायत पर समीर की तन्द्रा टूटी। उसने अपने प्रमोशन पर बॉस को धन्यवाद करने के साथ-साथ यंत्रवत, उस महिला का अभिवादन स्वीकार करते, चॉर्ज हैंड-ओवर करने वास्ते, वो उसे साथ लेकर अपने चैम्बर में वापस आ गया।

समीर को उस महिला का चेहरा कुछ-कुछ जाना-पहचाना सा लग रहा था। पर कहाँ देखा है, ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा था। नवागत महिला को काम-काज समझाते, अब समीर उससे बुजुर्गाना लहजे में बतियाने लगा। ऑफिस के काम-काज के अलावा आदतन, फितरतन या शायद इरादतन, उसने वहाँ के माहौल, बाकी सहयोगियों, कौन लोग कैसे हैं, जो मौँका पाने पर ‘लूज-टॉक’ करने से बाज नहीं आयेंगे, इत्यादि के बारे में भी लगे हाथ, विस्तारपूर्वक...बिन मांगे सुझाव दे डाले।

समीर अब उस महिला को लेकर दूसरे प्रकोष्ठ में पहुँचा तो देखा, एक कर्मचारी कोई फाइल लिये वहाँ उसका इंतजार कर रहा था।

“नमस्ते सर।”

“नमस्ते...हाँ भई बिहारी लाल जी, कैसे खड़े हैं ?”

“सर ये फाइल है। जिसमें डॉफ्ट आपने अप्रूव कर रखा है। इसकी फेयर कॉपी पर आपको साइन करना था।”

“पर, मैं तो शाम को ऑफिस छोड़ने से पहले कोई काम पैंडिंग छोड़कर जाता नहीं। ये फेयर कॉपी कैसे अनसाइंड रह गई ? कौन सी फाइल है ये ?”

“सर, ये वही फाइल है, जिसमें तीन दिन पहले, आपकी-मेरी झँझ-झँझ हुई थी।”

“तुम्हारा दिमाग तो ठीक है? अपने सीनियर से बात करने का क्या यही तरीका है?” उसके बात करने के अंदाज पर समीर को तेज गुस्सा आया, पर अपने साथ खड़ी नवागत महिलाकर्मि, और मौके की नजाकत को देखते, उसने खुद को संभाला।

“खैर...अब मेरी जगह ये नई मैडम आ गयीं हैं। मेरा यहाँ से तबादले के साथ प्रमोशन भी हो गया है। अब इन फाइलों पर तुम इन्हीं मैडम से साइन कराना।”

“सारी सर! मैडम तो आज आयी हैं। ड्रॉफ्ट तो आपने पहले ही अप्रूव कर रखा है। ऐसे में, फेयर-कॉपी पर भी आप ही साइन कर देते तो...खामखाह में दुबारा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी।”

“यार, तुम लोग अच्छा-खासा मूड खराब कर देते हो। अच्छा ले आओ। लेकिन अब और कोई फाइल-वाइल मत ले आना। ओ.के.?”

“जी, ठीक है।”

बिहारी लाल से इस संक्षिप्त वार्ता के बाद, समीर उस महिलाकर्मि को उसके चैम्बर में बिठाते, काम समझाने के बाद, अपने नये चैम्बर में आ गया।

अपने नये चैम्बर में बैठे-बैठे समीर को लगा कि बिहारी लाल को उसकी बातें कहीं खराब तो नहीं लगी होंगी? उसे अपने ऊपर तनिक खीझ भी हुई। आखिर, वो कह तो सही ही रहा था। अगर ड्रॉफ्ट उसने अप्रूव कर रखा है, तो फेयर-कॉपी पर भी तो साइन उसे ही करना चाहिए न? उसने कुछ सोचते मेज में लगी घंटी का स्विच दबाया।

“जी सर?” चपरासी अंदर आया।

“जरा, बिहारी लाल जी को बुलाइये।”

“जी सर।” चपरासी वहाँ से बिहारी लाल को बुलाने चला गया।

“मे आई कम इन सर?” अगले ही पल बिहारी लाल ने अन्दर आने की इजाजत माँगी।

“यस-यस...प्लीज, कम इन, आइये बैठिये।” समीर के आग्रह पर, बिहारी लाल ने अन्दर आकर, समीर के सामने वाली सीट ग्रहण की।

“सारी सर, अगर मेरी बात आपको खराब लगी हो तो?”

“कोई बात नहीं, बिहारी लाल जी, काम के तनाव में कभी-कभी झुँझलाहट हो जाती है। पर सॉरी तो मुझे कहना चाहिए। आखिर, ड्रॉफ्ट मैंने अप्रूव कर रखा है, तो फेयर-कॉपी पर साइन भी तो मुझे ही करना चाहिए न? आय एम रियली...वेरी-वेरी सॉरी!”

“अब मुझे शर्मिन्दा मत करिये सर। हाँ, आपके प्रमोशन की मिठाई जरूर खाना चाहूँगा।”

“ओह श्योर-श्योर...हवाई नॉट? अभी मंगवाता हूँ।”

“ठीक है सर, मैं थोड़ी देर बाद हाजिर होता हूँ।”

“ओ. के.।” बिहारी लाल समीर के चैम्बर से बाहर निकल आये।

बिहारी लाल के वहाँ से जाने के बाद, समीर फिर उसी नव-नियुक्त महिलाकर्मि के बारे में सोचते, माथा-पच्ची करते, अक्ल के घोड़े दौड़ाने लगा कि इस महिला को पहले कहाँ देखा है? उसने बार-बार अपने दिमाग पर जोर दिया।

‘अरे हाँ!...’ जैसे समीर को अचानक कुछ याद आया हो?

...ये तो वही युवती है, जो मोहन-कालोनी वाले उसके मकान, जहाँ वो बारह-तेरह साल पहले रहता था, के सामने वाले तिर्मंजिले मकान की बॉलकनी में कभी-कभार अपने बाल सुखाते दिख जाती थी। और-तो-और...ये बॉलकनी में खड़े होकर, टाँगें उठाकर भद्दे तरीके से जांघे खुजलाने वाले उसी अधेड़ बेशरम...कमीने की ही लड़की है। तभी तो कहूँ...इसे कहाँ देखा है? यानि...जीवन में एकरसता-नीरसता से बचने वास्ते कभी-कभार दिमागी-कसरत के तई रास्ते बदलकर, कहीं आने-जाने की साधारण कवायद भी की जा सकती है। फिर इसके फायदे भी हैं...?’ तनिक मुस्किताते, समीर मन-ही-मन बुदबुदाया।

संपर्क:

५/३४८, विराज खण्ड, गोमती नगर,
लखनऊ-२२६०१०, उत्तर प्रदेश, मो.९४५०६४८७०१

पगला बाबा

गोविंद मिश्र

कुकुर के रोने की आवाज आधी रात में... ऊ... ऊ... उ पर आकर जैसे किसी कुएँ में गिरती है। पुत्तन की गली का कुत्ता है, ठंड में रिरिया रहा है। नहीं। यह ठंड की किकियाहट नहीं, दूसरी सूँघ है, जो बोल रही है। कैसा आश्चर्य कि जो ज्ञानी-ध्यानी को पता नहीं चल पाता उसे कुकुर सूँघकर जान लेता है!

कौन चला... शिवोऽहँ...शिवोऽहँ... पगला बाबा ने करवट ली। बुखार में माथा चटक रहा है। आँखें आधी खुलीं...ठिलियाढिली है, छिद्रू मिठया के घर का अगवाड़ा है, दिन में सजकर मिठाई की दुकान बन जायेगा। जाड़े की कितनी रातें यहाँ कटी हैं, यही भट्टी से सटकर... अग्नि धीरे-धीरे बुझती हुई...

किसकी बुलाहट आयी... ? आसपास ही ढेरों पड़े हैं, क्या इनमें से कोई...शिवोऽहँ, शिवोऽहँ...

मृत्यु का वरण करने लोग काशी पहुँचते हैं... बाबा विश्वनाथ की नगरी। यहाँ प्राणान्त हो, मणिकर्णिका घाट में दाह मिल जाए तो सीधा मुक्ति। आते समय भय कि कहीं मार्ग में ही पंछी न उड़ जाए पहुँच गये तो दूसरा संकट कि प्राणान्त नहीं हो रहा। ऐसी रुग्णावस्था में आये कि आज गये, कल गये- और यहाँ आकर देखा कि गाड़ी उल्टी दिशा में चल पड़ी- चंगे होने लगे। फजीहत होती है ऐसे में- क्या करें, लौटने में बड़ी शर्म आती है... और यह तो सैकड़ों के साथ होता है कि डेरा डाले पड़े हैं, गर्दन उचका-उचकाकर गंगाजी की दिशा में हर पल निहारते हुए... अब बुला लौ मैया! जो सगे-संबंधी साथ आये थे वे भी उबिया कर लौट गये। मृत्यु महरानी की कृपा नहीं हो रही, अन्ततः सुध ली तो मणिकर्णिका घाट ले जाने वाला कोई नहीं... अब उठकर तो जा नहीं सकते और उधर जो है सो काशी बनारस होता जा रहा है- लोग दौड़ रहे हैं, यह छोर से वह छोर नापते हुए, अगल-बगल देखने का समय नहीं होता बेचारों के पास।

लेकिन पगला बाबा की बात कुछ और है। वे कहीं खड़े हुए और घंटी टनटनाई नहीं कि कोई कुछ कर रहा हो, यहाँ तक कि झगड़ ही क्यों न रहा हो... थम जाता है। लोगों के सामने उनका एक ही रूप- छड़ी-सा शरीर गंदे के मोटे-मोटे फूलों से लदा, कमर के नीचे झूमता लाल रंग का गमछा, नीचे लंगोट, रक्तिम चेहरे पर बिखरी खिचड़ी दाढ़ी, माथे पर भभूत और सिर पर दूल्हे वाली मौर। एक हाथ में घंटी और दूसरे में भिक्षापात्र। पगला बाबा... फुसफुसाहट इधर से उधर दौड़ जाती है। लोग रुपये-पैसे पात्र में डाल प्रणाम करते हैं। पगला बाबा तेज कदमों से आगे बढ़ जाते हैं... एक दुकान के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी। रुपये पूरे हुए कि पलटे और फड़फड़ कपड़े वाले की दुकान। घंटी और फिर उँगलियाँ उठा दीं- एक या दो। कफ़न का कपड़ा हाथ आते ही पगला बाबा दुगुनी तेज रफ़्तार से भागते हैं... सड़क पार, गलियों-नालियों को ताकते-फाँदते वहाँ- जहाँ उनकी ठिलिया पड़ी होती है... पास में कोई शव। ठिलिया पर शव को लिटाया, कफ़न ओठाया, अपना एक गजरा तोड़कर फूल बिखेर दिये और ठिलिया ढिनगाते चले मणिकर्णिका घाट। बीच में सिर्फ एक ही पड़ाव- थाने में कागज बनवाने के लिये। वहाँ भी घंटी बजी के सिपाही दौड़ा चला आता है, खुद ही जाकर डॉक्टर से पर्ची कटा लाता है। तब तक पगला बाबा दीगर सामान खरीद लेते हैं। मणिकर्णिका घाट पहुँचकर शव को गंगा स्नान कराते हैं और फिर पूरे सम्मान और विधिविधान से दाह। पश्चात् ठिलिया ढिनगाते हुए वापस बस्ती में, आँखें खोजती हुई- कहाँ कौन मृत उपेक्षित पड़ा हुआ है...

चक्कर... चक्कर... बस्ती से घाट, घाट से बस्ती... सहसा पगला बाबा को ध्यान आया कि साल से ऊपर हो गया वे मंदिर नहीं गये। लोग कितनी दूर-दूर से दर्शन को आते हैं और वे हैं कि... जी किलप उठा... कौन अपराध हुआ प्रभु कि बिसार दिया। कल उठकर पहले मंदिर ही जाएँगे। सवेरे से ही चकरी चिकिर-चिकिर करने लगती है... भाग... भाग। उजियारे-उजियारे जितने पार लग जाएँ। जाने किस-किस कोने से पुकार उठती है- एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी... कि सब कुछ बिसर आता है, रात उतरते-उतरते दम ही नहीं बचता। कैसा काम दिया प्रभु...

गाँव के दादा भैया अपना भाग्य सँवारने काशी आ रहे थे। ये भी पीछे लग गये। गाँव में आगे नाथ न पीछे पगहा वाला हिसाब था तो चलो बाबा विश्वनाथ के दरबार ही। दादा भैया बड़े आदमी थे, अपने अंत की प्रतीक्षा के लिए एक धर्मशाला में टिके। ये चाहते तो उनकी सेवा में बने रहते पर मन में आया कि बाबा की नगरी आये हैं तो केवल विश्वनाथ बाबा की चाकरी ही करेंगे, सो बस... विश्वनाथ गली, हुँडिराज गली, मंदिर में सिद्धि-विनायक, काली जी, अन्नपूर्णा जी और मंदिर का मुख्य दरवाजा... यहीं डोलते इधर से उधर। प्रत्यूष बेला में उठकर डेढ़-सी पुल होते हुए दशाश्वमेध घाट... गंगाघाट पट खुलने के पहले-पहले ही बाबा की सभा में उपस्थित। वह समय भी खूब था कि रोज कोई-न-कोई धर्मात्मा पूड़ी-कचौड़ी झोली में डाल जाता या चार-छह को ले जाकर कचौड़ी गली में आराम से खिला देता था।

एकाएक बड़ा आलतू-फालतू लगने लगा। उनके जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं जो कहीं जोड़े। जिसके न माँ-बाप, न जमीन-जायदाद और न काम-धाम ही... उनके लिए जोड़-जुड़ाव का सिलसिला आगे भी क्या बनेगा! क्या पेट भर लेना ही अथ और इति था? वह जुगाड़ तो बाबा विश्वनाथ बिठा देते थे। भीतर कुरकुराहट-सी मची रहती। क्या यही बाबा की चाकरी है- बैठे-बैठे खाना और पगुराना, कोई काम नहीं कि लगे पृथ्वी पर आना धन्य हुआ, वह न सही तो यही लगे कि जितना खाते हैं उतने का प्रतिदान कर रहे हैं। बाबा की देहरी पर पड़ा रहना तो ठीक लेकिन परजीवी होना? क्या संसार में अपने हिस्से का कोई काम नहीं, वे किसी से जुड़ नहीं सकते, कोई ऐसा नहीं जो उनकी प्रतीक्षा करे, जिसे उनकी जरूरत हो, जिसका उनके बिना कुछ रुका पड़ा हो... ?

ऐसे ही एक दिन मणिकर्णिका घाट पर बैठे थे। हर दिशा से शव-यात्राएँ आ रही थीं... एक के बाद एक ... जैसे चारों तरफ से छोटी-छोटी जलधाराएँ बड़ी धारा से मिलने बढ़ी चली आ रही हों। अंतिम यात्रा सभी... फिर भी कितनी अलग-अलग। किसी के पीछे गाना-बजाना, उत्सव तो किसी के पीछे भयंकर चीख-चिल्लाहट जैसे प्राण उनके खिंचे जा रहे हों जो पीछे छूट गये। कोई यात्रा अकेली... उदास और वीरान, मात्र चार कंधे देने वाले... उनके चेहरों पर भी कुछ नहीं, शायद उनकी तरह का ही

कोई फालतू था- जैसे आया वैसे ही गया। भाई लोगों ने जल्दी-जल्दी दाह निपटाया और फिर मजे से एक किनारे बैठ बीड़ी पीने लगे।

घाट प्रतिफल चलायमान... पर एक महिला का शव सवेरे से ही एक किनारे पड़ा हुआ था- रगड़ की टाल से नीचे उतरकर जो छुटका चबूतरा है, उसी से सटे हुए... जैसे चबूतरे पर बैठे-बैठे ही लुढ़क गयी हो। लोग आते थे, अपना काम खत्म कर चले जाते थे, कभी-कभी तो उस शव के बगल से ही गुजरते थे। ये प्रतीक्षा में थे कि किसी का ध्यान तो उधर जाएगा। अँधेरा छाने को हो आया पर कोई उस शव का पुच्छैया नहीं। उतरती शाम... शव के इर्द-गिर्द वीरानी गहराने लगी... ये प्रतीक्षा करते रहे। हवा की हर नयी लहर एक और मुट्ठी भर धूल शव के चेहरे पर भुरकती चली जाती। उनके लिए वह सब असह्य हो गया। वे उठे... घाट के ऊपर दफ्तर में जाकर कागज़ बनवाया और टाल के सामने जा खड़े हुए। धेला पास में नहीं था इसलिए केवल खड़े हो गये और उस शव की तरफ इशारा कर दिया। लकड़ियाँ मिल गयीं। स्वयं बटोरकर लाये और चिता सजायी। अकेले ही शव को स्नान करा चिता पर रखा...

शरीर क्या था... एक सूखी लकड़ी। महिला का अंत जो था वह उनके सामने था... आदि और मध्य कैसा रहा होगा? जहाँ तक कोई नहीं था दिवंगता का या क्या पता घर में सब कोई हो और किसी विवाद के चलते झटके में सब कुछ छोड़ आयी हो... या कोई रुग्णा, पर घोर आस्थावती थी, रेंग-रेंगकर मणिकर्णिका घाट तक पहुँच ही गयी। कौन... कहाँ की... कुछ नहीं मालूम। जीवन भर उनकी अजनबी, पर शरीरान्त पर सगी हो गयी... माँ...

अग्नि देते समय उनकी आँखें छलछल्ला आयीं, आँसुओं से अवरुद्ध दृष्टि लपटों के पास आसमान के चौखटे पर... अंधेरे का वह हिस्सा कैसा चमक-चमक उठता था।

बाँह जिस पर पगला बाबा का सिर टिका था, वह कुछ गीली-गीली लगी... इतने वर्षों बाद भी। माता... भागते-भागते चूल ढीले पड़ गये, कब तक चलते रहना होगा...

उस शाम जैसे उन्हें अपना धर्म मिल गया था। जिसका कोई नहीं उसका सब कोई। संसार-यात्रा का एक छोटा-सा भाव जहाँ व्यक्ति अशक्य हो जाता है... मात्र निःस्पन्द देह... वहाँ उसे आगे की तरफ ठेल देना, पंचभूत पंचतत्त्वों

को सौंप देना। वे पगला बाबा हो गये। कहाँ के थे, क्या नाम था, कौन जाति-धर्म... सब पगला में डूब गया।

दिन... मास... वर्ष... जैसे गंगा मैया की नयी-नयी जल लहरी। कितने लोग कितनी तरह की उधेड़-बुनों में व्यस्त पर उनके लिए एक ही धुन... एक ही काम। बस्ती के किसी कोने में मणिकर्णिका घाट... फिर-फिर वही। सबको जीवन पार पहुँचा-पहुँचाकर लौटते हैं। पागल की तरह हर पल दौड़ते रहते हैं। थकान से पिंडरियाँ दुखने लगीं या निंदास में कहीं बैठ गये कि एकाएक फिर झटका देकर उठ बैठते हैं... चल पड़ते हैं। काम पूरा होने को फिर भी नहीं आता, हर पल यही लगता रहता है कि किसी कोने में कोई छूट गया, कहीं कोई उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। पगला बाबा भागते रहते हैं, अपनी ढिलिया के साथ-साथ...

लोगों की अनुकम्पा है कि कर्म से डोम फिर भी अस्पृश्य नहीं मानते लोग। कहते हैं पगला बाबा का कलेजा गजब का है। कोई कहता है कि वे शिवजी के गण हैं, कोई उन्हें काशी के कोतवाल बाबा भैरवनाथ का अवतार बताता है। क्या कहा जाए! वे किससे कहें कि एक समय अवश्य था जब मोह-माया व्याप्ती ही नहीं थी- पर अब... अब वे दूर-दूर तक हिलगे चल जाते हैं- जो गया उसने क्या पाया, क्या खोया, कितना भोगा... क्यों... कितनी तरह के प्रश्न भीतर कुलबुलाने लगते हैं। माया उनके लिए कैसे-कैसे खेल रचाती है... छोटे खेल! घाट तक की इस सहायता में कोई दादा हो जाता है तो कोई ताऊ, कोई काका। भैया-भौजी तो कितने गये... और आज... आज एक बच्चा था... जैसे उनका अपना... प्रभु ने तो गृहस्थी से दूर रखा, फिर भी उनका! कैसा फूल-सा, हाथ में उठाते ही मन टूटने लगा। जिसने अभी ठीक से आँखें भी नहीं खोली... कुछ देख नहीं पाया... कैसा अनाथ-सा घूमता रहा होगा... प्रभु उस पर से तुमने अपना संरक्षण उठा लिया... इतना निष्ठुर हो जाता है तू? बच्चों को कष्ट मत दे बिस्सनाथ! हमें दें... हम हैं... ओ छिद्दू भैया...

पगला बाबा का जी बहुत जोरों से घबराने लगा, टटोलकर अपनी घंटी उठायी और टनटनाने लगे। घंटी की

आवाज जो दिन के शोर में भी ऊपर चढ़कर बोलती थी, रात के सन्नाटे में खासी तीखी और डरावनी उठी। छिद्दू भागा-भागा बाहर आया- पहले कभी पगला बाबा ने रात को घंटी नहीं बजायर। देखा तो पगला बाबा बैठे बेचैनी से सिर हिलाये जा रहे हैं- चेहरा सिन्दूरी, आँखें आग के गोले।

“आपको तो बहुत तेज बुखार है बाबा...” भीतर चलिये... छिद्दू ने बाबा का माथा छूकर कहा।

का हो... नम्बर आ गया का रे... पुत्तन की गली का कुत्ता पगला का नाम ले रहा का भाई... बुलाहट आ गयी? मणिकर्णिका घाट जहाँ कभी-कभी दिन में चार-चार बार जाना होता है... जाना और आना, वहाँ आज पहुँचकर आना नहीं होगा का...

“छिद्दू भैया, गला सूखत हौ।”

छिद्दू ने पास रखा पानी का लोटा उठाया तो बाबा ने मना कर दिया।

“अरे ई बम्बा के पानी से पियास बुझी? तई दू बूँद गंगाजल डाल दे।”

छिद्दू भीतर से गंगाजल ले आया, बाबा के मुँह में डालकर उन्हें भीतर ले चलने की जिद्द करने लगा।

“अरे छिद्दूआ... हम ठहरे बनारस के राजा। तौहरी ई कोठरी में समईबे का रे? उ देख हमरा रथ खड़ा हौ।” बाबा ने अपना कमजोर हाथ बाहर ढिली ठिल्लिया की तरफ उठाया- “ए ही पर गंगा मैया के पास ले जाए। हम निकल जाई तो इ रथ के रगघू के टाल के नीचे जौन छुटका चबुतरा हौ न... उहें छोड़ दिहे... उहें हमार महतारी ई हमरे हाथ में थमौल रहलीं...”

बाबा अपनी जगह लेट गये और आँखें मूँद लीं। तब छिद्दू पास-पड़ोस में खबर करने दौड़ गया।

थोड़ी देर में बाबा की आँखें फिर आधा-खुलीं। भिनसार... वे पड़े हैं... वे तो काशी मुक्ति की भीख माँगने नहीं आये थे? उठ... पगल! उठ... तत्... तत्... चल...

हड़बड़ाकर वे उठे, दूल्हेवाली मौर सिर पर रखी और ठिलिया ढिनगाते चल पड़े पुत्त की गली की ओर जहाँ से रात कुत्ते की रोने की आवाज आती रही थी। विश्वनाथ मंदिर जाने की बात जैसे कभी उठी ही नहीं थी मन में।

संपर्क: एच. एफ. ९४, ई-७ एरिया कॉलोनी,

भोपाल-४६२०१६ मो. ०९८२७५६०११०

निंदक

मूल लेखक : एंटन

अनुवाद : सुशांत सुप्रिय

सुलेख के शिक्षक सर्गेई कैपितोनिच अखिनेयेव की बेटी नताल्या की शादी इतिहास और भूगोल के शिक्षक इवान पेत्रोविच लोशादिनिख के साथ हो रही थी। शादी की दावत बेहद कामयाब थी। सारे मेहमान बैठक में नाच-गा रहे थे। इस अवसर के लिए क्लब से किराए पर बैरों की व्यवस्था की गई थी। वे काले कोट और मैली सफ़ेद टाई पहने पागलों की तरह इधर-उधर आ-जा रहे थे। हवा में मिली-जुली आवाज़ों का शोर था। बाहर खड़े लोग खिड़कियों में से भीतर झाँक रहे थे। दरअसल वे समाज के निम्न-वर्ग के लोग थे जिन्हें विवाह-समारोह में शामिल होने की इजाज़त नहीं थी।

मध्य-रात्रि के समय मेज़बान अखिनेयेव यह देखने के लिए रसोई में पहुँचा कि क्या रात के खाने का इंतज़ाम हो गया था। रसोई ऊपर से नीचे तक धुएँ से भरी थी। हंसों और बत्तखों के भुनते हुए मांस की गंध धुएँ में लिपटी हुई थी। दो मेजों पर खाने-पीने का सामान कलात्मक बेतरतीबी से बिखरा हुआ था। लाल चेहरे वाली मोटी रसोइया मारफ़ा उन मेजों के पास व्यस्त-सी दिख रही थी।

“सुनो, मुझे पकी हुई स्टर्जन मछली दिखाओ,” अपने हाथों को आपस में रगड़ते और जीभ से अपने होठों को चाटते हुए अखिनेयेव ने कहा। “क्या बढ़िया खुशबू है ! मैं तो रसोई में रखा सारा खाना खा सकता हूँ ! अब ज़रा मुझे स्टर्जन मछली दिखाओ ।”

मारफ़ा चल कर एक तख़्त के पास गई और उसने ध्यान से एक मैला अखबार उठाया। उसके नीचे कड़ाही में एक पकी हुई बड़ी-सी मोटी मछली रखी हुई थी, जिसके ऊपर खजूर और गाजर के टुकड़े पड़े हुए थे। अखिनेयेव ने स्टर्जन मछली पर निगाह डाली और चैन की साँस ली। उसका चेहरा खिल गया और उसकी आँखों में संतोष का भाव आ गया। वह झुका और उसने अपने मुँह से पहिये के चरमराने जैसी आवाज़ निकाली। वह थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। फिर खुश होकर उसने अपनी उँगलियाँ चटकाई और दोबारा अपने होठों से चटखारा लेने की आवाज़ निकाली।

“ओह! हार्दिक चुंबन की आवाज़। मारफ़ा, तुम वहाँ किसे चूम रही हो ?” बगल वाले कमरे में से किसी की आवाज़ आई और जल्दी ही दरवाज़े पर विद्यालय के शिक्षक वैन्किन का घने बालों वाला सिर नज़र आया। “तुम यहाँ किसे चूम रही थी ? अहा! बहुत अच्छे! सर्गेई कैपितोनिच! क्या शानदार बुज़ुर्ग हैं आप! तो आप इस महिला के साथ हैं!”

“मैं किसी को नहीं चूम रहा था, ” अखिनेयेव ने घबराहट में कहा, “मूर्ख आदमी, तुम्हें यह बात किसने बताई ? मैं तो केवल अपने होठों से चटखारा लेने की आवाज़ निकाल रहा था क्योंकि मैंने बढ़िया पकी हुई मछली देखी थी।”

“ये बहाने मुझे नहीं, किसी और को बताना,” वैन्किन चहक कर बोला। उसके चेहरे पर एक चौड़ी मुस्कान फैल गई थी। फिर वह दरवाज़े से हटकर दूसरे कमरे में चला गया। अखिनेयेव झोंप गया।

“शैतान ही जानता है कि इस घटना का नतीजा क्या होगा!” उसने सोचा।

“अब वह दूसरों से मेरी निंदा करता फिरेगा। बदमाश कहीं का! उफ़फ़! वह जंगली पूरे शहर के सामने मेरी इज्जत उतार देगा!”

अखिनेयेव सहमता हुआ बैठक में दाखिल हुआ। वह चोर-निगाहों से यह देख रहा था कि वैन्किन क्या कर रहा है। वैन्किन पियानो के पास खड़ा था। उसका सिर झुका हुआ था और वह पुलिस इंस्पेक्टर की साली के कान में कुछ फुसफुसा रहा था। उसकी बात सुन कर वह महिला हँस रही थी।

“ज़रूर वह मेरी ही निंदा कर रहा है,” अखिनेयेव ने सोचा। शैतान उसका बेड़ा नार्क करे! उस स्त्री ने वैन्किन की बातों को सच मान लिया है, तभी तो वह हँस रही है। हे ईश्वर! नहीं, मैं इस बात को ऐसे ही नहीं छोड़ सकता। मुझे लोगों को सच्चाई बतानी ही पड़ेगी ताकि कोई भी वैन्किन की बातों पर यक्रीन न करे। मैं खुद इस बारे में सबको बताऊँगा ताकि अंत में वैन्किन की बातें मनगढ़ंत गप्प साबित हों।”

घबराहट में अपने सिर को खुजलाते हुए अखिनेयेव चल कर पदेकोई के पास पहुँचा।

“अभी थोड़ी देर पहले मैं रात के खाने की तैयारी देखने के लिए रसोई में गया था,” उसने अपने फ्रांसीसी मेहमान से कहा।” मुझे पता है, आप को मछली पसंद है। इसलिए मैंने एक खास बड़ी स्टर्जन मछली का इंतज़ाम किया है। लगभग दो गज लंबी मछली! हा, हा, हा! अरे वह बात आपको बताना तो मैं भूल ही गया। रसोई में उस स्टर्जन मछली से जुड़ा एक क्रिस्सा मैं आपको बताता हूँ। थोड़ी देर पहले मैं रात के खाने का इंतज़ाम देखने के लिए रसोई में गया। अच्छी तरह से पकी स्टर्जन मछली को देखकर मैंने होठों से चटखारा लिया। वह बड़ी मसालेदार मछली लग रही थी। तभी वह मूर्ख वैन्किन रसोई के दरवाज़े पर आया और कहने लगा—हा, हा, हा! और कहने लगा ‘आहा! तो तुम यहाँ मारफ़ा को चूम रहे हो! आप ही सोचिये—रसोइये का चुम्बन! क्या मनगढ़ंत बात थी! महामूढ़ व्यक्ति! वह औरत

वैसे ही दिखने में बदसूरत है। वह किसी बंदरिया—सी लगती है! जबकि वह मूर्ख आदमी बेसिर-पैर की बात कर रहा था कि हम एक-दूसरे को चूम रहे थे! कितना अजीब आदमी है!”

“कौन अजीब आदमी है?” उनकी ओर आते हुए तारांतुलोव ने पूछा।

“अरे, मैं वैन्किन की बात कर रहा हूँ। अभी थोड़ी देर पहले मैं रसोई में गया” मारफ़ा और स्टर्जन मछली की कहानी दोहराई गई।

“उसकी बात सुनकर मुझे हँसी आ रही है। कितना अजीब आदमी है! मेरे खयाल से मारफ़ा को चूमने की बजाए किसी कुत्ते को चूमना सुखद होगा,” अखिनेयेव ने कहा और मुड़ने पर उसने मज़दा को देखा।

“हम वैन्किन के बारे में बात कर रहे थे,” उसने मज़दा से कहा। “कितना अजीब आदमी है! वह रसोई में घुसा और उसने मुझे मारफ़ा के बगल में खड़ा पाया।

बस, फिर क्या था! वह उसी समय हम दोनों के बारे में वाहियात कहानियाँ गढ़ने लगा। ‘क्या, वह बोला, तुम दोनों एक-दूसरे को चूम रहे थे?’ उसने पी रखी थी इसलिए वह अपने होशो-हवास में नहीं था। जागते हुए सपने देख रहा था। मैंने कहा, ‘मारफ़ा को चूमने की बजाए मैं किसी बत्तख को चूमना पसंद करूँगा। और फिर मैं शादी-शुदा हूँ।’ मैंने कहा, ‘तुम महामूढ़ हो! बताइए, मुझ पर ऐसा घटिया आरोप लगा कर उसने मेरी स्थिति कितनी हास्यास्पद बना दी।’

“किसने तुम्हारी स्थिति हास्यास्पद बना दी?” धर्म-शास्त्र पढ़ाने वाले शिक्षक ने अखिनेयेव से पूछा।

“वैन्किन ने। मैं रसोई में खड़ा हो कर स्टर्जन मछली के बारे में पता कर रहा था” वगैरह। आधे घंटे के भीतर ही सभी मेहमानों को वैन्किन और स्टर्जन मछली वाली कहानी के बारे में पता चल गया।

“अब उसे बताने दो,” अखिनेयेव ने अपने हाथ आपस में रगड़ते हुए सोचा।” अब उसे मेरी निंदा करने दो। वह जैसे ही लोगों को यह कहानी बताना शुरू करेगा, वे उसे बीच में ही रोक देंगे : ‘बकवास मत करो, मूर्ख आदमी! हमें इसके बारे में सब पता है।’”

और इस बात से अखिनेयेव इतना संतुष्ट महसूस करने लगा कि खुश हो कर उसने ज़रूरत से ज़्यादा ब्रांडी पी ली। अपनी बेटी को उसके कमरे में पहुँचा कर वह अपने कमरे में गया और वहाँ वह एक मासूम बच्चे की गहरी नींद में डूब गया। अगले दिन उठने पर उसे स्टर्जन की कहानी का कोई अंश याद नहीं रहा।

किंतु, काश ! इंसान प्रस्ताव रखता है, पर ईश्वर उसे जैसे उचित समझता है, वैसे निपटाता है। काली ज़बान अपना शैतानी काम कर जाती है। इसलिए अखिनेयेव की चालाकी भी उसके किसी काम नहीं आई। एक हफ्ते बाद, बुधवार के दिन, तीसरे पाठ के बाद जब अखिनेयेव शिक्षकों के कमरे में खड़ा हो कर एक छात्र विष्येकिन की दुष्टतापूर्ण प्रवृत्तियों के बारे में चर्चा कर रहा था, तब निदेशक ने उसे इशारे से अलग बुलाया।

“देखो, सर्गेई कैपितोनिच ,” निदेशक ने कहा। मुझे क्षमा करो क्योंकि यह मामला मुझ से जुड़ा नहीं है, किंतु कुछ भी हो, मुझे इसके बारे में तुमसे दो टूक बात करनी होगी। यह मेरा फ़र्ज है— देखो, अफ़वाहों का बाज़ार गरम है कि उस महिला से, वह जो तुम्हारी रसोइया है, उससे तुम्हारे अंतरंग सम्बन्ध हैं !

देखो, यह मुझसे जुड़ा मामला नहीं है, लेकिन चाहे तुम्हारे उससे अंतरंग संबंध हों, चाहे तुम उसे चूमो तुम उसके साथ जो तुम्हारी इच्छा हो, करो, लेकिन इतना खुल कर मत करो ! देखो, यह मेरा विनम्र निवेदन है। यह मत भूलो कि तुम एक शिक्षक हो।”

यह सुन कर अखिनेयेव जैसे स्तंभित रह गया। उसे ऐसा लग रहा था जैसे सैकड़ों मधु-मक्खियों के झुंड ने उसे काट लिया हो, जैसे उबलते हुए गरम पानी ने गिर कर उसकी त्वचा को झुलसा दिया हो। ऐसी भयानक हालत में वह घर पहुँचा।

रास्ते में उसे लगा जैसे उसके मुँह पर कोलतार की कालिख पुती हुई हो। घर पर नई मुसीबतें उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं।

“तुम कुछ खाते क्यों नहीं ?” रात के खाने के समय उसकी पत्नी ने उससे पूछा।” तुम किसके बारे में सोच रहे हो ? क्या तुम्हें अपनी महबूबा याद आ रही है ? क्या तुम रसोइया मारफ़ा को याद कर रहे हो ? मुझे सब पता चल गया है, दगाबाज़ ! दयालु लोगों ने मेरी आँखें खोल दी हैं, बर्बर आदमी !” और उसने अखिनेयेव के गाल पर खींच कर थप्पड़ दे मारा।

वह लड़खड़ाता हुआ खाने की मेज पर से उठा और बिना अपनी टोपी या कोट लिए हुए सीधा वैन्किन के घर की ओर चल पड़ा। वैन्किन घर पर ही था।

“बदमाश कहीं के !” उसने वैन्किन से कहा। “तुमने पूरी दुनिया के सामने मुझे बदनाम क्यों किया ? तुमने सब से मेरी निंदा क्यों की ?”

“कैसे ? कौन—सी निंदा ? यह तुम मुझ पर कौन—से गढ़े हुए इल्ज़ाम लगा रहे हो ?”

“तो फिर सबको यह झूठी बात किसने बताई कि मैं मारफ़ा को चूम रहा था ? अब तुम कहोगे कि वह तुम नहीं थे ! वह तुम नहीं थे, मेरी इज़्जत के हत्यारे ?”

वैन्किन ने हैरानी से अपनी पलकें झपकाईं। उसकी देह के रोएँ सिहर उठे। उसने अपनी पलकें उठा कर किसी तरह कहा, “यदि मैंने तुम्हारे बारे में एक शब्द भी किसी से कहा हो तो ईश्वर मुझे दंड दे। मेरी आँखों की दृष्टि चली जाए और मैं अकाल-मृत्यु का ग्रास बन जाऊँ। न मेरे पास मकान रहे, न मेरा घर बचे !”

वैन्किन की सच्चाई असंदिग्ध थी। यह स्पष्ट था कि उसने किसी से भी अखिनेयेव की निंदा नहीं की थी।

“किंतु फिर वह कौन था ? कौन ?” अखिनेयेव ने खुद से पूछा। उसके ज़हन में सभी परिचितों के नाम आ-जा रहे थे। अपनी छाती पर हाथ मारते हुए वह फिर बोला, “आखिर कौन था वह निंदक ?”

संपर्क: ए-५००१, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम्,
गाज़ियाबाद- २०१०१४ (उ. प्र.), मो. ८५१२०७००८६

हमारे अनपढ़ आलोचक फतवे देने के लिए प्रख्यात हैं।

(सुप्रसिद्ध कहानीकार एवं कवि डॉ. गंगा प्रसाद विमल जी से भूपेन्द्र हरदेनिया की बातचीत)

हिन्दी साहित्य में अकहानी आंदोलन के पुरोधा डॉ. गंगाप्रसाद विमल एक विख्यात कवि, कथाकार, उपन्यासकार, अनुवादक और समालोचक के रूप में दुनियाभर में ख्याति प्राप्त हैं। काफी लंबे समय से अपने सृजन कर्म में रत विमल जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व और बेहद विशाल हृदय से संपन्न हैं। उनके व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि इतनी सारी विशिष्टताएँ होने के बावजूद भी इनमें किसी भी तरह का दंभ, अहं या सर्वश्रेष्ठ होने के अभिमान का भाव कहीं नहीं झलकता। मैं जब इनसे पहली बार मिला तो मुझे कहीं से कहीं तक यह नहीं लगा कि मेरी विमल जी से पहली मुलाकात है, बल्कि सदियों की पहचान का अहसास मुझे उनसे कुछ ही क्षणों की चर्चा के दौरान हुआ। इनका रूमानी और संजीदगी से भरा चरित्र एवं व्यक्तित्व एकदम सहज और मिलनसार प्रवृत्ति का है एवं सदैव लोगों के साथ मृदुभाषी जुबाँ होने एवं उनकी साहित्यिक उदात्तता की वजह से ही सम्पूर्ण भारत वर्ष में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण वैश्विक फलक पर इन्हें सराहा व सम्मानित किया गया है।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल का जन्म भारत के एक ऐसे रमणीक स्थल पर हुआ, जो कि हिमालय की सुरम्य वादियों में बसा हुआ था। इनका जन्म उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड में सन १९३९ को हुआ, इसीलिए इनके व्यक्तित्व में हिमालय की सादगी, विस्तार, निर्मलता, पावनता और विशालता को धारण करने का जज्बा एवं निर्झर झरने सा निरंतर बहते रहने की दिली तमन्ना, इनकी विशिष्टता का प्रतीक बन चुका है। बचपन में एक मैं एक कहावत सुनता था कि 'लीक छाँड़ तीनों चलें शायर सिंह सपूत' अतः लीक से हटकर चलने वाले ऐसे साहित्य के सृजेता सपूत डॉ. विमल एक ऐसे सृजनात्मक व्यक्तित्व हैं जिनकी रचनाओं और उनके स्वयं के विचारों तथा शैली पर बात किए बगैर उनके व्यक्तित्व और सृजन कर्म को सुंदरता से उजागर करना निरर्थक है। आइए पढ़ते हैं, युवा आलोचक डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया से हुई उनकी बातचीत को—

प्रश्न: मेरा सबसे पहला प्रश्न आपसे यही रहेगा कि आपके विचार से कला का संबंध कलाकार के जीवन से कितना और किस प्रकार का है? क्या वही कला महत्ता प्राप्त कर सकती है, जिसका संबंध कलाकार की जीवन यात्रा से होता है?

उत्तर: कलाकार सृजेता होता है। सृजन को विचार, जीवन और यहाँ तक कि कल्पना से भी अलग नहीं किया जा सकता। यह कहना अविश्वास के घेरे में आ जायेगा कि कल्पना भी

वास्तविकताओं में रूपान्तरित होना चाहती है। यह सच है। मनुष्य ने जितनी कल्पनाएँ की हैं, उन्हें वैज्ञानिक आविष्कारों से स्वाकृति भी दिलवाई है। कलाकार का जीवन एक व्यक्ति के जीवन जैसा ही है, वह सामुदायिकता से विकसित होता है परन्तु अपने उच्च स्तर पर सामुदायिकता, समाज का परित्याग करता है। तथापि स्वीकृति, परित्याग आदि सब जीवन की विभिन्न धाराओं से निःसृत बातें हैं। स्थूल रूप से मानना होगा कि कलाकार जीवनानुभवों के बीच ही कला से सामना करता है, और जीवन से जुड़ाव के गहरे सरोकारों के रहते वह एक अनाम मुक्ति का भी सपना पाले रहता है।

प्रश्न: क्या रचनाकार हर समय रचनात्मक रहता है, या एक विशेष कलात्मक अनुभव के क्षण के उपरान्त वह सामान्य व्यक्ति जैसा हो जाता है? आपका इस सम्बन्ध में क्या अनुभव है ?

उत्तर: सृजन का कोई निर्धारित समय नहीं है, वह अचानक फूटता है, ऐसे में यह कहना कठिन है कि सृजेता इसके लिए तैयारी करता है, परन्तु सृजन के दबाव में पड़ा व्यक्ति हर पल उस लक्ष्य से प्रेरित रहता है जो लक्षित है। अब यह बताना लगभग नामुमकिन है कि वह लक्ष्य या दबाव क्या है? तथापि कलाओं के लिए समर्पित ज्यादा उदाहरण ऐसे लोगों का है जो थोड़े से विचित्र, सामाजिक अर्थों में लापरवाह, गैर जिम्मेदार, लड़ाकू या आत्मस्थ होते हैं। अपने अनुभव से बात स्पष्ट करूँ तो मैं एक सफल व्यक्ति, घरेलू, जिम्मेदार आदमी के अनुभव के पीछे अभिनय पटुता के कौशल में खुद को निरर्थकता से घिरा पाता हूँ कि न मैं सफल व्यक्ति हूँ, न सृजेता। एक मामूली अभ्यासरत भाषा के खेल में रत अज्ञात कुलशील की तरह बाहर निकलने के मुहाने पर खड़ा हूँ। अब इसी पहर बाहर निकलने से पहले कुछ हो जाय तो कह नहीं सकता।

प्रश्न: आप अपने बाल्यकाल के अनुभवों के बारे में, अपने कहानीकार के मन पर पड़े शुरुआती प्रभावों और निर्णायक प्रसंगों के बारे में कुछ बताएँ ?

उत्तर: बाल्यकाल की स्मृतियाँ बहुत धुंधली हैं। दूसरों द्वारा अपने बचपन की घटनाओं के विवरण तो मैंने सुने हैं, पर वे विश्वसनीय नहीं लगते। किशोरावस्था की यादों में

कुछेक घटनाएँ तो याद हैं, पर वे भी अधूरी यादें कही जायेंगी। अतीत से रिश्ते की एक कड़ी मेरी बड़ी बहन थी जो मेरी माँ की विकल्प थीं, क्योंकि मैं जब दो बरस का भी नहीं रहा हूँगा, तब माँ संसार छोड़ चुकी थी। मेरी बड़ी बहन ने मेरे उसी अतीत से कुछ घटनाएँ बुनकर दी थीं, उनसे मैं देखता हूँ कि एक छोटे शिशु खासकर मातृविहीन शिशु के जीवन में घटनाएँ-दुर्घटनाएँ किस किस्म की होती हैं? बड़ी बहन एक छतरी की तरह मुझे सुरक्षा देती थी, और दादी या नानी या बुआ के बारे में, और एक शिशु से जुड़े प्रसंगों के बारे में वह जो कुछ बताती थीं, उस पर यकीन करना मेरे लिए मुश्किल था। यह अचंभे में डालने वाली बात हो सकती है, पर कहानी की रचना में वह अनुभव जो घटनाओं के वर्णन से झरता है, एक उद्गम की तरह है और मैंने उससे बहुत कुछ लिया है। बाल्यकाल सबसे ज्यादा अपनी ओर आकर्षित करने वाला तत्त्व, अबोध मस्तिष्क को प्रभावित करने वाली चीज थी। वे त्रासद घटनाएँ जो प्राकृतिक भी थीं और मनुष्य निर्मित भी। उनके भीतर से झरता था अनैतिकता, अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने वाला विस्मयकारी शौर्य, और वह एक अविस्मरणीय प्रसंग बन कर रह-रहकर उद्देलित करता रहा। उसकी बदली हुई प्रतिच्छवियाँ अक्सर सृजन का आधार बनी हैं।

प्रश्न: वस्तु और शिल्प की साहित्यिक शुद्धि पर आपकी क्या सम्मति है।

उत्तर: सामान्य रूप से माना जाता है कि वस्तु और शिल्प अविभाज्य हैं। यह भी मान्यता है कि लेखक की परीक्षा इन्हीं मोर्चों पर होती है। यह भी धारणा प्रचलित है कि प्रतिबद्ध लेखक वस्तु को महत्त्व देता है तथा अप्रतिबद्ध कलाकार, शिल्प के मोर्चे पर मेहनत करता रहता है। परन्तु इतना अवश्य है कि कभी वस्तु, लेखक को तनावग्रस्त रखती है, तो कभी शैल्पिक प्रयोग। किन्तु कुल मिलाकर ये दोनों पक्ष हैं जिन पर आलोचक दनादन बोलते हैं। सारतः एक लेखक होने के नाते मैं कहूँगा कि वस्तु के अनुरूप ही शिल्प का सृजन होता है। अलग से इन्हें विश्लेषण के लिए ही देखा जाता है।

प्रश्न: आप अपनी कहानी 'मैं भी जाउंगा' के बारे में हमें कुछ बताएँ, इसके लेखन की प्रेरणा आपको कैसे प्राप्त हुई।

उत्तर: अपने इस समय में हम एक साथ आदिम तथा उत्तर-आधुनिक परिस्थितियों में रह रहे हैं। यह मनुष्य की बुद्धि का ही कमाल है कि वह विज्ञान के रहस्यों से अभ्यास के क्रम में परिचित होता रहता है। आप पायेंगे कि गरीबी, पर निर्भरता के दबाव ने उसे विवश किया है कि वह हार न माने और अपनी ही बौद्धिक क्षमता से दूसरे अति बौद्धिक हलकों, इलाकों में प्रवेश कर वहाँ जूझे। यह संभव है अतिलोकप्रिय, व्यापक स्तर पर जनोपयोग की सामग्री की वैज्ञानिक कला को घोर गोपनीय रखते हुए भी-कल्पनाशीलता से उस गोपनीयता के अभेद्य के अन्तिम निष्कर्षों को भांपना। आप लाख ताले लगाएँ। मुराद यह कि ताला तो खुलेगा ही आप उसे चाबी से खोलें, बटन से या हथौड़े से या फिर अपनी कल्पना से विकल्प खोज चट से खोल डालें। 'मैं भी जाऊँगा' में सामान्य से कारीगर भी जटिल यंत्रों की मरम्मत करते समय उन चीजों की अहमियत समझ लेते हैं जो गोपनीयता के क्षेत्र में हैं, और फिर अपने अभ्यास से उसके रहस्यों से परिचित हो जाते हैं। यह कथा ऐसे समय में लिखी गई है जब मोबाइल का बहुमुखी प्रयोग चलन में आने लगा।

कहानी की प्रेरणा तो वे अनाम कारीगर लोग ही हैं, जो बहुतेरे काम तकनीकी रूप में उच्च शिक्षा में पारंगत न होने पर भी जानते हैं, और सबसे बड़ी बात है कि बौद्धिक मामलों में ओरियन्ट यानी पूरब या अन्य दिशाओं से बहुत आगे हैं। चाहे कल्पना में ही क्यों न हो। मैंने इस रूपक का इस्तेमाल अपनी कविताओं, कहानियों में बहुत किया है, परन्तु पश्चिमी रंग में रमे लोगों को मेरा ऐसा कहना एक तरह का अतिक्रमण लगता है।

प्रश्न: क्या आप यह पाते हैं कि वर्तमान में लिखी जा रही हिंदी कहानी अपने सौंदर्य-बोध, अपनी भाषिक संरचना और अपने अभिव्यक्ति पैटर्न में अधिक विविध और सम्पन्न हुई है, या इसमें एकरसता आयी है?

उत्तर: निर्विवाद रूप से हिन्दी कहानी अपने अद्यतन चरण में कुछ प्रतिभाशाली कथाकारों के चलते अधिक समृद्ध, और सभी पक्षों से बेहतर विकास के लक्षणों से सम्पन्न है, तथापि यह बात समूची लिखे जाने वाली कहानी के बारे में नहीं कही जा सकती। कहानी की असली पहचान

उसकी भाषा में बिम्बित होती है। भाषा की सरहदों को तोड़ने या नई सरहदें कायम करने की शक्ति कुछेक कहानियों में, कुछेक कहानीकारों ने ही, अपने रचनात्मक रचाव में दी है। उसे सभी लिखे जाने वाली कहानियों पर लागू नहीं कर सकते, और वे ही कहानियाँ मानक या बड़ी कहानियाँ होती हैं, जो किसी न किसी अर्थ में पिछली परम्परा से बड़ी कोई अघोषित-सी पंक्ति खींच देती हैं।

प्रश्न: इन दिनों आप क्या लिख-पढ़ रहे हैं?

उत्तर: मुझे कुछ आता जाता नहीं है। स्वयं की निगाह में मैं एक पहले दर्जे का लबाड़ी यानी झूठा आदमी हूँ। दूसरी बात यह कि मुझे दो ही काम आते हैं। अपठनीय लेखन और वैसी ही चीजें पढ़ना जिन्हें लोग दुत्कार चुके हैं। इसकी सच्चाई देखनी हो तो किसी भी दिन मेरे पास आकर देख लें। सर्दियाँ होंगी तो मैं गर्म रहने की कलाओं की बजाय सर्दी से भागने की कला सीख रहा होऊँगा। कुल मिलाकर मैं एक अनुशासनहीन आदमी हूँ, अतः न कायदे से कुछ लिख सकता हूँ, न कायदे से ही कुछ पढ़ता हूँ। वे भाग्यशाली हैं जो नियमों के भीतर रहते हैं। मुझे उनसे मिलने में भी कोपत होती है।

प्रश्न: आप कहानियाँ क्यों लिखते हैं ?

उत्तर: इसका सीधा जबाब है कि मैं दूसरा कोई काम, हुनर या व्यवसाय जानता नहीं। लेखन, गप्पबाजी के कारण करना पड़ा, बड़ी-बड़ी गप्पें हाँकता था, या फिर लोगों की स्मृतियों में बने रहने का यह अवसर फोटोग्राफिक बनता है। मैंने निर्णय लिया कि अब लिखूँगा ही, और लिखने से मैं तो खुद को रोकना भी चाहता तो रोक नहीं सकता। खुद पर पाबंदी लगा दी कि पहले अपना लिखने का काम पूरा करूँगा फिर अन्य काम हाथ में लूँ। इसका नतीजा यह निकला कि मेरा लेखन का काम चल निकला।

लिखने का काम एकाकी, व्यक्तिगत या निजी हो सकता है, है भी यही। अरे हम जब लिखते हैं नितान्त अकेले होते हैं।

वैसे यह प्रश्न एक और प्रश्न से मिलता जुलता है कि मैं सांस क्यों लेता हूँ? अगर मैं सांस लूँ भी, न लूँ भी तो भी सांस नैसर्गिक गति से आयेगी जायेगी। जब तक उसे जाना है, आना है। इसके बारे में तो मैं जानता ही नहीं हूँ। पर जीवन की बहुत-सी क्रियाएँ उस आद्य नैसर्गिक क्रिया

जैसी है। लिखना या बक-बक करते रहना, या सबकी आलोचना करना, यह सब स्वाभाविक रूप से चलता ही रहता है। हम सब जो धरती पर आए हैं किसी न किसी पक्ष में सक्रिय हैं। मेरे हिस्से में सबसे कठिन काम आया है। कठिन इसलिए कि इसकी पहली शर्त यही है कि जिसकी आलोचना करते हो, वैसा न करो, और यही सबसे कठिन है। तपस्या से भी कठिन। इसी अभेद्य रहस्य से कि क्यों लिखता हूँ-उत्तर कहीं गहरे से मिलता है कि तुमने यही चुना है। पर यह चुनना ही मुझ पर थोप दिया गया है। अर्थ कि कोई प्रारब्ध है? मेरे अस्तित्व में वह अभिन्न रूप से जुड़ा है। बस-सिर्फ इतना कि लिखना, कहानी लिखना जीवन के उस दबाव का हिस्सा है जिससे प्रेरित हों, पीड़ित हों, डर कर हम स्वयं को अभिव्यक्त करना आरम्भ करते हैं। आपके प्रश्नों का उत्तर देना भी तो एक दबी, रुकी, गाथा-या आत्मवेदना को अभिव्यक्त करना है। सार यह कि यही मेरे हिस्से में है। वही मैं करता हूँ, और उसका निर्वाह करता हूँ।

प्रश्न: कहानी पर विचारधारा के दबाव को आप किस तरह लेते हैं। हिंदी कहानी में विगत दशकों में चलाए गये आंदोलनों पर आपकी क्या राय है? इसके हानि-लाभ।

उत्तर: मुझे तो खुद भी कटघरे में खड़ा किया गया है, और तमाम विवेचकों, आलोचकों ने यह आरोप लगाये हैं कि मैं कहानी आन्दोलन 'अकहानी' का कसूरवार हूँ। चलो मैं यह आत्मस्वीकृति झेलता हूँ कि मैंने अपने एक आत्मिक लेख में 'अकहानी बनाम कहानी' अकहानी की चर्चा की थी। 'चर्चा' का कसूरवार साबित था किन्तु विवेचक वकीलों ने, उठाईगीर साबित करने के लिए वकीलों जैसे झूठ का सहारा लिया। वे आलोचक जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं, फर्माते हैं कि अकहानी आंदोलन विदेशों से आयातित है। दर्जनों पुस्तकों में यह दर्ज है। आखिर आप विदेशों की चर्चा कर रहे हैं तो देश का नाम भी बताते, परन्तु हमारे अनपढ़ आलोचक फतवे देने के लिए प्रख्यात हैं। एक ने फतवा जारी किया तो दूसरे ने उस पर मुहर लगा दी।

ऐसी आलोचना की कृतियाँ कूड़ेदानों की शोभा बढ़ा सकती हैं। पर क्या आप समूचे हिन्दी कथा आलोचना के

प्रमुख ग्रंथों में जहाँ-जहाँ विदेशों में जन्मा आन्दोलन कहा गया है, उन्हें नष्ट कर सकेंगे। सच यह है कि विदेशों में कहीं भी अकहानी आन्दोलन नहीं था।

प्रश्न: कहानियों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर आपके क्या विचार हैं।

उत्तर: यह प्रश्न सृजनधर्मी लेखकों से नहीं किया जा सकता। सपाट गद्य लेखन करने वाले लेखकों को सम्बोधित यह प्रश्न एक ऐसे संकेतक की तरह है जो स्पष्ट करता है कि आलोचक लोग कुछ फतवे जारी कर देते हैं तो तफसील से उनकी वैसाखी पकड़ साहित्य रूपी नई पौध उसका अनुकरण करना शुरू कर देती है।

आश्चर्य है कि ऐसी गतिविधियों पर नजर रखते हुए भी कोई भी गद्यकार यह नहीं कहता कि यह साहित्य को चोर-दरवाजों के भीतर रखकर उसे यानी अच्छे साहित्य को विलुप्त करने की साजिश है। यह वैसी ही एक वृत्ति है जो साहित्य के बीच अच्छे प्रश्नों की उपस्थिति दर्ज करती है। असल में इस तरह के सरलीकरण साहित्य की गंभीरता का अनुमान लगाने में कठिन है।

प्रश्न: हिन्दी कहानी के इतिहास पर यदि हम एक नजर डालते हैं तो सातवें-आठवें दशक तक जितनी भी तरह की कहानियाँ लिखी गईं, किसी-न-किसी आंदोलन के तहत लिखी गईं। उसके बाद इतनी तरह की कहानियाँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं, लेकिन सब की सब 'समकालीन कहानी' के नाम से ही संबोधित की जाती हैं। ऐसा क्यों?

उत्तर: आन्दोलनों के अधीन लिखी कहानियों की विवेचना केवल इसी कोण से करना उचित नहीं होगा कि वे किसी विशेष विचारधारा से प्रेरित हैं। देखना यह भी पड़ेगा कि ऐसा क्यों हुआ? इसके लिए पहले तो इस बात की पड़ताल करनी पड़ेगी कि आन्दोलनों का लक्ष्य क्या था? वे दूसरों द्वारा लिखी कहानियों से भिन्न क्यों दिखना चाहते थे। स्पष्ट है केवल प्रतिस्पर्धा के कारण ऐसा नहीं हुआ, अपितु भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियों के चलते एक सुनिश्चित धारा का निर्धारण थोड़ा कठिन होने लगा। फलतः अपने को भिन्न दिखाने के लिए भिन्नता के आदर्श प्रस्तुत करना अनिवार्य सा हो गया। एक अन्य बिन्दु यह है कि कुछेक लोगों ने इसे

मित्र-मण्डलीय खेमे में प्रसिद्धि पाने के लिए भी किया। अतः इसे अन्यानेक उन दृष्टियों से परखना भी आवश्यक हैं, जिन्हें अक्सर नज़रअंदाज़ किया जाता है। मेरे जैसे युवा लेखकों (उस वक्त) के युवा लेखकों का गुस्सा ही था जो आन्दोलन के रूप में फूट पड़ा था, क्योंकि खेमेबाजों ने बहुत बेशर्मी से तत्कालीन व्यावसायिकता का दबाव बनाने के लिए अपने ही द्वारा गढ़े आदर्शों को सब कुछ मान लिया था। फलतः जरूरी था कि ६० के बाद उभरने वाली चुनौतियों और विश्व धरातल पर उभरे युवा उन्मेष को शेष से पृथक् दिखाया जाय। यह अलग से दिखाने बताने का खास लक्ष्य था किन्तु खेमेबाजों ने उसे 'ऐय्यास प्रेतों के विद्रोह' के रूप में प्रचारित करने में कसर नहीं छोड़ी। तथापि वे सब समकालीन कथाएँ थीं।

प्रश्न: आप अपनी कहानी को किस श्रेणी में रखते हैं।

उत्तर: अपनी कहानियों को श्रेणीबद्ध करने की शक्ति मुझमें नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनमें एक नौसिखिये की भावना का उत्साह है। एक तो यह कि लेखक के तौर पर मैं सोचता हूँ कि सबसे ज्यादा मौलिक कहानियाँ मैंने लिखी हैं। लोगों ने किस्से का फायदा उठाकर गप्पों की ढेरियाँ तो निर्मित की हैं, किन्तु उनमें नयापन नहीं दे पाए। मैं दावा प्रस्तुत करता हूँ कि मैंने प्रयोगधर्मी लेखक के रूप में नई चीजें कहने की दिशा में कदम बढ़ाए हैं। यह किसी लेखक का अहंकार भरा, दर्प भरा, दूसरों के प्रति अवज्ञा, कमतर आंकने का भार है। तथापि एक किस्सा ही आपके सामने रखता हूँ कि अमेरिका की एक खूबसूरत तथा प्रतिष्ठित पत्रिका 'न्यू रेनेसांस' ने मेरी कहानियों के अनुवाद प्रकाशित किए थे, और उन अनुवादों को अमेरिकी भारतीय पाठकों के समुदाय के समक्ष भी रखा। मैं तो खुद अपनी कहानियों को श्रेणीबद्ध करने की क्षमता नहीं रखता—क्योंकि मुझे वे निहायत सामान्य लगती हैं, पर मेरे पाठक, मेरा हौसला बढ़ाए रखते हैं।

प्रश्न: आपकी कहानी की रचना-प्रक्रिया क्या है, तथा आप उसे कितने स्तरों में बाँटते हैं।

उत्तर: यह कठिन प्रश्न है। असल में मैं जानता ही नहीं हूँ कि यह रचना-प्रक्रिया क्या होती है? मैं खोजता फिरता हूँ तो पाता हूँ कि लिखने का नशा बराबर बना ही रहता है।

तो वह तो एक सतत प्रक्रिया है। मैं ऐसा भाग्यशाली नहीं हूँ जिसे कोई चीज लुभा कर लिखा ले जाए। एक दोस्त मानदेय अग्रिम दे गये तो लिखा ही नहीं गया। एक प्रतिरोधी वृत्ति जाग गई कि क्या धन के लालच में लिख रहे हो। बचपन से पढ़ाया गया था कि सृजन का आद्य संस्पर्श कोई महत्वपूर्ण संस्पर्श है। उसे कलुषित न करो—पर यह भी होता था कि झट से प्रतिरोध में कुछ लिखने का हल्ला—सा उभरने लगता था, और उसे दबाने का बेहतर तरीका था कि विधा बदल लो। परन्तु यह सब भी आपके प्रश्न का उत्तर नहीं हैं। सीधा उत्तर है कि लिखने के अभ्यास से किसी भी बिन्दु पर अपने विचार दिए जा सकते हैं, और यही सीधा—सादा उत्तर है। अब उसे तकनीकी रूप में बाँधने की सामर्थ्य मुझमें नहीं, परन्तु इतना जरूर मानता हूँ कि सृजनेच्छा एक नैसर्गिक दबाव है, जिसे परिपक्व होने में समय लगता है।

प्रश्न: कहानी के विकास और सार्थक फैलाव में मल्टीमीडिया की भूमिका के बारे में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: नई कथाओं का फैलाव मल्टीमीडिया में देखा जा सकता है। अतः यह कहानी के विधागत स्वरूप में परिवर्तन की आद्य सूचनाएँ देने वाली नई शैलिक बुनावट है, जो भविष्य की कहानी के लेखन, उसके पठन, अर्थ-संप्रेषण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। पहले तो कहानी में जो चीज़ केवल सांकेतिक रहती है वह दृश्यात्मक होगी। “पेड़ों पर हरेपन का फैलाव था” तो मीडिया के पास उपलब्ध बनावलियों के दृश्यों में से सर्वोत्तम को समाने प्रस्तुत करने का काम तत्काल, एक ही स्ट्रोक से हो जायेगा, जितने सेकेण्ड आपने बनावली परिदर्शन किया उतने ही क्षणों में संवादरत व्यक्तियों को प्रदर्शित किया जायेगा जो सत्यापन के लिए अनिवार्य है।

प्रश्न: आप किस कहानीकार से अधिक प्रभावित हैं, या रहे हैं? उनकी कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ, जिनसे आपके लेखन को गति या दिशा मिली?

उत्तर: मैं अनेक कथाकारों से प्रभावित रहा हूँ। देशी-विदेशी ऐसे दर्जनों कथाकार हैं, मैंने उन्हें समझे जाने वाली भाषा में पढ़ा है, अर्थात् सिर्फ हिन्दी में। वह भी अनूदित सामग्री के रूप में, मूल पढ़ना भी लाभप्रद है। जितनी

भाषाएँ मैं सीख पाया हूँ उनके मूल लिखे को पढ़ने का अपना ही अलग आनन्द है। इससे सिर्फ यह विश्वास दृढ़तर हो जाता है कि मूल में जो परिपूर्णता है, वैसी संगति बिठाना दुष्कर सा कार्य है।

विदेशी कथाकारों में स्टीफेन क्रेन, योमांसा, चेखोव, दजाई ओसामू मेरे बहुत प्रिय कथाकार थे। उनकी कहानियाँ मैंने खोज-खोज कर पढ़ीं। खासकर उनके अनुवादों को काफी मसक्कत के बाद खोज निकाला था। उनके हिन्दी अनुवाद हासिल करने में भी बहुत मेहनत पड़ी। इसके साथ-साथ अन्यानेक लेखकों की रचनाएँ भी पढ़ीं।

प्रश्न: वर्तमान में क्या लेखन के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक बदलाव संभव है ?

उत्तर: ऐसा प्रश्न पूछा जाता है और पूछा जाता ही रहेगा, और उसका एक सधा-सधायी उत्तर भी आता ही रहेगा। देखना यह है कि इसमें सच्चाई कितनी है। पहले तो यही जानना ठीक होगा कि लेखन द्वारा व्यापक स्तर का, दीर्घकालीन बदलाव संभव नहीं है। लेखन या प्रचार द्वारा छोटे हिस्से को प्रभावित किया जा सकता है। व्यापक हिस्से को नहीं। जबसे छापेखाने की इजाद हुई है तब से अब तक यह तो आसानी से कहा जा सकता है कि बदलाव लिखने से संभव नहीं हुए हैं। उसके दूसरे कारण हैं, कारणों की पड़ताल करें तो कुछ स्थितियाँ साफ हो जाएँगीं।

इस बात पर गौर करना चाहिए कि हमारे समाज को प्रभावित क्या चीजें करती हैं ? शायद वे ही चीजें लेखन को भी प्रभावित करती हैं और लौटकर सामाजिक बदलाव को भी प्रेरित करती हैं।

प्रश्न: क्या आपकी कहानियाँ किसी अंचल विशेष की हैं, किस तरह की आंचलिकता का कहानियों में समावेश होना चाहिए ? और आपकी कहानियों में किस स्तर पर आंचलिकता का समावेश हुआ है।

उत्तर: मैं जिस जगह पैदा हुआ उसकी मुझे याद नहीं, वह एक छोटा-सा कस्बा था। उसके घर, दीवार, बाज़ार की मुझे कोई याद नहीं। मेरी बड़ी बहन ने मुझे याद न आने वाले उस कस्बे को मेरी यादों का एक ऐसा हिस्सा बना डाला जो मेरे याद में है तो, परन्तु पूर्णतः नहीं है। जहाँ मैं बड़ा हुआ, किशोर से यौवन की दहलीज पर आया वहाँ की

यादें बरकरार हैं। वहाँ के पेड़, वहाँ के खेत, वहाँ के पहाड़-सबके सब याद में मौजूद हैं। अपने काम के सिलसिले में सुविधाओं से लैस जब मैं एक पर्यटक की हैसियत से वहाँ पहुँचा तो हैरान हुआ कि अरे वह जगह जो स्मृतियों में थी वो तो हैं ही नहीं। मैं कहीं और तो नहीं चला आया। वह जो मूर्ति मेरे मन में थी वैसा तो कुछ कहीं था ही नहीं। मैं पछताया। मेरे स्वप्नों का स्वर्ग मुझसे छिन गया था। उस लूट में कौन-कौन शामिल होगा उसकी फेहरिस्त तो बनाउँगा ही, पर लिखने के कारण सदा उत्साह भी जाता रहा।

प्रश्न: चूँकि आप अकहानी के पुरोधा माने जाते हैं, तो मेरा प्रश्न आपसे यही है कि अकहानी से आपका क्या मतलब है, और अन्य कहानियों से क्या यह अलग कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है।

उत्तर: पहले एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट ही हो चुका है कि अकहानी कोई आंदोलन नहीं था। जो भी प्रचार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आया उसे यदि प्रमाण मानें तो कहेंगे कि लेखन के यथास्थितिवाद का यह डर था। यह डर विचारधारात्मक रूप से प्रतिबद्ध खेमे में भी व्याप्त था। आप इस सत्य की पड़ताल इस ढंग से भी कर सकते हैं कि पाठकों के व्यापक समुदाय ने उन नये हस्ताक्षरों को कबूल करना शुरू किया था जो हिन्दी कहानी की एकरसता के विरुद्ध थे। नये लिखने वालों ने नई भाषा में नये प्रकार के समाज के बारे में लिखना शुरू किया था। तो कहना चाहिए कि यह एक विचार के प्रति पाठकों के आकर्षण, उनकी व्यापक स्वीकृति का ही हिस्सा था। संयोग से मैं उन दिनों प्रयोगशील कथाएँ लिखने की ओर मुड़ा था कि लोगों का ध्यान मेरी तरफ गया और मेरी कहानियों में उन तत्त्वों की उपस्थिति की चर्चा होने लगी। तो आज तो मैं यही कहूँगा कि मैं अपने वक्त के तमाम युवाओं का प्रतिनिधि था। मैं अपनी सशक्त परम्पराओं से भी परिचित था और आजाद भारत में विश्व साहित्य के संपर्क में आने का भी अवसर उपलब्ध हुआ था। एक तरह से मैं चंडीगढ़ की नई आबोहवा से सिक्त था। इस अवसर पर यहीं कहूँगा कि नये लेखन की बुनियादी विशेषताएँ युवा लेखन में प्रतिबिम्बित हो रही थीं और वह नया लेखन, जिसमें ज्यादातर वामपंथी थे भारत को बदलना चाहते थे।

प्रश्न: समकालीन कहानी, अकहानी, समानांतर कहानियों में क्या अंतर है।

उत्तर: विवेचक और कथा विमर्शक अनेक बार कहानियों का मूल्यांकन इन्हीं आधारों पर करते हैं। वास्तव में कथा के विभिन्न चरण या विभिन्न सोपानों का अनुशासित स्वरूप, इसी विधि से ज्ञात होता है। इस तरह के विभाजन का अकादमिक क्षेत्रों में उपयोग है किन्तु सृजेताओं के लिए यह अनिवार्य नहीं है। कहानी के ऐतिहासिक परिदृश्य को साफ-साफ समझने के लिए भी ऐसे वर्गीकरणों की जरूरत होती है। इसके उपरान्त इन अध्ययनों का सृजेताओं के लिए तो कोई महत्त्व नहीं है। यह दो टूक कथन इसलिए जरूरी है, क्योंकि शब्द का कपाट खुला रहे, इसलिए एक सकारात्मक, दृढ़ दृष्टि सम्पन्न कथा के कीर्ति सृजेता सदैव सजग रहें और इन चीजों से न प्रभावित हों तो 'गल्प' की अद्भुत धारा अपने नये-नये रूपों में प्रवाहित रहेगी। सीधे आपके प्रश्न पर आता हूं। समकालीन कहानियाँ सामान्य रूप से पूरे दौर की कहानियाँ कही जायेंगी। शेष आंदोलन प्रेरित कहानियाँ कही जायेंगी। तथापि आन्दोलनों का अपना महत्त्व है। खासतौर से कहानी क्षेत्र में आन्दोलनों से कुछेक नये ढंग की कहानियाँ पाठकों को हासिल हुई हैं, उनका उल्लेख करना आवश्यक है। यहाँ हम विस्तार भय से कहानियों तथा कथाकारों का नामोल्लेख नहीं कर रहे हैं, किन्तु कुछेक कथाकार हैं जिन्होंने अपनी अलग पहचान बनाई है।

प्रश्न: क्या आपकी रचनाएँ किसी पाश्चात्य विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करती हैं, आप किसी वाद या मतवाद को मानते हैं, या नहीं। यदि हाँ तो आप की रचनाओं में कौन सी वादी-प्रतिवादी विचारधारा है ?

उत्तर: मैं यकीन करता हूँ कि मनुष्य पर अनेक चीजों के प्रभाव पड़ते हैं। इस अर्थ में प्रभाव एक तरह की नैसर्गिक प्रक्रिया है। आप प्रभावों से प्रभावित होकर यदि प्रभावों के ही अनुकर्ता के रूप में शेष रह जाते हैं तो नैसर्गिकता की पहली शर्त को टुकराते हैं। नैसर्गिकता की पहली पहचान परिवर्तन है। ठहरी हुई वस्तु, वह चाहे विचारधारा ही क्यों न हो, सड़ी हुई चीज रह जाती है। यथास्थिति और परिवर्तन में फर्क है। नैसर्गिक सुबह तमाम प्रभावों के बावजूद नित्य नूतन होती है। यह नूतनता का

तत्त्व मौलिक-सी बात है, और इसी को बचाये रखने का प्रयास एक महत्त्ववान लेखक करता है। विचारधाराओं का दास बन जाय तो वह गुलामी की खोह में चले जाना है। इसी अर्थ में प्रगतिशीलता अस्वीकृति को जगह देती है। प्रजातंत्र भी, और इसी अस्वीकृति से नई विचारणा, नये विचार, नई विचारधारा का जन्म होता है। थोड़ा इसका वैज्ञानिक रूप भी देख लें। परिवर्तन एक तरह का रूपान्तरण है। तत्त्व वही है परन्तु उसका रूप बदला तो उनकी प्रयोजनीयता बदली हुई दीखने लगी।

आपने सीधे पूछा है आप किस वाद को मानते हैं ? सृष्टि को नष्ट करने वाली दृष्टियों को कौन मानता होगा ? स्पष्ट है मानने के घेरे में वे ही चीजें आती हैं जो रचनात्मक हों। तथापि मानना भी सम्बन्धवाची है। एक प्रयोजन के लिए एक आधार सही हो सकता है परन्तु वही आधार दो कार्यों के लिए एक-सा नहीं होगा। इसी रहस्य में वह अर्थ छिपा है जो अपनी प्रयोजनीयता से दूसरे को भी सक्रिय कर सकता है। विचारधाराएँ प्रतिबद्धता से प्रेरित होती हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि वे एक अनुशासनात्मक प्रकल्प के रूप में विकसित होकर व्यापक जन समुदाय को जनहित के कार्यों में नागरिकों की भूमिका निर्धारित करते हैं।

प्रश्न: लघु कथा और कहानी में क्या अंतर है।

उत्तर: लघु कथाओं से मैं ज्यादा प्रभावित नहीं हूँ। मुझे लगता है मार्मिक तथा अविस्मरणीय लेखन का यह कोई अभ्यास-सा है। हो सकता है किसी विवेचक को इसमें अत्यधिक अर्थवान चीज दिखाई देती हो किन्तु मैं इसे कविता जगत की 'समस्यापूर्ति' का स्थानापन्न समझता हूँ। लघुकथाओं में अर्थ उद्घाटन के लिए अत्यधिक नाटकीय स्थितियाँ पैदा करने की असीमित गुंजायश है किन्तु, सृजन के लिए ऐसे अभ्यास अनिवार्य नहीं हैं। एक नैसर्गिक, स्वाभाविक, जीवनापेक्षी गतिविधि और एक कृत्रिम नाटकीय स्थिति में अन्तर है। मैं एक आलोचक के रूप में इसे देखता हूँ तो मुझे लगता है कि यह अभ्यास, कोई अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे रहा है।

प्रश्न: आज की कहानी की विषय सीमा और विषय वैविध्य के बारे में आपकी क्या राय है।

उत्तर: स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि आज की कहानी ने कथाधारा के रूप अपनी पुरानी प्रतिष्ठा को सृजनात्मक स्तर पर कायम रखा है। नये लेखक कहानी के वस्तु रूप में बेजोड़ रहे हैं। स्पष्ट है विषय की नवीनता और भाषिक रूप के नयेपन से भी समकालीन कहानी ने अपनी अलग जगह बनाई है—और इसमें नये कथाकारों का योगदान रेखांकित करने योग्य है।

प्रश्न: यह सवाल बार-बार उठाया जाता है कि कहानी में आलोचना का विकास नहीं हो पाया। यद्यपि कोई सुगबुगाहट देखने को नहीं मिलती। एकाध आलोचक को छोड़ दें तो शेष जितने भी कहानी के आलोचक हैं, वे कहानीकार ही हैं?

उत्तर: यह सच है। वास्तविकता। हिन्दी के कथा आलोचक नहीं हैं। जो हैं वे खेमेबाज लोग हैं। वे अपने तरह के फतवे देकर खुश हैं, नाम लेने की जरूरत नहीं हैं। ले देकर सुरेन्द्र चौधरी एक अच्छे विवेचक थे। किन्तु वे भी विचारधारा से इतने सन्त थे कि उससे बाहर की ओर देख भी नहीं सके। इतना ही कहना पड़ेगा कि सुरेन्द्र चौधरी ने अच्छी शुरुआत की है। नामवर सिंह और रामविलास शर्मा ने अपने निबन्धों में कुछ नई स्थापनाएँ दी हैं। वे नई स्थापनाएँ बहस का केन्द्र इस कारण बनी हैं कि उनका लक्ष्य विचारधारा का अतिक्रमण करना नहीं था, अर्थात् एक अदृश्य से हस्तक्षेप की उपस्थिति का अहसास बना रहता है, और यह संदेह के रूप में अपने निष्कर्ष स्वयं साक्षात् कर डालता है।

प्रश्न: आजकल सौंदर्यशास्त्र परिचर्चा में है, क्या कहानी का भी कोई सौंदर्यशास्त्र होता है। अगर हाँ तो कहानी और सौंदर्यशास्त्र का आपस में क्या मेल है?

उत्तर: मानना यह चाहिए कि हर कृति का एक शास्त्र होता है। उस शास्त्र से हम कृति की पड़ताल कर सकते हैं। प्राचीन काल में यही पर्याप्त था कि हम ग्रंथों के अध्ययन से यह पता कर लें कि अमुक ग्रन्थ की विधा क्या है? इसी कारण सदियों तक यह विमर्श चलता रहा है कि अमुक कृति प्रबन्ध काव्य है कि नहीं। फिर प्रबंध काव्य क्योंकि लिखे नहीं जाते थे, उन्हें स्मृति में बिठाये रखना पड़ता था। बाद में जब टीकाओं का प्रचलन अकादमिक कारणों से

हुआ तो ग्रन्थ की महत्ता बढ़ी और टीकाओं ने अपनी सम्मतियाँ देनी आरम्भ का। उससे ग्रन्थों का अकादमिक जगत में व्यापक प्रचार आरम्भ हुआ। फिर तो जब ग्रन्थ लिपियों में संरक्षित किए जाने लगे तब एक तरह का प्राचीन नया युग अपनी नई सज-धज के साथ आ निकला था।

प्रश्न: आज के टेक्नोलाजी के युग में शहरीकरण, बाजारवाद और उपभोक्तावाद के नये रूप उभर कर आये हैं और एक सर्वव्यापी मूल्यहीनता ज्यादा विकराल हुई है—इन दबावों ने आज लिखी जा रही हिन्दी कहानी को किस रूप में प्रभावित किया है?

उत्तर: दबाव बहुत क्रूर है। एक सच्चा लेखक इन्हें झेलता है। मुठभेड़ के उपरान्त पराजित ही सही फिर लेखन द्वारा शक्ति जुटाकर भिड़ जाता है। यह एक सतत प्रक्रिया है। हिन्दी कहानी का जादुई सफर जारी है। कहानियाँ इस बदलते परिवेश का आलेखन अपने ढंग से करती हैं, और सतत पाठकों से संवाद करती हुई ऐसी रणनीति की रचना करती हैं कि प्रभाव का कोई अंश छूट न जाय। मैं उन नये कथा लेखकों की ओर कृतज्ञता से देखता हूँ जो उसे कुछ भूल कर वक्त को रूपायित करने में लगे हैं। हिन्दी कहानी की नई भूमि नये उत्तरों के रूप में सन्नद्ध दिखती है।

भारतीय समाज पर जिस तरह से पश्चिम हावी हो रहा है, उससे लगता है कि भारतीयता विरल चीज़ रह जायेगी, अर्थात् क्या सभ्यता के उपकरण संस्कृति को बदल सकते हैं? 'टेक्नालॉजी' के कारण जीवन शैली में जो परिवर्तन आए हैं, क्या वे परम्परागत शैलियों को समाप्त कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर नहीं में होगा, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभाव ज्यादा गहरे, ज्यादा अर्थवान होते हैं, तथापि विश्वव्यापी बाजारवाद ने विश्वग्राम की कल्पना को भी साकार किया है। इससे उत्पन्न होने वाली जटिलताओं ने स्थानिक या लोक जीवन के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाए हैं, देखना है कि उन दबावों को मानवजाति कैसे झेल पायेगी। अभी एकदम इस समस्या का निदान सामने नहीं आ पा रहा है।

प्रश्न: क्या कहानी लिखते समय आप समाधिस्थ होते हैं। या यूँ ही चलते फिरते कहानियाँ गढ़ लिया करते हैं?

उत्तर: कहानी लिखने की पद्धति हरेक लेखक की अपनी निजी होती है। मैं क्योंकि ज्यादातर ऐसे विषय उठाता

हूँ जो नये और अभी तक अनखोजे होते हैं, इसलिए उन्हें समझने में भी पहले पाठकों को दिक्कत होती है। वैसे पहले मैं अपने मन में उस कहानी को रचता हूँ, कई दृष्टियों से रचकर उन्हें देखता हूँ, फिर कागज पर उतारने लगता हूँ, पर अगर वह एक ही दफे में अपने खाचे पर आ जाती है तो कहानी पूरी हो जाती है, वरना ऐसी अधूरी लिखी कहानियाँ मेरे पास बहुत-सी हैं, लेकिन मैं बहुत गंभीरता से, इसकी परवाह न करते हुए कि लोग क्या कहेंगे एक ऐसी सृष्टि की ओर झुकता हूँ जो सर्वथा मौलिक हो, अर्थात् लिखने में हमेशा यह याद आता रहता है कि कहीं ऐसा कोई पहले तो नहीं लिख गया, तत्काल इसकी खोज करो। लिखने का वैसे कोई नियम नहीं। कहानियाँ तो अपनी वजह लिखने के नियम तोड़ती हैं।

प्रश्न: आपकी कहानियों को पढ़ते हुए सुखद आश्चर्य होता कि आप बड़ी ही रचनात्मक भाषा का इस्तेमाल कर लेते हैं। कहानी लिखते समय क्या आपकी भाषा किसी प्रकार के रचनात्मक तनाव से गुजरती हैं। कहानी की भाषा के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? कहानियों की भाषा किस प्रकार की होनी चाहिए?

उत्तर: कहानियाँ लिखते वक्त दूसरी कोई चीज़ सामने दिखाई नहीं देती। मैं उन स्थितियों-परिस्थितियों के बारे में जब भी मौका मिलता है, इस लिहाज से नज़र टिकाता हूँ कि कहीं हवाई बातें तो नहीं हो रही हैं। कहानी का बेहतर कहन जिन लोगों के पास है उनसे सीखने को मन करता है। पश्चिमी लेखकों में, कुछेक में कहन की एक बहुत उम्दा, परिपक्व, अपूर्व, मौलिक दृष्टि है। बस उसकी छाप कहीं मिल जाय तो उसे देखता रहूँ। अब यह कहना तो कठिन है कि रचनात्मक तनाव का बोध होता है या नहीं किन्तु एक समर्पित सृजेता के द्वारा स्वयं के लिए कुछ अपेक्षाएँ लक्षित रहती हैं, वह उन्हीं का अनुकरण करता चलता है।

प्रश्न: पिछले एक दशक की आपकी मनपसंद पाँच श्रेष्ठ कहानियाँ कौन-सी हैं?

उत्तर: आपने थोड़ा-सा कठिन प्रश्न पूछ लिया है, फिर भी उत्तर देता हूँ। पिछले दशक में युवा लोग ही सक्रिय रहे हैं तो जाहिर है उन्हीं की कहानियाँ स्मृति में दर्ज हुई हैं। उन्हें पाँच (या ज्यादा भी हो सकती हैं) श्रेष्ठ कहानियाँ न

कहकर, कहानी शिल्प को, कहानी के वस्तुरूप को समृद्ध करने वाली रचनाएँ ही कहूँगा, किन्तु वे एकमात्र अब तक की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं, यह दावा तो मैं नहीं कर सकता। मेरी मुश्किल यह है कि मैं बहुत सी भारतीय कहानियाँ पढ़ता हूँ और कभी-कभी सोचता हूँ कि पंजाबी में और ओड़िया में हिन्दी से बेहतर कहानियाँ क्यों लिखी जा रही हैं? तो इसका उत्तर मुझे नहीं मिलता, प्रभात रंजन, आकांक्षा पारे, गीताश्री, विवेक मिश्र, शरद सिंह की कहानियाँ स्मृति में हैं और प्रयोगधर्मी शैलिक आग्रह के कारण, अपनी ओर खींचती हैं। उन पर अलग से, अलग-अलग कहानियों पर कुछ करने को मन है, पर यहाँ अभी इतना ही।

प्रश्न: एक कहानीकार के लिए 'विजन' या 'जीवनदृष्टि' का अर्थ क्या है?

उत्तर: कहानीकार शब्दचेता व्यक्ति है। उसमें और चिन्तक या समाजवेत्ता में अन्तर है। कथा लिखना ललित लेखन के निकट है-चिन्तक और विश्लेषक के निकट नहीं है। परन्तु लिखने वाले की दृष्टि एक कहानीकार, कवि, समाज-विज्ञानी, समाजशास्त्री तथा जीवन के बारे में सकारात्मक सोच रखने वालों की स्थूल रूप से एक ही होगी। तथापि एक कहानीकार यदि हम उसमें थोड़ा गल्प, थोड़ा लोकानुभव, थोड़ा भविष्य, थोड़ा अतीतराग, थोड़ा विनोद, थोड़ा रत्यानुराग, थोड़ा श्रमजीवी, थोड़ा भ्रमजीवी, थोड़ा सत्यधर्मी, थोड़ा असत्य साधक वाले गुण देखते हों तो वह जो कल्पना भी करेगा उसमें सत्यांश का स्पर्श ही उस विजन या दृष्टि सम्पन्नता को परिपक्व कर डालेगी जो आश्चर्य से कम मूल्यवान नहीं होगी। जीवन दृष्टि एक प्रकार की सजगता है जो आद्योपान्त अपने को प्रखर कर भविष्य का अर्थबोध प्रदान करती है।

यह एक तरह का भविष्य प्रश्न है। मनुष्य के रूप में हर व्यक्ति का अवतरण एक अपेक्षा रखता है। वह सोचे कि वह क्यों, किसलिए आया है, तो इस अन्तर्मथन में उसे अपने लक्ष्य की कार्यविधि का बोध हो जायेगा। स्पष्ट है वह उसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए सक्रिय रहेगा। जीवन-दृष्टि का संबल ही कार्यक्षेत्र की सक्रियता निर्धारित करेगा। इसमें संदेह नहीं कि किसी बड़ी रचना की तैयारी के लिए बृहदानुभव के साथ-साथ एक बड़े लक्ष्य या सपने की भी जरूरत रहती है।

प्रश्न: क्या कहानीकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना आप जरूरी मानते हैं। यदि हाँ तो क्यों? यदि नहीं तो क्यों?

उत्तर: वैचारिक प्रतिबद्धता यदि सिर्फ एक जिद है तो वह नये प्रकार की गुलामी को जन्म देने वाली है। कहानीकार या सामान्य रूप से सृजेता की दृष्टि में जिद की जगह जो तत्त्व होगा वह सकारात्मक दृष्टि सम्पन्नता वाले व्यक्ति में ही होगा। अगर वह एक पूर्व सोचे गये रूपायन को अनुकूलता के अनुरूप ही आगे बढ़ने की दबाव मुक्त कोशिश तो आतंकधर्मी लक्ष्यों से सम्पन्न लोगों में ही होती है, लेखक में नहीं। अतः इस प्रश्न के उत्तर से पूर्व यह जानना जरूरी है कि इन धाराओं का लक्ष्य निम्न धाराओं का लक्ष्य क्या है—वे अपने अनुरूप बनाना ही श्रेयस्कर समझते हैं तो उनकी परीक्षा करनी होगी, क्योंकि अनुदार दृष्टियाँ संदेह पैदा करती हैं।

प्रश्न: लेखन एक सामाजिक दायित्व है। अतः आप बताइए कि लेखक का क्या कुछ भी निजी नहीं रह पाता?

उत्तर: जब तक रचना लेखक के भीतर है तभी तक वह निजी है। शब्द का वाक् में बदलने का अर्थ ही सामाजिक हो जाना है। अभिव्यक्ति निजी कही जा सकती है परन्तु सार्वजनिक होने पर वह निजता के संपत्तिधारक अहंकार से मुक्त हो जाती है।

यह बहस दुनिया भर में चलती है। राजनीतिज्ञों ने भाषा का जितना अहित किया है उतना हत्यारों, तस्करों और षड्यंत्रकारियों ने न किया होगा। इसलिए मैं व्यक्तिगत तौर पर और बात के बाहर आ जाने के कारण सार्वजनिक तौर पर कहता हूँ कि राजनेता नफरत की वस्तु हैं। उन्होंने अपने कथनों से सामाजिक जीवन में सकारात्मकता को नष्ट किया है। सृजन या रचना या लेखन बुनियादी तौर पर निःसर्ग का ही एक उद्यम है। अतः स्पष्ट है कि लेखक यदि सचमुच लेखक है तो एक शरीर के रूप में वह व्यक्तिगत है अन्यथा वह सामाजिक है। इस बात को हम यह कहकर भी समझ सकते हैं 'जन्म आलोक का प्रसार करता है और आलोक सबके लिए प्रकाशित होता है।' विचार, भावना, अनुभावना, सबके सब आलोक के ही सहचर हैं।

प्रश्न: अब तक छपी कहानियों में कौन-सी कहानी आपको अधिक प्रिय हैं और क्यों?

उत्तर: कौन सी कहानी ज्यादा पसंद है—इसकी खोज थोड़ा मुश्किल काम है। कायदे से कहानियाँ लिखने का सिलसिला १९६० से शुरू हुआ था। अर्थात् वे छपने लगी थीं। कुछेक कहानियाँ पहले भी लिखीं थीं और वे उस वक्त के रिसालों में छपी थीं। पर जबसे 'धर्मयुग' और 'कहानी' में कुछ कहानियाँ छपीं तो लोगों ने उन्हें लेकर मुझे भी खत लिखे, १९६४ में दिल्ली आने पर नियमित लेखन शुरू हो गया। मैंने १९६० के बाद की कहानियों पर लिखना भी 'कहानी' पत्रिका में आरंभ कर दिया था। उन्हीं दिनों पहली दफे कलकत्ता में नामवर जी से मिला तो उन्होंने गद्य लेखन और कहानियों की सराहना की। उन दिनों कलकत्ता गहमागहमी का केन्द्र था, और उन दिनों के हम नये लोगों के बीच एक स्वस्थ संवाद जारी हो चुका था। मैं शक्ति चट्टोपाध्याय और उनके समकालीनों की कविताएँ अनुवाद के रूप में पढ़ रहा था और हम लोगों की कुछेक रचनाओं का नोटिस वे ले रहे थे। उन दिनों मैंने कुछ कहानियाँ लिखी थीं जिनमें से 'प्रेत' धर्मयुग में छपी थी, और उसका अनुवाद बी.बी.सी. की वर्ल्ड शार्ट स्टोरी सीरीज में प्रसारित भी हुआ था। संयोग से यह कहानी दक्षिण एशिया के पाठ्यक्रमों के लिए भी ली गई थी। इसमें भारतीय और आधुनिक दृष्टि की टकराहट थी, जिसे लेकर काफी लोगों ने विभिन्न रूपों में अपनी राय दी थी। यह तो नहीं कहूँगा कि यही सबसे प्रिय है क्योंकि बाद में 'न्यू रिनेसाँ' ने अपने अंकों में मेरी कुछ कहानियाँ प्रकाशित की तो भारतीय समाज ने उन पर बहुत तीखी टिप्पणियाँ भेजीं, उनमें से 'बच्चा', 'निर्वासित', 'प्रिज्म' जैसी कहानियाँ थीं। 'न्यू रिनेसाँ' के संपादकों ने उनका उत्तर अपने स्तर पर दिया और उन पत्रों के कुछ अंश मुझे भी भेजे। भारत में जाति प्रथा के नासूर ने जो खेल खेला है, और जारी है उससे मुँह मोड़ना मुझे उचित नहीं लगता। मैंने अपने संकेतों में भारतीय समाज की उस रुग्णता को प्रकाशित किया था। बहस में शामिल होकर मैं भी उन बिन्दुओं का उत्तर देता रहा। मुझे नहीं मालूम कि वे कहानियाँ कैसी हैं? परन्तु भारत को लेकर चिन्ता करने वाले वैज्ञानिक मस्तिष्कों ने उन कहानियों को कथा के स्तर पर तो किस्सा माना, किन्तु उनके संकेतों को भारतीय समाज की बुनावट का हिस्सा ही स्वीकार

किया। मैं सोचता हूँ वे कहानियाँ सपाट और सम्पत्ति संबंधी कथाओं से आगे की कथाएँ हैं। शायद आगे चलकर वे बुनियादी बहसों के बिन्दु के रूप में देखी जायें।

प्रश्न: कहानी के साथ-साथ और किस विधा में लिखना आपको विशेष रूप से अच्छा लगता है।

उत्तर: पहली बात तो यह है कि मुझे लेखक मान लिया गया। आश्चर्य है। मैं कहीं से भी लेखक नहीं हूँ। मैं एक जन्मजात 'प्रिंटेडर' हूँ। शेखी बघारने वाला। लेखक के गुण मुझमें नहीं हैं। इसलिए मैं कुछ भी लिख लेता हूँ। कुछ भी लिखने को तैयार रहता हूँ, अर्थात् मुझे खेल खेलने का शौक है।

कहानियाँ भी तो मैं अपठनीय लिखता हूँ। मेरे दोस्त ने प्रचारित किया था कि चालीस पंक्तियाँ पढ़ने के बाद आप जीवित हैं तो गनीमत है, और प्रमाण में वह कहते हैं-क्या मिला विमल को, शायद कुछ नहीं। तो मैं लेखन के अतिरिक्त गप्पें मारने का आनंद लेता हूँ। मेरा शौक ही वही है।

प्रश्न: रूस और फ्रांस की क्रांति के समान ही आज की बदलती हुई परिस्थितियों में लेखन द्वारा सामाजिक, वैचारिक और क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है या नहीं ?

उत्तर: इसमें संदेह नहीं कि विचारों ने हलचलें मचाने में भूमिका निभाई है। यदि जनसंख्या का बड़ा भाग साक्षर हो तो वह अपने विचारों के आदान-प्रदान से चमत्कार प्रस्तुत कर सकता है। मार्क्स और एंजिल्स से पहले की समाजार्थिक अध्ययन संबंधी सामग्री ने नये लोगों को जबर्दस्त रूप से प्रभावित किया था। कह सकते हैं फ्रांस और रूस में क्रांति का वातावरण निर्मित करने में तत्कालीन लेखकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है, अब समय बदल गया है। इतना जरूर है कि सच्चे सृजनात्मक लेखन का दबदबा अब भी बरकरार है। वह पाठकों को उकसाता रहता है, और पाठक या जनता ही है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए सफलता अर्जित कर सकती है।

मैं पक्का आशावादी हूँ। शब्दों की संगति ने पक्का बनाया है। देखिए पूर्व और पश्चिम कब मिलते हैं ? शायद कभी नहीं मिलते। तथापि दो ध्रुवों के बीच ही जीवन संभव हुआ है। आद्य ग्रंथों में कहीं आया है कि पंचभूतों के स्वरूप एक दूसरे के विरोधी हैं, धुर विरोधी, भला आग और पानी

का मेल कैसे हो ? किन्तु सृष्टि में उनकी संगति से ही जीवन फलता-फूलता है। लेखन भी एक ऐसा ही आधार है जो परिवर्तन की भूमिका बनाता है।

प्रश्न: शक्ति के वर्चस्ववाद के विरुद्ध आज कहानी की किस तरह की भूमिका आप देखते हैं।

उत्तर: प्रत्येक सृजन का लक्ष्य यही है। कलाकार तूलिका का प्रयोग करता है, संगीतकार लय और वाद्य का। परन्तु शक्ति के वर्चस्व का जितना सशक्त प्रतिरोध कहानी में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं है। मैं सिर्फ साठोत्तर कहानियों का संबल लूँगा। कहानियाँ तो पहले से लिखी जा रही थीं। परन्तु उनका सही अर्थ बताने वाली विश्लेषणकर्ता प्रतिभाएँ नहीं थीं फलतः बहुतेरा लेखन अरण्य रोदन साबित हुआ, यह तो बाद में लेखकों ने महसूस किया कि वे जो कह रहे हैं, उसका सही आशय लोगों तक पहुंच ही नहीं रहा है। आप देखेंगे कि सन् साठ के बाद ही कहानी जैसी विधा में लिखी कृति के पक्ष में लेखक को वक्तव्य देते देखा गया। यह वक्तव्य लेखक द्वारा कुछ संभावित तथ्यों के लिए प्रेरित था। इसी वक्तव्य में लेखक की इस कोशिश की झटपटाहट जरूर देखी जा सकती है, और वे संकेत भी पढ़े जा सकते हैं, जो भाषाई तहों में छिदे हैं।

प्रश्न: कहानी की आलोचना पर अपने विचार बताइए ?

उत्तर: आलोचना एक तरह का संवादी सह-सृजन है, यदि वह सचमुच कृति के भीतर गुह्य रूप में विद्यमान सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। अन्यथा आलोचना एक प्रकार का परजीवी दोहन है। हिन्दी आलोचना और कथा आलोचना इसी प्रकार का परजीवी दोहन दिखाई देती है। क्योंकि वह नितान्त अगंभीर रूप से केवल अपने एक ही लक्ष्य से प्रेरित है कि रचना को पाठकों की स्मृति में अन्य से बड़ा घोषित कर सके। यही दृष्टि आलोचना विरोधी दृष्टि है। बहुत कम प्रयास दिखाई देते हैं जो रचना के कला कौशल की वास्तविकताओं का आभास दे सकें। तथापि एक सह-कर्म के रूप में वह निश्चित रूप से महत्पूर्ण कार्य है। वर्तमान स्थिति नैराश्य उत्पन्न करती है। आलोचकों में ज्यादातर पहले से ही कुछ रचनाकारों के लिए अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण करते हैं। उनके तर्क और उनकी शैली से यही आभास होता है कि वे 'अमुक' की तारीफ के

लिए प्रतिबद्ध हैं। उनसे प्रभावित होकर नये आलोचक भी उसी दिशा के पथिक हो जाते हैं। फलतः एक तरह का आलोचनात्मक प्रदूषण बढ़ता रहता है। ऐसी सस्ती आलोचना का कोई आधार नहीं होता। मूलाधार तो होता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में आलोचनात्मक संवाद की आवश्यकता भी नहीं रह जाती। एक तरह का एकालाप आलोचना कर्म का प्रमाण बन कर रह जाता है, इस पर गंभीरता से समूचे हिन्दी समाज को सोचना ही पड़ेगा।

प्रश्न: क्या रचनाकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना आप जरूरी मानते हैं? यदि हाँ तो क्यों?

उत्तर: मैं मनुष्य के लिए प्रतिबद्धता जरूरी मानता हूँ पर उसमें स्वतंत्र असहमति के लिए पर्याप्त जगह होनी चाहिए। मानना चाहिए कि दुनिया को बेहतर बनाने के लिए जिद्दी लोगों की महत्तम भूमिका है, और जिद या प्रतिबद्धता विचार से ही परिचालित होती है। ऐसा विचार जो मनुष्य के भविष्य को निरापद बना सके या उसे एक ऐसे सामाजिक के रूप में ढाल सके जो व्यक्तिगत स्वांत्र्य की रक्षा करे। सृजन का काम इसके बिना चल ही नहीं सकता। स्वाभाविक तौर पर मस्तिष्क के भीतर जो चलता रहता है वह दृढ़ता का आलम्बन पाकर अपने सार्थक निष्कर्षों को जनोन्मुख बनाता है।

आखिर सृजन है क्या? भीतरी दबाव का उभार ही है। अभिव्यक्ति से वह निजता की केंचुल छोड़ सार्वजनिक हो जाता है।

प्रश्न: क्या लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी संघर्ष का समना करना पड़ा आपके संघर्ष से लेखन आया या लेखन से संघर्ष?

उत्तर: लेखन के कारण बहुत से लोगों ने यातनाएँ झेली हैं। विचारधाराओं की प्रतिबद्धता ने भी लेखकों को अलग-अलग किया है। मुझ पर थोड़े ही कष्ट आए। उनमें मैं अपना मनोविनोद करता हूँ। सत्ताएँ हमेशा ऐसा मूर्खतापूर्ण आचरण करती हैं। इसके चलते अपने कम्युनिस्ट संपर्कों के कारण सरकारी मुलाजमत पर असर जरूर पड़ता रहा है, पर अन्त में मुझे सरकारी मुलाजम हासिल हुई। पर अकादमिक जरूरतों के मुताबिक जब विदेशी दूतावासों से संपर्क जाँच के दायरे में आने लगे तो मुझे सरकारी पक्ष की

मूर्खताओं पर तरस आ गया, और मैंने उन्हें उपेक्षा के योग्य समझा। एक विदेशी वाम पत्रिका में स्तम्भ लिखने के कारण भी जबाबदेह बनना पड़ा पर एक दिन ऐसा भी आया कि सब कुछ सामान्य हो आया। वाम के प्रति भारतीय राजनीति में बदलाव भी आया। यहीं से मेरे मन में राजनेताओं और बाबुओं के प्रति घोर विरक्ति की भावना जागी। मैं उन्हें न सिर्फ मूर्ख समझता था, बल्कि यह मानने लगा कि वे हमदर्जों के शातिर, डर से, वह भी काल्पनिक-सा डर, का हौवा खड़ा कर अपना उल्लू सिद्ध करने में माहिर दिखे, वे सबके सब बाद में मेरे मानसखोर के मनुष्य भक्षी चरित्रों में आ ढले। मुझे तो उनकी मूर्खता, लंपटता, संकीर्णता से फायदा हुआ। कोई संकट नहीं झेलना पड़ा, लेकिन कई दफे परेशानियाँ झेलनी ही पड़ीं। एक कहानी पढ़कर एक महिला ने संपर्क किया। 'आपने मुझ पर कहानी लिख दी है'। मैंने उन्हें समझाया कि यह मात्र संयोग है, किन्तु वे मानी ही नहीं। उनके पति ने मुझे धमकाने की कोशिश की थी। अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जो उन दिक्कतों का बयान करती हैं, जो लेखक होने के कारण झेलनी ही पड़ती हैं, किन्तु थोड़ा सकारात्मक ढंग से सोचें तो शिक्षा का यह गुण भी है।

प्रश्न: प्रेमचंद युगीन कहानियों और आज की कहानियों में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से क्या अंतर है, क्या आज की कविता भी प्रेमचंदी मनोभूमि को ग्रहण कर पायी है। आप की कविता इसके कितने करीब है।

उत्तर: मूल प्रश्न यही है। पहले प्रेमचंदी समय को समझ लें। साहित्य कला की दृष्टि से नहीं, बल्कि लोकप्रियता की दृष्टि से देखें। तो प्रेमचंद ने सरल कथाओं के द्वारा लोकचित्र को प्रभावित किया। वह इस हद तक प्रभावित करते चले गए कि अक्षर के प्रति श्रद्धा का ज्वार प्रेमचंद की ओर उमड़ पड़ा। प्रेमचंद हमारे समाज के प्रतीक पुरुष बन गये। अगर गहराई से पड़ताल करें तो प्रेमचंद कर क्या रहे थे? प्रेमचंद ग्राम समाज के सामाजिक संबंधों की भूल खोजने के बहाने एक आंचलिक इलाके की मानसिकता के तत्त्वों की खासियत रेखांकित करने लगे और उससे करुणा और दया का भाव बटोरने लगे।

समाज एक जटिल-सा विधान है। उसकी जटिलताओं को केवल सम्बन्धों से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। जटिलता के मुख्य बिन्दु को टोहना बहुत जरूरी है। हिंदी में यह काम नहीं हुआ। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रेमचन्दकालीन दृष्टि केवल प्रेमचंदयुगीन सत्य है। चाहे वह समाज के स्तर पर हो या फिर व्यवस्था के स्तर पर। उसे आप सर्वत्र लागू नहीं कर सकते न उनके सामाजिक संबंधों को, न उनके मूल्य विधान संबंधी निर्णयों को। मौटे तौर पर उन्हें सार्वभौमिक आदर्श भी नहीं माना जा सकता।

कविता के क्षेत्र में यह स्वीकार करने योग्य है। क्योंकि प्रेमचन्द युगीन सत्य सार्वकालिक नहीं माने जा सकते।

प्रश्न: कहानियों में कथ्य और कलात्मक संतुलन की कोई सीमा तय होनी चाहिए या कहानी कथ्य प्रधान होनी चाहिए?

उत्तर: सृजन एक नैसर्गिक काम है। इसीलिए लेखक को भारतीय साहित्य में विशेष दर्जा दिया गया है। उसे 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। सिर्फ इस पदबंध की व्याख्या की जाय तो यह तो स्पष्ट हो ही जायेगा कि सृष्टि रचना और सृजन एक-सा कार्य है। हर सृष्टि रचना का कदम 'नूतनता' का द्योतक है। बच्चे सदियों से पैदा हो रहे हैं। पर जनने वाली हर माँ के लिए प्रजनन की वेदना और प्रजनित आह्लाद एकदम नूतन अनुभव है। इस नवीनता में नित्य नूतनता है। अब इस नित्य नूतनता की खोज करें तो नदी के पानी के बहाव से आकर ठहरे हुए शिलाखण्ड और नये जन्मे बच्चे की नूतनता पर बहस करनी पड़ेगी तो सबसे पहले यही अन्तर दिखाई देगा कि शिलाखण्ड नूतन है, विशाल है, चमत्कृत करने वाला है तथापि धड़कन हीन है। बच्चा छोटा है, अति कोमल है, दिव्य प्रसाद-सा है, और धड़कन वाला है तो वह नित्य नूतनता के स्वभाव से थोड़ा भिन्न है अर्थात् विशिष्ट है। उससे परम्पराओं का नैसर्गिक सृजन होता है। आप जिसे कथ्य और कलात्मकता के खाचों में रख रहे हैं, उसे समझना भी जरूरी है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सृजित कृति अपनी सृजन अनिवार्यताओं की प्राथमिकता खुद तय करती है, और उस प्राथमिकता के अनुरूप वस्तु और शिल्प का निर्माण होने लगता है। इसे भी नैसर्गिक कोटि का कार्य मानें तो

यह उचित होगा। सृजन एक गोपनीय कार्य है। रहस्य के अन्तर्गत आने वाला सत्य भी है, वह गोचर का अगोचरत्व अभियान है, खुला और उदार।

प्रश्न: रचनाकार के लिए सामाजिक दायित्व का बोध होना बहुत जरूरी माना जाता है। सांप्रदायिक दंगों की आग को बुझाने में लेखक को अपनी भूमिका किस रूप में अदा करनी चाहिए?

उत्तर: सृजन सामाजिक दायित्व है जो व्यक्ति (लोक) द्वारा संपन्न होता है। सामाजिक दायित्व का अर्थ स्वयं स्पष्ट है कि ऐसा दायित्व जो समाज को स्वस्थ, विकासशील और मनुष्य के संदर्भ में उत्कर्षशील बनाने में जाग्रत करे। इसीलिए सृजन एक तरह की अन्तःजागृति है। शायद ही कोई शब्द ऐसा रचा गया हो जो मनुष्य को यंत्रणाओं के जाल में झोंके, बल्कि यंत्रणाओं से मुक्ति के रास्ते कैसे खोजे जाएँ-पहल यहीं से होती है, तथा एक तरह से तमाम तरह की भटकनों से मुक्ति के रास्ते खोजने का एक अदृश्य-सा अभियान सृजन के जरिए चलता है। अस्पष्ट, अंधेरों के पथ को आलोकित करने का काम शब्द करते हैं। पुराने शास्त्रकारों ने इसीलिए आदर्शों की परिकल्पना से एक ऐसे प्राप्य मार्ग का स्वप्न लेने की मुख्य भूमि सृजन या साहित्य को स्वीकार किया था।

साम्प्रदायिक दंगे, संकीर्णता और छोटे-छोटे स्वार्थों से प्रेरित होते हैं। लेखक निरन्तर ऐसी भावधाराओं के निर्माण में सृजनात्मक शक्ति का प्रयोग कर हस्तक्षेप करता है।

प्रश्न: आपको अपनी पीढ़ी की कहानी और और युवा कथाकारों की कहानी में वस्तु और शिल्प के स्तर पर क्या भेद लगता है।

उत्तर: तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। पर हम ऐसे सवालियों से बचते हैं। बचते ही नहीं कतराते भी हैं। इसमें दो पीढ़ियों को नाराज होने से बचाने का भाव ज्यादा गहरे में नया होता है। परन्तु एक साथ इससे एक नुकसान भी होता है, और वह नुकसान है सत्य का बाहर आने से रोकने का कृत्रिम संकोच। यदि सच सामने रहे तो हम दोनों पीढ़ियों की उपलब्धियों पर आसानी से निष्कर्षात्मक ढंग से कुछ प्रतिफल हासिल कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि पुराने और नये कथाकारों के अपने-

अपने भिन्न रचनात्मक आधार हैं। वहीं से बहुत सी चीजों की भिन्नता दिखाई देने लगती है।

मसलन सबसे पहला अन्तर 'वस्तु' द्वारा प्रक्षेपित होता है। केवल प्रेमचंद और प्रेमचंद के बाद प्रेमचंद की विशेषताओं को ग्रहण करने वाले लेखक कमलेश्वर से ही यदि बात आरंभ करें तो हम पायेंगे कि प्रेमचंद अपने समय की सत्य घटनाओं को कथा में पिरोकर उन्हें अपने समय की सच्चाईयाँ समझकर प्रस्तुत कर रहे थे। उन्हें उनमें अपना अतीत दिख रहा था। कमलेश्वर भी अपने समय के सत्य से साक्षात्कार कर रहे थे किन्तु अपेक्षाकृत ज्यादा सतर्क थे। यह सतर्कता वस्तु की सतर्कता थी, जो उनके कथा विकास की वस्तु बन जाती है और हम वस्तु और रूप की मिली जुली सामग्री के रूप में उसे दोनों के दिक् काल से जोड़कर देखते हैं। इतना तो तय है कि नया लेखक पुराने लिखे का सब कुछ जानता है। यदि वह अच्छा लेखक है तो कभी भी कही हुई बात को नहीं दुहराएगा, इसलिए नया लेखन पुराने की तुलना में ज्यादा अद्यतन, ज्यादा उदार और शैलिक रूप से ज्यादा वर्णमय है। स्पष्ट है वह पुराने से हर अर्थ में बेहतर है।

प्रश्न: गद्य और पद्य दोनों पर ही आपकी सिद्धहस्तता रही है, क्या आप वर्तमान में लिखी जा रही कविता और कहानी में कुछ अन्तर मानते हैं।

उत्तर: विधाओं के रूप में गद्य-पद्य का अंतर तो निर्धारित ही है पर काव्यात्मक कहानी और गद्यात्मक कविता की सृष्टि भी की गई है। यही नहीं बहुत पुराने समय से हम ललित गद्य को कविता की कोटि का सम्मान देते रहे हैं। विधाएँ एक-दूसरे के भीतर प्रवेश कर रही हैं, हो सकता है कल कोई ऐसा परिमापक हाथ लग जाय जो नई विधा की शुरुआत की घोषणा करे तथापि कथा की भाषा और काव्यभाषा की ऊष्मा अपना अलग स्वरूप हमेशा बनाए रखेंगी।

प्रश्न: अकहानी और अकविता में क्या अंतर है।

उत्तर: कविता और कहानी में जो अन्तर है-उसी से इस उत्तर को समझा जा सकता है। दोनों नाम सृजनात्मक विधाओं के आन्दोलनों की भूमिका भी स्पष्ट करते हैं।

आज आवश्यकता है कि १९६० की चुनौतियों पर एक बार फिर से विचार किया जाय। यह समय विश्व भर के युवा आन्दोलनों का है, इसलिए इसे कुछ साहित्यिक फतवों से निपटाना सही नहीं है। यह प्रश्न गंभीर विवेचना की अपेक्षा रखता है।

विमल जी आपने हमें हिन्दी कहानी, उसकी आंदोलनकारी भूमिका और उसके सामाजिक महत्त्व से हमें अपने अमूल्य विचारों के माध्यम से अवगत कराया इसके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।

संपर्क:

डॉ. गंगा प्रसाद विमल

११२ साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी,
नई दिल्ली-११००१९, मो.-०९३१२५०५२५०

डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया

चरोरे पाड़ा, बड़ा बाजार, तहसील रोड, सबलगढ़,
(म.प्र.) मुरैना-४७६२२९, मो. ९८९३५२३५३८

परिचर्तन और निबंतवता का द्वंदः लुप्त होते लोगों की अस्मिता

परशुराम

आलोचना, वाद-विवाद और संवाद की संस्कृति है। जड़ और ठहरे मूल्यों के विघटन और युगीन संदर्भों में नये मूल्यों के सृजन और विकास में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। रचना और आलोचना में द्वंद्वत्मक संबंध होता है। यदि रचना और आलोचना में द्वंद्वत्मक वैचारिक संघर्ष नहीं है तो साहित्य की तत्कालीन परंपरा की विकास-गति अत्यधिक धीमी पड़ जाती है। रचना की तरह आलोचना भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। और आलोचना इसमें अपनी सक्रिय भूमिका तभी निभा सकती है जब वह केवल स्वीकृति न दे, सवाल भी उठाये और मिथ्या स्वीकृति को चुनौती भी दे। वरिष्ठ हिंदी आलोचक विमल वर्मा की आलोच्य पुस्तक 'लुप्त होते लोगों की अस्मिता' में इसका अनुभव किया जा सकता है। फिर भी आलोचना के संकट को लेकर जिस तरह और जिन प्रश्नों को रेखांकित किया जा रहा है, उस पर संक्षिप्त चर्चा भी आवश्यक है।

हम एक राजनीतिक समय में रह रहे हैं। इसलिए रचना और आलोचना तत्कालीन राजनीतिक संदर्भों से अछूती नहीं रह सकती। अपने समय का पक्ष या प्रतिपक्ष उपस्थित रहता ही है। ऐसे समय में आलोचना केवल साहित्यिक और सांस्कृतिक ही नहीं होगी बल्कि वह राजनीतिक भी होगी। इस लोकतंत्र में असहमति के पक्ष में तर्क तो दिए जाते हैं किंतु सहमति की अपेक्षा सभी को होती है और यह सत्ता के पक्ष में होती है। फूको की एक बहुत प्रसिद्ध मान्यता है कि 'ज्ञान और सत्ता का बहुत गहरा संबंध होता है, 'नॉलेज इज पावर'।' आलोचना का संकट वस्तुतः सत्ता और समय के संकट से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। कारण पूँजीवादी समाज में रचना और आलोचना का व्यावसायीकरण हो गया है। अब तो दो ही यथार्थ से साक्षात्कार होता है। एक है- बाजार और दूसरा है- उपभोक्ता। जिस समाज में कलाकृति बाजारू माल बन जाती है, वहाँ कला अलगाव का शिकार हो जाती है, दीनता से भर जाती है और अपना सारतत्त्व खो देती है। इसीलिए निजी दुराग्रह और उपभोक्तावादी संस्कृति में रचना और आलोचना का अवमूल्यन हुआ है। यह एक सच्चाई है। आलोचना की विश्वसनीयता कमतर होने में निजी दुराग्रह की भूमिका प्रमुख रही है। व्यक्तिगत, वैचारिक या सांगठनिक संबंधों के आधार पर रचनाओं और रचनाकारों की अतिरंजित प्रशंसा होती है या रक्तरंजित निंदा होती है और आलोचना अपने सांस्कृतिक दायित्व से भटक जाती है। इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने ऐसे ही नहीं लिखा था 'कि आलोचना की प्रथम शर्त है दुराग्रह से मुक्ति।'

प्रसिद्ध वैज्ञानिक हाइजेन वर्ग का निष्कर्ष है कि हम कभी यथार्थ को तद्वत नहीं जान सकते, क्योंकि हमारे जानने के माध्यम का बीच में होना ही यथार्थ को हमारे लिए रूपांतरित कर देता है। इसलिए हम जिसे यथार्थ कह रहे होते हैं, वह माध्यम द्वारा रूपांतरित यथार्थ होता है, वास्तविक यथार्थ नहीं। हम आँखों से देख रहे हैं किंतु वही नहीं देख रहे हैं जो है बल्कि साइबर स्पेस, मुक्त प्रवाही छवियों और

मीडिया नियंत्रित घटनाओं को देख रहे हैं। हमारी आँखें कृत्रिम यथार्थ को देखने को अभ्यस्त होती जा रही हैं। यह आज के समय की त्रासदी है। इसलिए आलोचना के लिए यह महत्वपूर्ण दायित्व होता है कि रचना में चित्रित यथार्थ, मूल्यगत प्रभाव और प्रभुत्वशील संस्कृति के साथ उसके अंतर्सम्बंधों का वह विश्लेषण करते हुए सत्ता के पक्ष या प्रतिपक्ष में उसकी भूमिका का उद्घाटन। आलोचना की यही सामाजिक सकर्मक भूमिका हो सकती है। 'तुम ऋषि, मैं मुनि' की घातक प्रवृत्तियों से रचना और आलोचना दोनों का अवमूल्यन हुआ है। इसके लिए रचनाकार और आलोचक दोनों जिम्मेदार हैं। किसी एक पर दोषारोपण करना तर्कसंगत नहीं है।

'आलोचना का आत्मसंघर्ष' में कृष्ण मोहन ने ठीक ही लिखा है कि 'आलोचना के सामने मौजूद जो प्रमुख चुनौती है, वह साहित्य और उसके माध्यम से जीवन और समाज की नई परिघटनाओं की तर्क-बुद्धि विवेक-परक व्याख्या करने और उसे समझने योग्य बनाने की है, क्योंकि मानव विरोधी शक्तियाँ फिलहाल नये उत्साह से इन परिघटनाओं का मिथकीकरण और आदर्शीकरण में लगी हुई हैं।' (आलोचना सहस्राब्दी, अंक- पच्चीस, अप्रैल-जून २००७) रचना और आलोचना का अपने समय से संवाद और उसमें हस्तक्षेप में ही उनके सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों की भूमिका अन्तर्निहित है। आश्चर्य तब होता है जब केवल आलोचना को कटघरे में खड़ा किया जाता है तथा रचना और रचनाकार सुरक्षित टेबलो 'पर बैठकर आत्ममुग्धता की स्थिति में होते हैं। जबकि इस संकटकालीन स्थिति का जिम्मेदार कोई तीसरा है जो सारा खेल खेल रहा है और इस खेल का सूत्रधार और कोई नहीं बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था की लगातार बढ़ती रैकरण की प्रवृत्ति है जिसमें मानव अस्तित्व ही दो हिस्सों में बंट गया है। विमल वर्मा ने भी 'रचना में राजनीतिक उप-पाठ' ऑलेख में संकेत किया है कि 'मालो का फिटिशवाद (रैकरण) समूची भारतीय जीवन पद्धति, हमारे अंतर्मन, बौद्धिक विन्यास पर भीषण हमला कर रहा है।' और 'समकालीन रचनाशीलता में लोक के संश्लेषणशील स्वभाव के तहत तनाव, मुख्यअन्तर्विरोधों की फलश्रुतियों को समय-छवियों

में गढ़ने के बजाय छद्म चेतना, गौण समस्याओं एवं अप्रासंगिक समस्याओं के जो भव्य रेत महल निर्मित हो रहे हैं, हम उसी में उलझ गए हैं। इसे समझने की आवश्यकता है। आलोचना के संकट की संक्षिप्ता और सांकेतिक चर्चा इसलिए भी अपेक्षित थी कि विमल वर्मा की आलोचना की पुस्तक 'लुप्त होते लोगों की अस्मिता' ऐसे ही संकटकालीन और अनालोचात्मक समय में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में सामाजिक यथार्थ के अंतर में पल रहे यथार्थ और द्वंद्वों की इतिहासपरक व्याख्या नये आलोचनात्मक चिंतन-अनुचिंतन की सकारात्मक विमर्शों के माध्यम से सच को समझने की कोशिश दीखती है। डॉ. आनंद प्रकाश ने भूमिका में निष्कर्षतः ठीक ही इंगित किया है कि 'स्पष्ट है कि इस पुस्तक के निबंधों की सार्थकता इसमें है कि वे पाठक का सामना भाषा और समाज के स्तर पर अनेक विचारधारात्मक संकटों और चुनौतियों से कराते हैं।

विमल वर्मा की 'अपनी बात' में स्वीकृति है कि वह 'रचना-संवेदना का सहयात्री बनकर अपनी पठन-प्रक्रिया में 'भाषा द्वारा सर्जित विचार और भाषा की सिरजती विचार-प्रक्रिया द्वारा संवेदना के विन्यास तक पहुँचने का प्रयास' करते हैं और वह इस 'पठन-प्रक्रिया में इतिहास विज्ञान की क्षमता तथा दर्शन (द्वंद्वतात्मक वस्तुवाद) की गहरी समझ होना' की अनिवार्यता को भी मानते हैं। कहानियों के विश्लेषण में इस दृष्टि से वह सजग भी हैं अन्यथा वह भी कइयों की तरह भाषा के भीतर कैद होकर रह जाते। डेविड मैक्नेली ने लिखा है कि 'भाषा के भीतर कैद होकर हम शब्दों के साथ खेल भर कर सकते हैं, परंतु हम अपने आपको उत्पीड़न की उन अपरिवर्तनीय संरचनाओं से मुक्त नहीं कर सकते जो स्वयं भाषा में ही निबद्ध है। इस तरह के दृष्टिकोण राजनीतिक दायित्व का परित्याग ही है, वह भी ऐसे समय में जब विश्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अस्थिरता व्याप्त हो, अमीर-गरीब के बीच खाइयाँ चौड़ी हो रही हों और शासक वर्ग सामाजिक कार्यक्रमों पर हमले हो रहे हों।' किंतु ठीक इसके विपरीत विमल वर्मा भाषा-विमर्श, उत्तर संरचनावादी और उत्तर आधुनिकतावादियों के तर्क और ज्ञान का उपयोग सामाजिक यथार्थ और सच की तह तक पहुँचने के लिए करते हैं और पूँजीवादी

षड्यंत्रों और शोषण का पर्दाफाश करते हैं। यह दीगर बात है कि जिन कहानियों का उन्होंने चयन किया है, उनमें से कई विचारधारात्मक और संरचनात्मक दृष्टि से कमजोर प्रतीत होती हैं।' एक और बात। वह कहीं भी विश्लेषण में विचारधारा को छिपाते नहीं। मुझे रोलावार्थ की एक प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण हो आता है कि 'आलोचना में विचारधारा का होना नहीं बल्कि उसके बारे में चुप्पी रखना एक गुनाह है।' विमल वर्मा कहीं ऐसा गुनाह नहीं करते। और न ही कहानियों के विश्लेषण में कहीं उनका दुराग्रह दिखाई देता है।

यथार्थ निरंतर परिवर्तनशील है। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि 'यथार्थ को जानने की, उसके बाद, यथार्थ के अनुभव से गुजरने की, ये दो काम किये बिना यथार्थ के साथ संवाद संभव नहीं है, अभिव्यक्ति संभव नहीं है।' रचनाकार यथार्थ से निजी स्तर पर संवाद करता है और आलोचक भी अपने स्तर पर। यथार्थ की परतों को भेदकर अन्तर्वस्तु तक पहुँचने तथा 'पाठ-पठन में रिक्तता, दरार, मौनको खोलने' और 'अदृश्य को' पहचानने की संभावना संरचना के नेटवर्क में छिपी रहती है।' रचना में जो अव्यक्त होता है, वह कभी-कभी व्यक्त से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। इसलिए उन्होंने 'अव्यक्त' को खोजने के लिए पाठवादी आलोचना-पद्धति का इस्तेमाल किया है। किंतु यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि बिना इस पद्धति के उपयोग के भी यह संभव है जिसे लेखक के ही अनुसार डॉ. नामवर सिंह, मार्कण्डेय, सुरेन्द्र चौधरी, विजयमोहन सिंह ने 'किलर्स', 'दाज्यू', 'कफन और घंटा', 'मुसई' आदि में किया है। इसी आलोच्य पुस्तक में विमल वर्मा के और भी इसी तरह के लेख हैं। इस संदर्भ में 'परिवेश-नया परिप्रेक्ष्य', 'परिवेश में अनुभूति की वास्तविकता का प्रश्न', 'माध्यम की तलाश', 'अनुभूतियों का विन्यास', 'समकालीन वास्तविकता और कहानी' आदि को उल्लिखित किया जा सकता है। इस तरह की आलोचना की प्रविधि महत्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि संप्रेषणीय भी है और पाठक की समझ का परिष्कार भी करती है।

आलोच्य पुस्तक में कहानीकारों की एक-एक कहानी का विवेचन-विश्लेषण है और उसके माध्यम से सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनात्मक यथार्थ की अन्तर्वस्तु तक पहुँचने

का प्रयास परिलक्षित होता है। कथा-पात्रों के संवादों में व्यक्त-अव्यक्त का विश्लेषण-विवेचन वर्तमान समाज और इतिहास की समझ की निर्मिति में सहायक है। कहानियों के चयन में उनका मुख्य ध्यान इस बात में है कि उनके माध्यम से भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण हो सके और पाठक के सामने सही परिप्रेक्ष्य हो ताकि वह परिवर्तन की संकेत दिशा को समझ सके। पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और फिर भूमंडलीकरण के प्रभाव से समूचा भारतीय समाज संकटग्रस्त है। आतंकित है। एक तरह से उसकी स्थिति दिशाहारा की हो गयी है। वह विकल्पहीनता का शिकार है। इसीलिए सामाजिक मुक्ति की विकल्प की खोज में 'वह रचना की व्याख्या करते समय सांस्कृतिक संरचनाओं को दिमाग में रखते हैं।' डॉ. सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि 'कहानियों का अंतिम स्तर (अर्थ-विवृति की दृष्टि से) सांस्कृतिक होता है। यहाँ कहानियाँ विशेष से सामान्य हो जाती हैं, अर्थात् वे एक संपूर्ण जीवन-पद्धति का आंतरिक सत्य बन जाती हैं। यहाँ कहानी का सत्य जीवन का सत्य हो जाता है। कहानी अपने प्रत्यय सत्य (Abstraction) से अनायास संबद्ध हो जाती है।' डॉ. सुरेन्द्र चौधरी की तरह विमल वर्मा भी सांस्कृतिक संरचनाओं को दिमाग में रखते हैं ताकि जीवन और समाज का सत्य तथा उनके विकासमान तत्त्वों की खोज की जा सके ताकि पाठक सजग होकर परिवर्तन की संकेत दिशा को समझ सके। यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि विमल वर्मा का उद्देश्य रचना या रचनाकार का मूल्यांकन प्रमुख नहीं है बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि कहानियों के विश्लेषण में इसका पड़ताल करना है कि कौन सी सांस्कृतिक स्थितियाँ किन परिस्थितियों और किन कारणों से भारतीय समाज की आंतरिक सामाजिक संरचना को तोड़-फोड़ रहे हैं ताकि अतीत के सकारात्मक मूल्य, वर्तमान की सचेतनता और भविष्योन्मुखी सुखी समाज की परिकल्पनाएँ ही विलुप्त हो जाय। कहानियों में निष्कर्षों और उनके मूल्यांकन की खोज करने वाले पाठक या समीक्षक निराश ही होंगे। उनके लंबे उद्धरणों की उपस्थिति अभिप्रेत के लिए प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे समय में जबकि बौद्धिक समाज

में सन्नाटा छाया हुआ है और ठहराव की स्थिति है वैसे में नये सिरे से बहस के लिए आज की भयावह स्थिति में एक सीता तक आवश्यक भी लगता है। मैं इस पर अलग से टिप्पणी नहीं करना चाहता। आनंद प्रकाश ने भूमिका में इस संदर्भ में सार्थक संकेत किया ही है।

रचना में व्यक्त यथार्थ में दुनिया को बदलने और नयेपन की निर्मिति का संकेत उसकी सार्थकता का एक पक्ष है। विमल वर्मा सांस्कृतिक संरचनाओं के विश्लेषण के माध्यम से उस नये मूल्य को खोजने का प्रयास करते हैं। नीलकांत की दो कहानियाँ— 'बेदरवली' और 'मटखन्ना' के विश्लेषण में भारतीय ग्राम-संरचना के वर्तमान परिदृश्य में पूंजी, सामंती शोषण, धर्म के प्रति अन्धलोकवाद, सामाजिक न्याय के बहाने अस्मिता और पिछड़ी जातियों के हितैषी राजनीतिक तंत्र का पर्दाफाश जो शोषण के विरुद्ध शोषितों के एकजुट होने में बाधक है, विभिन्न संकेतों के निहितार्थों के माध्यम से स्पष्ट है। इस दृष्टि से नीलकांत की दोनों कहानियाँ भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना में व्याप्त शोषण के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करती हैं और आलोचक विमल वर्मा ने बहुत ही बारीकी से इसकी संतुलित व्याख्या किया है। यह तब तक संभव नहीं है जब तक यथार्थ के भीतर प्रवेश कर अतीत की वर्तमानता, भविष्य से उसके अनिवार्य संबंध-बोध की अनुभूति का जायजा न लिया जाय। इसमें संवादों के माध्यम से पाठ-प्रस्तुति है। किस प्रकार राम जानकी की मूर्ति को प्रकट करने का षड्यंत्र रचा जाता है और मोहन महतो अपनी भूमि से बेदखल होकर खेत मजदूर बन जाने को विवश हो जाता है। वह प्रतिरोध भी नहीं कर पाता है। पूरे कथानक या घटनाक्रम का पाठ यहाँ संभव नहीं है। किंतु कहानी में घटना अपनी अभिप्रेत के लिए एक क्षेपक प्रसंग के रूप में प्रस्तुत है। मैंने क्षेपक प्रसंग इसलिए कहा है कि कस्बे या गाँव में इस तरह की घटना अस्वाभाविक और अविश्वसनीय लगती है क्योंकि वहाँ जमीन के प्रति लोग संवेदनशील और उसके लिए कुछ भी करने का तैयार रहते हैं। किंतु मोहन महतो में प्रतिरोध की शक्ति नहीं रह जाती। यद्यपि उससे इस तरह से आत्म समर्पण करने के लिए किसी ने कुछ कहा भी नहीं था। किंतु धर्मभीरू तो वह था ही।

प्रस्तुत ढांचे की निर्मिति लेखक द्वारा यह ऐतिहासिक उपकथा है— ऐसा आलोचक का मानना है। मुझे उम्बर्तो इको की एक उक्ति याद आती है कि 'किसी भी कृति का पाठ जब हम करते हैं तो तब तक वह पाठ नहीं कहलायेगा जब तक उसके परंपरित पाठ में हम कुछ नया न जोड़ दें।' आलोचक एक गंभीर पाठक होता है और हर पाठक अपने लिए रचना की पुनर्रचना करता है। यानी अपने अनुसार अर्थ की खोज करना। यही उसकी पुनर्रचना है। यहाँ आलोचक भी पुनर्रचना करके रचना में अर्थ की खोज करता है। रचना में अव्यक्त को व्यक्त करके उसे सार्थक पहचान देता है। कलकत्ता से से. रामनगीना मारवाड़ी का आना कस्बे में पूंजी के प्रवेश का संकेत है। वह पूंजीवादी शोषण का खेल बड़े चाव से खेलता है। व्यापार-मंडल का गठन करता है। लोगों में अपनी धार्मिक छवि गढ़ता है, प्रचारित करता है। ईश्वर, मंदिर, स्वामी विरक्तानंद, गल्ले की आदत, कर्ज देना, लठैत, तीन-चार एकड़ खेत का टुकड़ा इत्यादि संकेत सांस्कृतिक और ग्रामीण सामाजिक संरचना के कूट हैं। इन संकेतों को खोलने से यथार्थ का समूचा स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आलोचक का उद्देश्य भी यही है— ऐसा प्रतीत होता है। प्रस्तुत कथा में सेठ रामनगीना शोषक वर्ग के हितों, उसकी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। पूरी घटना-विश्लेषण के पश्चात इस सामाजिक सत्य का उद्घाटन होता है कि आर्थिक और सामाजिक, राजनीतिक व्यवहार को निर्धारित करने में धार्मिक भावनाओं के रूप में सत्ता के वर्चस्व का फलितार्थ है। धर्म उन बेड़ियों का प्रतीक है, जो हमें ऐसे अतीत से बांधती है जिसमें हम अवचेतन रूप में शासन-शोषण के शिकार के चारागाह बनते हैं। ग्राम्शी ने इसीलिए लिखा है कि 'सत्ताशील (वर्चस्ववादी) वर्गशासितों के ऊपर अपनी शक्ति का प्रयोग उसकी सहमति के साथ, उसकी विचारधारा के समावेशन और रूपांतरण के साथ करता है।' 'रचना में राजनीतिक उप-पाठ' शीर्षक भी साभिप्राय और आकर्षक है।

'अतीत का वर्तमान: वर्तमान का भविष्य' में 'मटखन्ना' में एक दूसरी ही स्थिति है। नीलकांत ने इस कहानी में विष्णु शर्मा के 'पंचतंत्र' के पशु चरित्रों के संवाद-शिल्प का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया है। 'टेंगड़ी' को विषय-

वस्तु की तर्क योजना में रूपायित किया गया है। 'टेगड़ी' का वचन और कर्म मानवीय बोध बनकर संवेदना को गहरी बनाता है। सामाजिक न्याय के नाम पर 'मंडल' और इसके विरोध में 'कमंडल' की राजनीति ने भारतीय समाज को जाति, अस्मिता और धर्म के नाम पर विभाजित कर दिया है। पिछड़ी जातियों और दलितों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। केवल उनमें जो थोड़े-बहुत संपन्न थे, दबंग थे या पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग थे, उन्हें ही किंचित लाभ मिला है। स्थिति यह है कि ये लोग उस वर्ण या वर्ग से अपने को अलग मानते हैं। समाज के भीतर या उनके स्वयं के भीतर भी समरसता नहीं दीखती। 'मटखन्ना' कहानी में भूमिहीन गोपीचंद्र और दलित जाति का महतो के संबंध में दलित और पिछड़ी जाति के सामाजिक न्याय का मुखौटा उतर गया है। वहाँ भी पूँजी का ही खेल चलता है। मनुष्यों के आपसी संबंध मालों के संबंध में परिवर्तित हो गये हैं। यह पूँजीवादी समाज की ही विशिष्टता है। पूँजी ने सारे संबंधों को कलुषित और अमानवीय बना दिया है। कहानी में प्रतीकों और संवादों में इसका उद्घाटन कहानी की विशिष्टता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि जिसके पास पैसा है या जन-बल है, गाँवों में या शहरों में भी उन्हीं का वर्चस्व चलता है। उन्हें वह सब कुछ उपलब्ध होता है जिसकी उन्हें चाहत होती है। इस कहानी में आज के गाँव की सामाजिक और राजनीति स्थिति का चित्रांकन है। ग्रामीण संरचना में व्याप्त राजनीतिक और आर्थिक तंत्र सजीव हो उठा है। विमल वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि महतो, ग्राम प्रधान तथा पार्टी नेताओं एवं नौकरशाहों इत्यादि के माध्यम से कृति के समूचे विन्यास और कथा-संरचना में पूँजीवादी सत्ता की प्रकृत अवस्था और गति की परस्परसंबद्धता उकेर दी जाती है। 'पाठ' की उसकी व्याख्या यह संकेत देती है कि 'हम जिन शक्तियों द्वारा नियंत्रित, उत्पीड़ित और शोषित होते हैं, उनसे मुक्ति पाने के लिए चेष्टारत हों।' रचना में सामाजिक बदलाव के प्रेरक तत्वों की खोज उनकी आलोचना का प्रमुख कारक और मनसा है जिसे पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

आलोच्य पुस्तक में जिन कथाकारों की कहानियों का चयन किया गया है उनमें से अधिकांश अपने समय में

चर्चित रहे ही हैं, आज भी कहानी पर बात हो और उनकी चर्चा न हो, यह संभव नहीं है। मैं दुराग्रियों की बात नहीं कर रहा। 'परिवेश-नया परिप्रेक्ष्य' में स्वतंत्रता के बाद बदलने वाली देश की भावभूमि की ओर संकेत है जिसे छेदीलाल गुप्त की 'पार्क की शाम: तीन परछाइयाँ', राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या', निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत', रेणु की 'रसप्रिया', अवधनारायण सिंह की 'विद्रोह की अनबुझ आग', शिवप्रसाद सिंह की 'अंधकूप', मार्कण्डेय की 'कल्याणमन', कमलेश्वर की 'कस्बे का आदमी', लक्ष्मीनारायण लाल की 'बलदाऊ' अमरकांत की 'लड़की और आदर्श' की कहानियों में अनास्था और टूटन के विपरीत आस्था, निर्माण, आशा और जीवन से जुड़ने वाली सकारात्मक जीवन मूल्यों के संकेत उनके विश्लेषण के उपजीव्य हैं और यह प्रश्न आज के प्रसंग में उतना ही जीवंत है कि 'यह सब क्या नया नहीं है? नया ही नहीं, कहाँ वह छूटता है और कहाँ वह टूटता है?' ये सारे प्रश्न केवल आलोचक से ही नहीं बल्कि आज के रचनाकारों से भी है कि तमाम विपदाओं, विडम्बनाओं और विद्रूपताओं से आवृत्त संकटग्रस्त जीवन में प्रतिरोधात्मक चेतना की पहचान क्यों नहीं चिन्हित हो पा रही है। इस पर विचार विमर्श होना चाहिए। विमल वर्मा अपने ढंग से अन्य लेखों में इन्हीं संकेतों की पहचान करते हैं, करते हैं और उसमें निहितार्थों को खोलते हैं। उपर्युक्त विभिन्न कहानियों के रचनात्मक परिवेश और उसके चरित्रों के माध्यम से आजादी के बाद टूटते सामाजिक संबंधों में पल रहे नये की निर्मिति को संकेतित किया गया है। इन कहानियों की विश्लेषण-पद्धति में विमल वर्मा की यथार्थपरक दृष्टि, सामाजिक संरचना में विकासमान जीवन-मूल्यों और नई चेतना को बारीकी से उद्घाटित करती है। कहानी की आलोचना की यह प्रविधि महत्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि संप्रेषणीय भी है और पाठक की समझ का परिष्कार भी करती है। पाठवादी आलोचना से यह भिन्न आलोचना है। मैंने पहले भी इसे इंगित किया है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण है निर्मल वर्मा की कहानी 'एक शुरुआत' पर समीक्षात्मक टिप्पणी। इसमें तत्कालीन परिवेश में रचनात्मक परिस्थिति और उसके संकेतार्थों को स्पष्ट किया गया है। उनका यह कहना सही

है कि इसमें 'अपने पर्सपेक्टिव में 'रियलिटी' के साथ दो व्यवस्थाओं- यूरोप के हासोनुखी एवं भारत के विकासोनुखी स्वरूप के संधि स्थल की जटिलता को बड़ी खूबी से पहचानने की ओर संकेत है जो इस संवाद के मूल वक्तव्य का निहितार्थ है- 'इट वुड बी ए स्ट्रेंज लैंड' (भारत के बारे में) और यूरोप के बारे में एक सहयात्री कहता है- "हर साल हजारों टूरिस्ट आते हैं, आर्ट गैलरिज, म्यूजियम, पुराने चर्च और कैथेड्रल वह सब कुछ जो बीत गया है' उन्हें आकर्षित करता है और उसे देखकर वह वापस लौट जाते हैं। यूरोप की यात्रा क्या आपको कभी महसूस नहीं हुआ कि 'देअर इज डेथ...इन एअर ऑल अराउंड?' यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक है कि 'एक शुरुआत' के विश्लेषण का आधार उसका रचनात्मक परिवेश और संदर्भ है, न कि निर्मल वर्मा की विचारधारा की। फ्रेड्रिक एंगेल्स के इस कथन में इसकी संपुष्टि है 'कोई भी विचार, भले वे समाजवादी विचार ही क्यों न हों, कृति का अंग बन ही उसमें प्रवेश पा सकते हैं। कृति के अंतर्गत लेखक के विचार जितना अधिक प्रच्छन्न रहें, कलात्मक सौंदर्य के लिए वह उतना ही अच्छा होगा। कारण सच्चा यथार्थवाद लेखक के अपने विचारों के आरोपण के बिना ही कृति के भीतर से अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो जाता है।'

'परिवेश में अनुभूति की वास्तविकता का प्रश्न' में नीरज सिंह की कहानी 'क्यों' में गाँवों में मौजूद सामंती संबंधों में पूंजीवाद की बाजार-व्यवस्था ने निश्चित रूप से दरार पैदा कर दी है। अस्मिता की चुनावी राजनीति ने जागरूकता को विकृत भी किया है। किंतु वर्ण वर्ग में रूपांतरित नहीं हुआ है। सुमेर सिंह की इस उक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि "आदमी की जात अब पैसे से छोटी या बड़ी होने लगी?... तब मैं आपकी जात का कैसे हुआ। मेरे पास तो पैसा नहीं है। मैं तो आपके खेत में मजदूरी करके पेट पालता हूँ, मेरे विचार भी आपलोगों जैसे नहीं हैं और न तो रहन-सहन आप लोगों जैसा है?... फिर मैं कैसे हुआ आपकी जात का आदमी?" 'क्यों' कहानी में पात्र अपने स्वाभाविक चरित्र के साथ उपस्थित हैं किंतु कहानीकारों ने चरित्रों का जो वर्ग रूपांतरण किया है, वह खटकता है। वहाँ सेवदना नहीं बल्कि उसका

विचार हावी है। वैसे भी ग्रामीण संरचना में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय समाज में 'वर्ण' और 'वर्ग' के संबंधों की इतनी अधिक जटिलता है जिसे केवल सिद्धांतों से समझ पाना असंभव है। और यह एक सच्चाई है। इस दिशा में कोई सक्रिय पहल भी नहीं दिखाई देती। यहाँ कहानीकार का विचार प्रत्यक्ष रूप में है और इसलिए कहानी अविश्वसनीय प्रतीत होती है। व्यक्तित्वान्तरण की जटिल प्रक्रिया है। वर्ग रूपांतरण तो बाद की प्रक्रिया है जो चेतनाधारित होती है। चेतना अचानक नहीं आती। वह लंबे संघर्षों की अनुभूतियों में उपलब्ध होती है। पहले आर्थिक संबंध, फिर विचार, फिर भाव और अंत में संस्कारों के बदलने में एक लंबी अवधि से गुजरना पड़ता है। किसी भी रचना में विषय वस्तु और लेखक के विचार-विवेक में मेरी समझ से आंतरिकता और तादात्म्य का होना आवश्यक है।

यहाँ सभी लेखों और कहानियों पर टिप्पणी करना संभव नहीं है किंतु कुछ पर चर्चा इसलिए भी आवश्यक है कि आलोचना में वाद-विवाद संवाद की प्रक्रिया को पुनर्स्थापित किया जा सके। 'प्रतिरोध के आयाम' में विजयकांत की कहानी 'लीलावती' में 'यथार्थ पर चेतना के प्रभाव के बीच बनने वाले द्विधात्मक संबंधों की तर्क संगति पाठक को तनिमा मंडल के मनोव्यापार, मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के भीतर झांकती हुई दिखाई पड़ती है। विजयकांत की प्रायः कहानियों में ग्रामीण संरचना में सामंती संबंधों की अभिव्यक्ति के साथ सामंती संरचना में पूंजी और सत्ता के संबंधों की जटिलता का निरीक्षण, चित्रण और प्रतिरोधात्मक चेतना का अनुभव पाठकीय संवेदना को झकझोरती है। इस कहानी में विजयकांत ने सामाजिक संदर्भ में 'जन' और 'तंत्र' के सूक्ष्म और स्थूल अन्तर्विरोधों को 'तनिमा मंडल' और 'गार्ड लीलाधर' के माध्यम से व्यक्त किया है। 'तनिमा मंडल' के चरित्र के माध्यम से ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन हुआ है। वह स्वयं दलित हैं और उनकी इच्छाओं और सपनों का दमन होता रहा। उसकी सहानुभूति लीलाधर से होती है। वह अपने निजी अनुभव से वस्तुओं संबंधों, वास्तविकताओं की नई-नई विडंबनाओं को पहचानने लगती है। उसकी स्थानान्तरित चेतना नए-नए परिवेश की टकराहट की कड़वाहट का बोध करा देती है। लेखक ने परत-दर-

परतउसके अस्तित्व के तिलिस्म को खोला है।' जब उसके पति ने उसके बयान द्वारा एक झूठा क्रिमिनल प्रति-संदर्भ तैयार करना चाहा', तो वह विद्रोह कर बैठती है।... 'ध्वस्त अतीत, विकर्षक वर्तमान, अदृश्य वर्तमान के अंतराल में उसकी संवेदनात्मक चेतना में वस्तुओं को लेखक ने नए सिरे से अंतर्विरोध के एक नए बिंदु पर कसते, जूझते, टकराते हुए दिखाया है।' वह पागल हो जाती है किंतु उसका अवचेतन में यह कहना कि 'पता करना...वी हैव टू विन द स्टेट पॉवर। समझा रे गार्डवा...।' विमल जी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि तनिमा का सिनिकल एक्ट अपनी फलश्रुति से समकालीन स्थिति की वस्तुपरक दशा की व्याख्या है। इस कहानी में सामाजिक संदर्भों की विभिन्न भूमिकाओं के विश्लेषण की प्रक्रिया में यथार्थवाद की अवधारणा का विकास हुआ है। और लीलावती का रचनात्मक परिवेश और विमल जी के विवेकसम्मत व्याख्या में इसे लक्षित किया जा सकता है। तनिमा का चरित्र समाज के बीच अपनी मानवीय विडंबना सहित यहाँ आलोचक और आलोच्य दोनों एक साथ बन जाते हैं।'

यथार्थ के भीतर प्रवेश कर यथार्थ के वास्तविक और विकासमान रूप को समझा जा सकता है। किसी भी लेखक के लिए अनुभूत यथार्थ, निरीक्षण क्षमता और कल्पनाशीलता का होना अनिवार्य होता है। किंतु अनुभव के साथ रचनाकार की वैयक्तिक संवेदना का तदात्मीकरण न हो तो वह प्रामाणिक नहीं होता। 'लुप्त होते लोगों की अस्मिता' में जो आलोच्य पुस्तक का शीर्षक भी है वस्तुतः अवधनारायण सिंह के उपन्यास 'धुंध में डूबे हुए लोग' की समीक्षात्मक विश्लेषण है। किंतु विमल जी इसे एक लंबी कहानी मानते हैं। इसे वह लंबी कहानी क्यों मानते हैं, यह अलग से विचारणीय है। इस उपन्यास या कहानी में लुप्त होते हुए लोगों की अस्मिता की तलाश है। पूरे उपन्यास या विमल वर्मा के शब्दों में 'कहानी' में पात्रों के परिवेश की रुग्णता को लेखक ने वास्तविक रूप से पहचाना है जो संदर्भों और संवेदना को विश्वसनीय बनाता है। अवधनारायण सिंह की यथार्थ और रचनात्मक परिवेश के साथ भाषा का व्यवहार यथार्थ की समझ को पाठकों से साझा ही नहीं करता उन्हें उद्वेलित भी करता है। विमल वर्मा 'विटिंगस्टाइम'

की 'फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशंस' नामक ग्रंथ से एक सटिक उद्धरण दिया है कि 'हमारी भाषा यथार्थ के प्रति हमारी दृष्टि या बोध को निर्धारित करती है क्योंकि उसके ही माध्यम से हम यथार्थ को पहचानते हैं।' विमल वर्मा लगभग निष्कर्षतः इस कहानी की भाषा-प्रक्रिया की पड़ताल करते हुए लिखते हैं कि 'यथार्थ के बहुविध स्तरों को एक साथ व्यक्त कर पाना कथा भाषा की मुख्य चुनौती है। रचनाकार का अभिप्राय भाषा में उद्वेलन पैदा करना है। वह उद्वेलन एक प्रतिक्रियात्मक संबंध बनाता रहता है। इस प्रकार भाषा एक प्रक्रिया में बदल जाती है। इस कहानी की भाषा प्रक्रिया इस उक्ति को चरितार्थ करती है।'

अनय जी का 'तीसरा विभाजन' कहानी संग्रह निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। मेरी यह समझ रही है कि इस संग्रह की कहानियों में जीवन, समाज और राजनीति का यथार्थ रचनात्मक चेतना के साथ उपस्थित है। इन कहानियों में सामाजिक विसंगतियों और तनावों के विभिन्न स्तर उद्घाटित हैं जो अनय जी की रचनात्मक संलग्नता के वृहत्तर आयाम का प्रतिफलन है। यहाँ पर 'अनादि दास का क्या हुआ' (काल बोध में प्रकाशित अनय जी की कहानी), इसराइल की 'फर्क' और रमेश उपाध्याय की 'डेल्टा' में राजनीति और सामाजिक आंदोलन की पृष्ठभूमि नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष के आकलन से विमल वर्मा से मेरी असहमति है। 'अनादिदास' बहुत कुछ अविश्वास की सीमा तक ईमानदार और गरीब मजदूरों से प्रेम करने वाले व्यवस्था-परिवर्तन तथा अपने विश्वास और सिद्धांत के प्रति समर्पित गैरसमझौतापरस्त व्यक्ति हैं। कहानी में सत्तर का दशक तो है ही, अस्सी का दशक और उसके बाद का भी दशक है। 'अनादिदास' अभी है। एक लंबा समय बीत गया है। अनादिदास को लगता है कि 'शहर अपनी जगह पर ठीक है। लोग अपनी-अपनी जगहों पर हैं। कहीं कुछ ऐसा है, जो नहीं रहा। अन्याय को अन्याय कहने का साहस लोगों में नहीं रहा। अन्याय की पहचान भी दलगत राजनीति की सीमा में चली गयी है। दल के नेताओं की आज्ञा के बिना किसी की मौत पर रोना भी मना है।' अनय जी की गजब की यह राजनीतिक संवेदना है। बातें वर्ग-समाज और वर्गीय संघर्षों की जाती है किंतु वहाँ शिविरबद्धता की

मुट्टी में छटपटाती संवेदना दम तोड़ देती है। इस पर विस्तार से चर्चा की जानी चाहिए।

‘अनादिदास का क्या हुआ?’ ‘फर्क’ और ‘डेल्टा’ का उपजीव्य तेलंगना के बाद नक्सलबाड़ी और गौरवशाली किसान संघर्ष के बारे में रचनाकारों के अपने अनुभव और आकलन व्यक्त हुए हैं। हर लेखक अपने समाज में निजी अस्मिता के साथ भी उपस्थित रहता है और इतिहास को आंदोलनों और घटनाओं को अपने विशेष दृष्टिकोण से देखता है और उसका हिसाब से अर्थ तलाशने का प्रयास करता है। नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष गलत नहीं था बल्कि इसने संसदधर्मी छद्मवाम के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष में उत्प्रेरक का काम किया है। उस आंदोलन की अपनी अंतर्निहित कमजोरियों-आतंकवादी और अराजकतावादी रुझानें रहीं हैं। रणनीति और रणकौशल की विच्युतियों तो थी ही। यहाँ विस्तार में जाना संभव नहीं है और न ही आवश्यक और अपेक्षित किंतु इतना अवश्य है कि उसमें फूट और बिखराव की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज का चरित्र, क्रांति की मंजिल और संसोधनवाद से लड़ने में मार्क्सवाद की समझ के विकास तथा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के मूल्यांकन में गहरे मतभेद रहे हैं और आज इन मतभेदों की संश्लिष्टता और बढ़ी है। इस पर विचार किया जाना चाहिए और आकलन भी होने चाहिए। इस संदर्भ में फिलहाल इतना ही।

‘फर्क’ कहानी का यथार्थ रचना-काल के वैचारिक संघर्ष और द्वंद्व का यथार्थ है। रचनाकार की चेतना रचनात्मक यथार्थ के सत्य को तो प्रकट करती है किंतु रचनाकार की निजी राजनीतिक चेतना का हस्तक्षेप उसे विकसित नहीं होने देती। कहानी में ‘भूमि दखल आंदोलन’, ‘भूदान’ का रिपोर्टाज है। यद्यपि उस काल में वामपंथी राजनीतिक दलों द्वारा भूमि दखल आंदोलन चल रहा था किंतु भूमि दखल आंदोलन किसानों की भूमि समस्या उसी तरह नहीं निपटा सकता जिस प्रकार सर्वोदयी का भूदान। यह आज कम-अज-कम स्पष्ट हो गया है। दोनों में सूक्ष्मतः कोई फर्क नहीं है। उन्हीं दिनों ‘मुसहरी’ में सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण की ‘कैम्पिंग’ भी चल रही थी। निश्चित रूप से इसराइल ने भूदानी बेनी बाबू को बड़े भूस्वामियों के प्रतिनिधि

के रूप में चित्रित कर भूदान की सच्चाई को बेनकाब किया है। किंतु ‘विशू’ और ‘बजरू’ के संवादों में वास्तविक यथार्थ की अनुगूँज मिलती है। किंतु वह संकेत में है। उस संकेत का अर्थ खोलने (डिकोड) से वास्तविक यथार्थ का उद्घाटन हो जाता है। पता नहीं, विमल वर्मा ने उस संकेत को क्यों नहीं डिकोड किया। वैसे भी यह लेख बहुत पहले का है। मैं कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर रहा हूँ जिससे संघर्ष की जमीन से पाठक परिचित हो सकेंगे। ‘हालात यहाँ तक नाजुक है कि ऊँची जातियों के कुछ सिरफिरे लोग भी इनका साथ दे रहे हैं’ ...पंडित जी हम लोग इस झमेलेपन पर थूकते हैं।’... हम इतना समझ गये हैं कि इसी सत्ता ने हमारा सब कुछ छीन लिया है, इसलिए सत्ता भोगियों के हाथ से इस सत्ता को ही छीन लो।’ स्पष्ट है इसकी पृष्ठभूमि में संसदीय जनतंत्र के प्रति अनास्था का स्वर ही प्रमुख है। किंतु कहानी में अन्तर्क्षेपण (interception) उसकी गति को अवरुद्ध कर देता है। और इसलिए रचना यथार्थ का अभिप्रेत संप्रेषित नहीं हो पाता। कहानी के अंत में बेनी बाबू जो अस्पताल में भर्ती है, सोचते हैं- “विशू होता तो कहता, एक दर्द हिंसक है दूसरा दर्द अहिंसक।” विमल वर्मा का इसे उक्ति का चमत्कार कहना ठीक ही है और साथ ही ‘विशू’ और ‘बजरू’ को रचनाकार का रोबोट कहना भी। क्या इस उक्ति में यथार्थ का सत्य जाने-अनजाने उद्घाटित नहीं हो गया है?

किसी भी रचना की अन्तर्वस्तु में रचना-दृष्टि के हस्तक्षेप की प्रभावी भूमिका होती है। ‘वर्ग-समाज’ में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ग के सदस्य के रूप में ही जीवन व्यतीत करता है तथा प्रत्येक प्रकार की विचारधारा पर बिना किसी अपवाद के किसी न किसी वर्ग की छाप होती है।... मनोगत और वस्तुगत, सिद्धांत और व्यवहार, जानने और कर्म करने के बीच ठोस ऐतिहासिक एकता कायम की जाए। (माओत्सेतुंग व्यवहार के बारे में) यह बहुत महत्वपूर्ण है। ये बातें रमेश उपाध्याय की ‘डेल्टा’ कहानी के संदर्भ में है जिसे विमल वर्मा ने ‘समकालीन कहानी: भाषा प्रक्रिया’ में विश्लेषित किया है। इस कहानी में कहीं न कहीं मनोगत और वस्तुगत संवेदना में फाँक दिखाई देती है जिसे भाषा और संरचना भर नहीं पाती है। राजनीतिक

विषय पर रचना लिखने के खतरे होते हैं। इसीलिए रमेश उपाध्याय ने इस कहानी को 'डेल्टा' के रूपक के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः इसमें परितोष दास गुप्ता। सौमिभ और सुचित्रा के संबंधों के त्रिभूज के माध्यम से नक्सलबाड़ी आंदोलन को आकलन प्रस्तुत करने का प्रयास है। उस आंदोलन के उठान, ढलान और बिखराव की प्रक्रिया संश्लिष्ट है। कोई भी आंदोलन या संगठन व्यक्तिगत संबंधों की जमीन पर नहीं खड़ा होता। उसकी जड़ें सामाजिक यथार्थ में होती हैं, उसे खाद पानी भी वहीं से मिलता है और बिखराव भी नेतृत्व के व्यक्तित्वों की टकराहटों से नहीं बल्कि उस सामाजिक यथार्थ की प्रकृति, गति और दिशा की भिन्न और विरोधी समझ के कारण होता है। मुझे कुमार विकल की कविता 'शताब्दी का सबसे बड़ा जादूगर' याद आती है। जिसमें 'तरक्की राम' के माध्यम से छद्म क्रांतिकारी चरित्रों को चित्रित किया गया है। कविता लंबी है। केवल कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

*'क्या हुआ जो उसके पास हर दुनियावी सुविधा है
लेकिन जिंदगी तो उसके लिए एक दार्शनिक दुविधा है।
सुख-सुविधाओं, और दुःख दुविधाओं के बीच-
भटकता 'तरक्कीराम'
सुखी और उदास रहता है।*

*.....
इधर कुछ दिनों से तरक्कीराम नक्सलपंथी हो गया है*

*.....
'तरक्कीराम'*

इस शताब्दी का सबसे बड़ा जादूगर है

जो अपने जादू से

बड़े-बड़े करतबें दिखा सकता है

मसलन बवक्ते जरूरत

गधे को बाप

*और बाप को गधा बना सकता है। ('एक छोटी सी लड़ाई'
काव्य संकलन में संकलित)*

उस कालखंड में बहुतेरे तरक्कीराम हुए जो छद्म क्रांतिकारी के आवरण में नायकत्व की आभा बनाये रखना चाहते थे। उस आंदोलन की विफलता क्रांतिकारी सिद्धांत पर आधारित क्रांतिकारी पार्टी की निर्माण प्रक्रिया की अन्तर्वस्तु

में है जिसे न तो परितोष दास गुप्ता और न ही कहानी के नैरेशन में ही कहीं संकेतात्मक अभिव्यक्ति है। हाँ, कहानीकार, जाने-अनजाने 'डेल्टा' के निर्माण से यह अवश्य स्पष्ट करना चाहा है कि भविष्य की क्रांतिकारी फसलें भी वहीं लहलहा सकती हैं क्योंकि 'डेल्टा' की जमीन में जीवनदायिनी शक्ति होती है। इस कहानी की संश्लिष्टता वही समझ सकता है जो अपनी संघर्षशील आस्था के साथ उस आंदोलन के सहयात्री रहे हैं या सहभागी रहे हैं। इसमें कथाकार के नक्सलबाड़ी आंदोलन का आत्मपरक आकलन ही प्रतिबिम्बित है जो अखबारी रपटों पर आधारित प्रतीत होता है।

इसी क्रम में 'वास्तविकता की जटिलता: डाक्यूड्रामा' के संदर्भ में इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि 'डाक्यूड्रामा' में भूमंडलीकरण द्वारा जनता को जन समाज में परिवर्तित किये जाने का चित्रण उपस्थित है। आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि 'डाक्यूड्रामा' सूचना और मनोरंजन के मिले जुले रूप 'इंफोटेनमेंट' की उत्कृष्ट कला तथा वृत्तचित्र और नाटक के मिले-जुले 'डाक्यूड्रामा' नामक नई सिनेविधा का एक श्रेष्ठ भारतीय नमूना है। इसमें सेक्स जीवन का मूल सत्य तथा फिल्म का अनिवार्य तत्त्व है।' पूंजीवादी समाज में कोई भी कलाकृति बाजार की आवश्यकताओं, माँग और पूर्ति के उतार-चढ़ाव के अनुसार निर्मित होती है। कलाकार उन लोगों की रुचियों, वरीयताओं, विचारों और सौंदर्य संबंधी धारणाओं का ध्यान रखता है जो बाजार को प्रभावित करते हैं। फिल्मों में इस व्यापारीकरण की प्रक्रिया साफ दिखाई देती है। साहित्य की विधायें भी इससे अछूती नहीं हैं। बाजार की मांग के अनुसार फिल्मों में सेक्स, हिंसा और नग्नता का चित्रण जारी है। यही नहीं, लोक संस्कृति के तत्त्वों जैसे लोकगीत, लोकनृत्य आदि भौड़े रूप में दिखाये जाने लगे हैं। औपनिवेशिक काल या उसके बाद भी भारतीय फिल्मों का फलक भारतीय बना रहा किंतु भूमंडलीकृत समाज में विदूषक (कॉमेडियन) और लतीफे और संगीत की लय तक बदलने लगी है। 'डाक्यूड्रामा' में जो पात्र हैं वे सभी 'कुलीन' और 'उच्चमध्यवर्ग' के हैं। उनकी जीवन शैली भी भिन्न होती है। यह सभी जानते हैं। वहाँ नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं। निजी आकांक्षा और महत्वाकांक्षा ही सर्वोपरि है। नई

आर्थिक नीति के प्रभाव में ये सभी वास्तविकताएँ अब सतह पर दिखाई देने लगी हैं। रमेश उपाध्याय की नई कहानियों में इस यथार्थ को समझने और चित्रण का प्रयास दीखता है। रचना-शिल्प प्रशंसाकित है। किंतु इस यथार्थ को भले ही 'आभासी यथार्थ' कहा गया हो किंतु समकालीन परिस्थितियों में दोनों लगभग मिश्रित हो गये हैं जिसे अनुभव के धरातल पर समझा जा सकता है। संभवतः डॉ. नामवर सिंह इसीलिए पाठक-समुदाय से 'आत्मपूर्ण ग्रहणशीलता' की मांग करते हैं। सच एक ही होता है उसे अभिव्यक्त करने की अलग-अलग विधियाँ होती हैं। विमल वर्मा के इस कथन से असहमति की कोई गुंजाईश नहीं है कि 'डाक्यूड्रामा' में उस परिस्थितीय यथार्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है जो पाठ के निर्माण में उपादान बनाए गए हैं। वह यथार्थ है जो मीडिया द्वारा कामुक व्यवहार को व्यक्तिगत और सामाजिक एजेंडा बनाया जा रहा है। कहना न होगा कि 'प्रोनोग्राफी' संस्कृत पुरुष की उपचेतना बनती जा रही है। यह कहानी अन्तर्वस्तु की समझ, मूल्यांकन, चित्रण से संबंधित शिल्प और सौंदर्य के कई प्रश्नों के पड़ताल का अवकाश देती है। अन्तर्वस्तु निरंतर परिवर्तनशील है और इसीलिए शैल्पिक गठन का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। यदि यह परिवर्तन रचना-प्रक्रिया द्वारा उद्घाटित हो तो प्रभावी होती है किंतु यह उतना आसान भी नहीं है। वैसे यह कहानी कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है और इसकी समीक्षा भी।

'स्वप्न घर का लाक्षणिक पठन' में अरुण प्रकाश की कहानी स्वप्न-घर की व्याख्या आत्मीयतापूर्ण है। यहाँ आलोचक ने कहानीकार की 'काल्पनिक आत्म' और 'वास्तविक आत्म' के बीच भूलने वाली स्थिति के तनाव की त्रासदी को संजीदगी से प्रस्तुत किया है। मुझे कहानी काव्यात्मक लगती है। अरुण प्रकाश एक अच्छे कवि और चिंतक थे। कहानी हो या कविता, उन्होंने सामाजिक जीवन के जीवंत पात्रों और स्थितियों को अपना उपजीव्य बनाया है। 'मैं' और 'अंजलि' के प्रेम-प्रसंग के माध्यम से 'पुरुष' और 'स्त्री' के मनोवैज्ञानिक संबंधों पर गंभीर टिप्पणी है। अंजलि द्वारा कुमार विकल की कविता की कुछ पंक्तियों पर निशान जैसे सब कुछ स्पष्ट कर देता है:

*'मुझे लौटा दो बस
इस विशाल पृथ्वी पर
मैंने जो बसाया था
एक छोटा सा स्वप्न-घर।'*

फिर भी 'स्वप्न-घर' का मैं अपने अस्तित्व की स्थितियों को समझने के लिए बहुत बेचैन होकर भी समझ नहीं पाया। 'मैं' और 'अंजलि' में कौन ज्यादा व्यावहारिक या मैटरियलिस्ट है- पाठक अपनी समझ के अनुसार ग्रहण करेंगे।

'छनती-रिसती संवेदनाएँ' में सिद्धेश जी की 'कटा-छटा आकाश' में 'सभ्यता के संकट' का जो चेहरा उभरा है, उसमें प्रत्यक्ष संवेदना में बदल गया है। कहानी में जो यथार्थ है, वह नया नहीं होते हुए भी इसलिए नया है कि इसमें 'रामेश्वरी', 'बहू' और 'बेटे' के चरित्रों और संवादों के माध्यम से रागधर्मी संवेदना को उकेरा गया है। ये सभी पात्र अतीत की नैतिक संवेदना और आज के संवेदनहीन संस्कृति की प्रवृत्ति के तनावों को झेल रहे हैं। सुमन का अपनी माँ के प्रति प्यार और माँ का पुत्र के प्रति प्रेम तथा उसकी भावी दामपत्य जीवन की चिंता अपने अकेलेपन की त्रासदपूर्ण स्थिति में संवेदनशीलता आज के युग में भी क्या महत्वपूर्ण नहीं है? जबकि बहू ठीक इसके विपरीत संस्कार और संवेदना का प्रतिनिधित्व करती है। वह एकल पारिवारिक मूल्यों की प्रतीक है। सिद्धेश जी ने इन अन्तर्विरोधों के माध्यम से समकालीन सामाजिक संबंधों की विडंबना और विसंगतियों को उद्घाटित किया है। विमल वर्मा का कथन तर्कसंगतपूर्ण है कि 'सिद्धेश जी ने अन्तर्विरोधों के पद में इस रचना में इतिहास को समझने की दृष्टि दी है कि संदर्भों को भावपरकता में समझा जाय।'

'माध्यम की तलाश' में मार्कण्डेय सिंह के कहानी संग्रह 'नयी भूमिका' की रचनात्मक समीक्षा है। 'मार्कण्डेय सिंह मध्यवर्ग या विषय विशेष से 'आब्सेस्ड' नहीं है। वह मध्यवर्ग के घेरे को तोड़कर उस वर्ग की परिधि को छूते हैं जो पूरे समाज का नियामक है।' आलोचक के इस कथन में मार्कण्डेय सिंह के रचनात्मकता की महत्वपूर्ण इंगति है। मार्कण्डेय सिंह की कहानियों में उनके आस-पास की जिंदगी रचनात्मक परिवेश के साथ अनुभूतिपरक ढंग से उपस्थित है। उनकी कहानियों में अपने बाहर और भीतर

की दुनिया को पहचानने और उसके बीच संबंधों को जोड़ने की कोशिश दीखती है। 'नई भूमिका' में मास्टर सूरज बाबू और रामरतन के संबंधों और अवधारणा से लेखक ने एक नये यथार्थ की स्टेष्टि की है। दोनों अपनी सामाजिक विवशताओं के बंदी हैं। किंतु अन्ततः संस्कार और संवेदन के बहुस्तरीय द्वंद्व में मास्टरजी आत्मनिर्णय की चुनौती स्वीकार करते हैं और लड्डू खा लेते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने मूल्य की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'किस व्यक्ति की चरित्र को किस स्थिति में किस प्रकार की सहानुभूति देता है और उस सहानुभूति का आधार क्या होता है, इससे कहानी का मूल्य निर्धारित होता है।' 'नई भूमिका' में इस आधार पर मूल्य की खोज की जा सकती है और विमल वर्मा ने सही पहचाना है कि 'यह समस्या केवल इस कहानी की नहीं बल्कि समाज के क्रांतिकारी अभियान और साथ ही साथ साहित्य क्षेत्र के कलात्मक मुक्ति से जुड़ी है। इस तरह काल के साथ-साथ संघर्ष करते-करते काल और मानव चेतना का रिश्ता बदला जा सकता है।'

इस आलोच्य पुस्तक में कलकत्ता के कहानीकारों की कहानियों की चर्चा का विशेष महत्त्व है। बहुत कम लोग जानते होंगे कि शरणबंधु की कहानियाँ अपने समय की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में शामिल होती थी। किंतु उनका एक ही कहानी संग्रह 'महामारी' प्रकाशित है जिसकी 'कुत्ते' नामक कहानी का विमल वर्मा ने विश्लेषण किया है। 'जागरूक रचनाकार और पाठक जानता है कि व्यवस्था से व्यक्ति की चेतना का विद्रोह तभी संभव होता है जब स्वाभिमान सत्ता के आक्रमण के चपेट में आता है।' विमल जी का निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है कि 'आज के लोकतंत्र में आम आदमी का स्खलन, उसकी प्रवृत्तियाँ कुत्ते के स्तर तक पहुँच गई हैं। अतः 'कुत्ते' शीर्षक की व्यंजना में अवमानना में दब्बूपन रौंदी हुई प्रतिष्ठा वाला भोक्ता व्यक्तित्व विकृत और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।' पूरी कहानी में घटनाओं के अन्तर्सम्बन्धों, अन्तर्संघातों से चरित्र की जीवंत प्रतिमा गढ़ी गई है। मेरी समझ से मनुष्य के स्वभाव का आधुनिक विश्लेषण है। शरणबंधु को मध्यवर्गीय मानसिकता की मनोवैज्ञानिक समझ गहरी है और इसे संवादों और घटनाओं के माध्यम से सहजता से अभिव्यक्त किया है। यह कहीं

न कहीं स्वानुभूति भी लगती है। सच है कि 'त्रासदी के विविध रूप' में कहानी का 'नेटवर्क उन अनिवार्यताओं के तहत अपनी संवेदनात्मक भूमिका में इतिहास से वर्तमान के संबंधों और समय को परिभाषित करता है।'

अंतिम ऑलेख 'क्लॉड ईथरली: त्रासदी का द्वंद्ववाद' में मुक्तिबोध की कहानी 'क्लॉड ईथरली' की केवल चर्चा है। लगता है कि आलोचक ने बहुत जल्दी में इसे लिखा है, इसीलिए अधूरी लगती है। उन्हें भी अवश्य लगता होगा कारण लेख की भित्ति जिस तरह से निर्मित की गई है, उससे उनकी गंभीर समीक्षा की अपेक्षा थी जो संक्षिप्तिकरण में खो गई है। श्रीकांत वर्मा ने लिखा है कि मुक्तिबोध की कहानियों की प्रेरणा कहानी का कोई आंदोलन नहीं था। हर रचना उनके लिए एक भयानक शब्दहीन अंधकार को जो आज भी भारतीय जीवन के चारों ओर चीन की दीवार की तरह खींचा हुआ है— लांघने की एक और कोशिश थी। (श्रीकांत वर्मा 'सतह से उठता आदमी' कहानी संग्रह के दृष्टिकोण से उद्धृत पृ. ६) साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की मुक्त बाजार-व्यवस्था की मायावी लीला तथा उनके गठजोड़ द्वारा निर्मित उपभोक्तावादी व्यवस्था की चकाचौंध में सुविधाभोगी लेखकों और बुद्धिजीवियों की स्थिति दयनीय होती गयी है। उनके भीतर की 'आग' जैसे बुझ गयी है। ऐसी संहारक व्यवस्था को पहचानते हुए भी वह उसमें सहयोगी हो जाता है क्योंकि ऐसे समाज में 'सामंजस्य का आदर्श' ही प्रासंगिक जीवन विवेक बन जाता है। यह आज तो रवे की तरह स्पष्ट है।

'क्लॉड ईथरली' में कहानी मैरेटर सी.आई.डी. और 'मैं' के संवादों के माध्यम से यह स्पष्ट है कि क्लॉड ईथरली हिरोशिमा पर परमाणु बम गिराने वाला अमरीकी विमान चालक ही नहीं है, वह "व्यापक अन्याय का अनुभव करने वाले लेकिन उसका विरोध न करने वाले लोगों" का प्रतीक है जो भीतर से विक्षिप्त, पाप-बोध से ग्रसित और लहुलुहान है। वह कहानीकार के शब्दों में 'सचेत जागरूक संवेदनशील जन क्लॉड ईथरली है।' सी.आई.डी. का यह कथन 'जो आदमी आत्मा की आवाज जरूरत से ज्यादा सुनकर हमेशा बेचैन रहा करता है, वह निहायत पागल है। पुराने जमाने में संत हो सकता था।

आजकल उसे पागलखानों में डाल दिया जाता है।' विमल वर्मा इसे ही त्रासदी का द्वंद्ववाद कहते हैं जो इस कहानी की केंद्रीय संवेदना की व्यंजना है। इस कहानी में मुक्तिबोध कुछ और सवाल उठाते हैं- 'आजकल हमारे अवचेतन में हमारी आत्मा आ गई है, चेतन में स्वहित और अधिचेतन में समाज से सामंजस्य का आदर्श- भले ही वह बुरा समाज क्यों न हो! यही आज के जीवन-विवेक का रहस्य है।' सी.आई.डी. लेखक (मैं) से बहस करते हुए कहता है कि, "कौन नहीं जानता कि क्लॉड ईथरली अणुयुद्ध का विरोध करने वाली आत्मा की आवाज का दूसरा नाम है। ईथरली मानसिक रोगी नहीं है। वह आध्यात्मिक अशांति का, आध्यात्मिक उद्विग्नता का ज्वलंत प्रतीक है।"

'क्लॉड ईथरली' में संवाद के माध्यम से जीवन-जगत की कई सच्चाईयाँ उद्घाटित हैं। उसमें एक स्थल पर यह भी उल्लिखित है कि 'भारत अमेरिका ही है' और मुक्तिबोध इस कहानी में एक अमरीकी राजनयिक मैकमिलन की तकरीर का हवाला देते हैं कि 'यह देश हमारे सैनिक गुट में तो नहीं है, किंतु संस्कृति और आत्मा से हमारे साथ है।' और यह भी कि 'भारत के हर बड़े नगर में एक अमरीका है।' समकालीन भारतीय समाज को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध का रचनाकार काल का अतिक्रमण करता है और इस तरह इस कहानी की अन्तर्वस्तु सर्वकालिक और सर्वदंशी ही नहीं, बल्कि वर्तमान युग के संकटों का भी उद्घाटन करती है। ध्यातव्य है कि यह कहानी १९५९ के आस-पास लिखी गयी थी। मुक्तिबोध का यह कहना कि 'हमारे अपने-अपने मन हृदय मस्तिष्क में ऐसा ही एक पागलखाना है जहाँ हम उच्च पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं जिससे कि धीरे-धीरे या तो वे खुद बदलकर समझौतावादी पोशाक पहन सभ्य, भद्र हो जाएँ, यानी दुरुस्त हो जाएँ या उसी पागलखाने में पड़े रहें।' मुक्तिबोध के पागलखाने के प्रतीकार्थों को वर्तमान के चेहरों में पढ़ा-लिखा समझा जा सकता है।

आलोच्य पुस्तक में विमल वर्मा ने इस लेख 'क्लॉड ईथरली: त्रासदी का द्वंद्ववाद' में लिखा है कि 'क्लॉड ईथरली ने हिरोशिमा पर बम गिराया। इससे उसे नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। परंतु ईथरली अपने को

मानवता संहारक समझता है। आत्मग्लानि के परिताप में झुलसता क्लॉड ईथरली प्रायश्चित्त करने के लिए तरह-तरह दुष्कांड करता है। 'दुष्कांड' के परिप्रेक्ष्य में मुझे लगता है कहानी यहाँ कमजोर और यथार्थ से विचलित हो गयी है। मानवता की रक्षा व्यवस्था, समाज, व्यक्ति की मानसिकता, मूल्यों, आचरणों द्वारा प्रबल आंदोलन द्वारा बदले जा सकते हैं। हाँ यहाँ उल्लेख है कि एक बार सम्मान पा जाने पर फिर जो भी गलत करे वह क्षम्य है। यही आज की संस्कृति है।' जो भी हो, कहानी विमल वर्मा की दृष्टि में यथार्थ से भले विलित हो गयी हो किंतु यह कहानी कहीं-न-कहीं अमानवीयता के खिलाफ वैश्विक धरातल पर मानवता के लिए संघर्ष को उत्प्रेरित करती है और यह महत्त्वपूर्ण है। किंतु विमल वर्मा की यह निरीक्षणशीलता भी महत्त्वपूर्ण है कि 'क्लॉड ईथरली' के ताने-बाने में जो संस्कृति रची गयी है, उसमें दृश्य, अदृश्य स्वरूप तत्त्व में रचनाकार इतिहासबोध, संस्कृति के प्रेक्षण और आत्मनिरीक्षण की लंबी यात्रा का रूपक है। यहाँ रूपक की विधि इसलिए अपनायी गई है। संप्रति वर्तमान में जो भविष्य है, उन्हें रूपक और प्रत्यय को एक-दूसरे में विलीन कर सकें'

मैंने पहले भी उल्लेख किया है कि रचना में महत्त्व अन्तर्वस्तु का नहीं, बल्कि अन्तर्वस्तु में समाहित होने वाले 'प्रभाव' का है। साहित्य न तो इतिहास निरपेक्ष होता है और न ही काल निरपेक्ष। टेरी इग्लटन ने लिखा है- 'पाठ यथार्थ से अपने संबंध में स्वतंत्र है। वह चरित्रों एवं परिस्थिति को स्वतंत्ररूपेण सृजित करता है, किंतु वैचारिकी से अपने संबंध में स्वतंत्र नहीं। वैचारिकी से केवल वे संकल्पनाएँ, सिद्धांत एवं नियम अभिप्रेत नहीं, जिनकी हम चेतना रखते हैं, अपितु सौंदर्यशास्त्र, पराभौतिकता, न्याय व्यवस्था समेत वे सारे तंत्र भी जिनके आलोक में व्यष्टि 'भोगे हुए अनुभव' की मानसिक अवधारणा स्थापित करता है। पाठ के माध्यम में प्रकट होने वाले अर्थ एवं अवधारणाएँ वस्तुतः उस यथार्थ की संकल्पना की पुनर्संकल्पना होते हैं, जिन्हें वैचारिकी ने स्थापित किया है।' पाठक पाठ में सृजित वस्तु का स्वतंत्ररूपेण अर्थ ग्रहण नहीं कर सकता, वरंच कृतिकार भी मस्तिष्क में रहता है और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी

जिसमें पाठ अस्तित्व में आया। अर्थग्रहण में इन सबका साथ होता है। रचनात्मक व्याख्या का लक्ष्य व्यक्त अर्थ के सच की खोज है और उसके लिए कई विचार-सरणियों से गुजरना पड़ता है ताकि व्यक्त या अव्यक्त में अन्तर्निहित सत्य की खोज की जा सके। यह प्रक्रिया सहज नहीं है बल्कि संश्लिष्ट है।

डॉ. सुरेंद्र चौधरी 'हेमेंगे' की कहानी 'किलर्स' पर डॉ. नामवर सिंह के दृष्टिकोण से सहमत होते हुए कहते हैं कि 'स्तरीय पाठ के आधार पर उसे हम 'हत्याओं के मनोविज्ञान' की कहानी कह सकते हैं। किंतु कहानी का वास्तविक अर्थ उसके कथानक स्तर पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमें पूरे सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में जीवन को देखना होगा।' आलोच्य पुस्तक में कहानियों की समीक्षा में आलोचक का यही प्रमुख दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है।

यह पहले उल्लेखित किया जा चुका है कि डॉ. नामवर सिंह पाठक समुदाय से 'आत्मपूर्ण ग्रहणशीलता' की अपेक्षा रखते हैं। डॉ. सुरेंद्र चौधरी ने इसे विस्तार देते हुए स्पष्ट किया है कि, "डेनिस थाम्पसन ने किसी लेखक को उद्धृत किया है- 'कला के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया के प्रकार में और उसकी मानवीय अस्तित्व के प्रति तत्परता में एक प्रकार का अनिवार्य संबंध होता है।' जो व्यक्ति सामान्य मानवीय अस्तित्व के प्रति तत्पर (अर्थात् सचेत) नहीं, वह कला के प्रति भी तत्पर नहीं हो सकता। मेरी दृष्टि में यही तत्परता उसकी 'ग्रहणशीलता' को आत्मपूर्ण बनाती है।कहानी की पाठ-प्रक्रिया में सजगता, आत्मनिर्णय की सक्षमता और कला-संवेदना के प्रति क्रियात्मक तत्परता की आवश्यकता होती है। हिंदी में कहानियों की पाठ संबंधी समस्याओं पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया है।' आलोच्य पुस्तक में विमल वर्मा ने कहानी के विश्लेषण में

भाषा, मनुष्य की चेतना के साथ ही पाठ तथा पठन-प्रक्रिया में इतिहास, सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को ध्यान में रखा है। साथ ही भाषिक संरचना का भी यत्रवत प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने अभी तक विकसित और प्रचलित अवधारणाओं का प्रयोग अपनी जमीन पर किया है। मुक्तिबोध ने कला को जीवन की पुनर्रचना कहा है। 'उत्तर संरचनावादियों की एक महत्वपूर्ण स्थापना है कि हर पाठक अपने लिए रचना की पुनर्रचना करता है। इसका मतलब यह है, अपने अनुसार अर्थ की खोज करना। यही उसकी पुनर्रचना है।' ('उत्तर-संरचनावाद को क्यों और कैसे पढ़ें' पल प्रतिपल संयुक्तांक २०-२१, अप्रैल-सितंबर १९९२ में डॉ. मैनेजर पाण्डेय का साक्षात्कार) विमल वर्मा ने प्रायः कहानियों की पुनर्रचना के माध्यम से उसके अर्थ के सच की खोज उसके समकालीन परिवेश में सजगता और संवेदनशीलता के साथ ऐतिहासिक परिस्थितियों में दर्शन की गहरी समझ के साथ किया है। आलोच्य पुस्तक 'लुप्त होते लोगों की अस्मिता' में सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक वास्तविकताएँ एवं भावी संभावनाओं की ओर संकेत को लक्षित किया जा सकता है।

'लुप्त होते लोगों की अस्मिता' में विमल वर्मा के समीक्षात्मक विवेक और दायित्व परिलक्षित हैं और इस पर चर्चा अपेक्षित है ताकि वाद-विवाद-संवाद के माध्यम से आलोचनात्मक चेतना विकसित हो सके।

समीक्षित कृति: 'लुप्त होते लोगों की अस्मिता'

लेखक: विमल वर्मा

समीक्षक: परशुराम

प्रकाशक: 'लोकमित्र', १/६५८८, पूर्वी रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२,

प्रकाशन वर्ष: २०१६

मूल्य: ४९५/- रुपये मात्र

संपर्क: १४०/१, रामकृष्णपुर लेन, शिवपुर, हावड़ा-७१११०२,
(पश्चिम बंगाल), मो. ९४३३७०८४५३

मनुष्य माने जाने का संघर्ष : नाला सोपारा- पोस्ट ऑफ़िस नं. २०३ सविता मिश्र

चित्रा मुद्गल विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कथाकार है। वे कथा-साहित्य के सरोकारों से जूझती हैं और अपने समय के यथार्थ को नये शिल्प में तराशती हैं। जीवन-यथार्थ को व्यंजित करने वाला उनका नवीनतम उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. २०३ 'नाला सोपारा' अपनी अन्तर्वस्तु और कथा शिल्प में सर्वथा नवीन है। वास्तव में किसी उपन्यास में केवल कथ्य ही नहीं होता, उपन्यास लेखक के अपने विचार भी होते हैं जो रचनात्मक संवेदना के अंग होते हैं। इस कृति में भी लेखिका के विचार संवेदनात्मक गहनता के साथ उभरकर आये हैं। इस उपन्यास में लिंग दोषी (हिजड़ा समुदाय) की समस्या, उसकी छटपटाहट और संघर्ष चेतना को विनोद उर्फ बिन्नी के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। किन्नरों के प्रति समाज की संवेदनहीन और अमानवीयता को अत्यंत संवेदनशीलता से व्यक्त करने में चित्रा जी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। वर्तमान सदी की अनेक चुनौतियों से जूझता हुआ कथाकार चित्रा मुद्गल का संवेदनशील मन यह सोचकर छटपटा उठता है कि इस समाज में मनुष्य को मनुष्य समझने वाली मानसिकता कहाँ लुप्त हो गई है। वे कहती हैं कि जब समाज को सती प्रथा, बाल-विवाह, दलितों से भेदभाव आदि कुरीतियों से मुक्त किया गया है तो उस दिशा में कोई पहल क्यों नहीं की गई। चित्रा जी की यह पक्षधरता अत्यंत स्पष्ट पारदर्शी है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि चित्रा जी के पास प्रभावशाली कथ्य और कथा भाषा है। सपष्ट अभिव्यक्ति है, कुछ नया कहने और अभिशप्त लोगों की अभिशप्त नियति को महसूस करने की संवेदना है।

मुंबई के 'नाला सोपारा' में रहते हुए चित्रा जी की मुलाकात एक किन्नर से हुई, जिसे घर से निकाल दिया गया था। १९७४ में बांद्रा के पत्रकार नगर वाले फ्लैट में उन्होंने अपने साथ कुछ समय रखा भी था। यहीं से उनकी चेतना में इस उपन्यास को लिखने की छटपटाहट शुरू हो उठी। शारीरिक कमी के कारण किसी इंसान को असामाजिक बना देने की क्रूर विडम्बना से उनकी संवेदना इतनी आहत हो उठी कि उन्होंने उस पर पूरा उपन्यास ही लिख दिया। उन्होंने कहा भी है- 'मुझे इसे लिखते हुए यह लगा कि समंदर के तलछट को जैसे किसी 'मैग्नीफाइंग ग्लास' के सहारे देख पा रही हूँ। मेरा उससे और उसके परिवार के साथ गहरा रिश्ता रहा है।'

यह उपन्यास अपनी संरचनात्मक नवीनता और वैचारिक ज्वलंतता के रूप में एक नई संभावना को जन्म देने वाला उपन्यास है। सच्चा रचनाकार वही है तो अपनी कृति में सामाजिक चिंता और अपने समय की समस्याओं से रूबरू कराता है और हमारी जड़ता पर प्रहार करता है। वर्तमान परिवेश में हर व्यक्ति संघर्षरत है और यह संघर्ष कहीं बाहर का है तो कहीं भीतर

का। जीवन की त्रासदियाँ व्यक्ति को भीतर-बाहर से तोड़ रही हैं। समाज में हर कहीं यह टूटन व्याप्त है। चित्रा जी ने इस उपन्यास में विनोद उर्फ बिन्नी के माध्यम से किन्नर समुदाय से टूटने-बिखरने के बोध के साथ-साथ त्रासद अनुभूतियों के यथार्थ को उभारा है। यह उपन्यास वास्तव में एक नयी पहल है। सामाजिक मुद्दे चित्रा जी के अन्तर्मन को कचोटते रहते हैं फिर भी एक ऐसा समय आता है जब वे उन मुद्दों को विचार और संवेदना की गहनता से अपनी कृति में विशिष्ट रचनात्मक बुनावट के साथ व्यक्त कर देती हैं।

उपन्यास का पहला वाक्य ही उपन्यास के नायक विनोद की मर्मान्तक पीड़ा को अभिव्यक्त कर रहा है, 'मेरी बा! इस संकरी गली के संकरे छोर पर पलस्तर उधड़ी दीवारों वाले घर की सींखचों वाली इकलौती खिड़की के पार, दिल्ली के मेघ बरस रहे हैं।' पलस्तर उधड़ी दीवारें, बरसते मेघ निश्चित रूप से विनोद की उधड़ी जिंदगी और उसके मन में बरसने वाले दुःख का प्रतीक हैं। 'मेरी बा' संबोधन उन अनंत आत्मीयताओं से रूबरू कराता है जो विनोद और उसकी माँ के संबंधों के बीच रेशे-रेशे में समायी हुई है। कृति की कथा में गति और लय का अद्भुत तारतम्य विद्यमान है। पत्रों द्वारा विनोद के अन्तर्मन की अनगिनत परतें उधड़ती-खुलती रहती हैं और कथा आगे बढ़ती जाती है। विनोद के पत्र उसकी संवेदना के सहभोक्ता बनते हैं और उसकी मनःस्थितियों का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं।

शारीरिक कमी के कारण असामाजिकता का दंश झेलते किन्नरों की मर्मस्पर्शी पीड़ा को लेखिका ने इस तरह से उकेरा है कि उनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनकी संवेदनशील दृष्टि का स्पर्श पाकर पात्र जैसे मुखर हो उठते हैं। नियति का दंश झेलते विनोद की करुण कथा का और उसके विषादात्मक व्यक्तित्व का प्रभावी विश्लेषण उन्होंने किया है। माँ को लिखे गये पत्रों में अत्यंत संवेदनात्मक गहराई पाठकों को अंत तक बाँधे रखती है। इन पात्रों में समूचे उपन्यास की कथा के अनेक चित्र टँके हुए हैं। विनोद के बहाने से कई किन्नरों की जिंदगियाँ हम देख पा रहे हैं तो अंधे कुँए में साँसें लेती जिंदगियाँ हैं और जिंदगियाँ

साँप-बिच्छू के डंक झेलने के लिए अभिशप्त हैं। २३ जुलाई २०११ को लिखे पहले पत्र से विनोद की पीड़ा मुखर हो उठती है- 'जिस नरक में तूने और पप्पा ने धकेला है मुझे वह एक अँधा कुँआ है जिसमें सिर्फ साँप-बिच्छू रहते हैं।'

इस पत्र में दुःख भरे उलाहने भी हैं तो साथ में घर की कई स्मृतियाँ भी हैं, ऐसी स्मृतियाँ जिनमें देर तक डूबता-उतरता रहता है पाठकों का मन। 'घर से निकाले जाने की पीड़ा और रेशे-रेशे में धड़कता घर'...पाठक जब इस धड़कन को सुनते हैं तो सुनते ही रह जाते हैं।

बा की चिट्ठी मिलने पर पेशाब के बहाने पाखाने में घुस कर चिट्ठी को सैकड़ों बार चूमना, कलम की स्याही में बसी बा के हाथों से पकने वाली स्वादिष्ट सब्जियों की गंध, विनोद के मन को कुछ इस तरह अकुलाहट से भर देती थी कि वह चाहकर भी इन स्मृतियों से बाहर नहीं निकल पाता। बा को लिखे पत्रों में विनोद उसे शपथ भी देता था, 'तुझे मेरी शपथ, तू आँखें न गीली करना, उदास न होना। तेरी उदासी बरदाश्त नहीं होती। फिर मैं जो नहीं हूँ तेरी बगल में गुदगुदी की झड़ी लगाकर हँसा-हँसा कर बेहाल करने के लिए।'

बा से जुड़ी बेशुमार यादों को अक्षरों के बहाने रचता विनोद लगभग हर पत्र में अपनी पीड़ा व्यक्त करता है और यह पीड़ा समूचे लिंग दोषी समुदाय की पीड़ा है जो विनोद के बहाने से हमारे अन्तर्मन को मथती रहती है। 'अंधेरी बंद चमगादड़ों से अटी सुरंग में' घुटते हुए भी उसके सपने नहीं मरते और सपनों को न मरने देना ही चित्रा जी की कलम की सबसे बड़ी ताकत है। पत्र में विनोद अपनी बा से कहता है, "सबने मुझसे मुँह मोड़ लिया, सपनों ने मुँह नहीं फेरा। वे आते हैं तो बा, उनके संग ज्योत्सना भी मेरे पास चली आती है। तेरी चिट्ठी न आने के पीछे क्या मैं इसे ही कारण समझूँ? नाला सोपारा वाले घर के फोन नम्बर पर तुझसे बात होने के बाद, मैं कुछ दुस्साहसी हो आया था।' विनोद लिंग दोषी है तो क्या हुआ? आकर्षण जैसा मनोभाव तो उसके भीतर भी व्याप्त है तभी तो ज्योत्सना उसके सपनों में आती है। वह रात भर अपनी मौत पर रोता रहता था पर फिर भी सपने देखता था।

चित्रा जी के अन्य सशक्त पात्रों की तरह विनोद भी ऐसा ही पात्र है जिसकी पीठ पर किन्नर शब्द लगातार चुभता रहता है, धँसता रहता है। रीढ़ में बरमें की पैनी नोक सा...पर फिर भी अपनी बा की स्मृतियाँ उसे ताकत देती हैं और वह यह कहने की शक्ति जुटा लेता है... 'जननांग विकलांगता बहुत बड़ा दोष है लेकिन इतना बड़ा भी नहीं कि तुम मान लो कि तुम धड़ का मात्र वही निचला हिस्सा भर हो। मस्तिष्क नहीं हो, दिल नहीं हो, धड़कन नहीं हो, आँख नहीं हो। तुम्हारे हाथ-पैर नहीं हैं। हैं, हैं, हैं, सब वैसा ही है, जैसे औरों के हैं। यौन-सुख लेने-देने से वंचित हो तुम, वात्सल्य सुख से नहीं।' चित्रा जी के पात्र भी चित्रा जी की तरह जुझारू होते हैं। ममता कालिया ने उनके बारे में सही कहा है- 'जीवन में चित्रा तमाम मुश्किलों के बीच अपना रास्ता ढूँढती आयी है। इस सफर में उसकी हथेलियाँ छिली हैं। पर वह एक अच्छे खिलाड़ी की तरह अपनी चोटें छिपाकर हँस पड़ती है।' (नया ज्ञानोदय- जुलाई २००७, चित्रा नहीं सुचित्रा- ममता कालिया, पृ. ५०)

विनोद भी रास्ता ढूँढता है। वह हर हाल में इस नारकीय जीवन से निकलना चाहता है। विनोद की चेतना अत्यंत प्रखर है। उसका व्यक्तित्व स्वाभिमान से दीप्त सजग व्यक्तित्व है। वह लिंग दोषी समुदाय को जागरूक करता है और अपने शब्दों से उनमें तेजस्विता भरने की कोशिश करता है कि वे समाज में अपना सम्मानजनक स्थान पाकर अपने सपनों के साथ जी सकें। विनोद हाशिए के नरक में रहकर छटपटाता रहता है। वह किन्नर समुदाय से पृच्छता है-

'बच्चे तुम पैदा नहीं कर सकते मगर पिता नहीं बन सकते, यह किसने नहीं समझने दिया तुम्हें? सुनो-पहचानों इन्हें। पहचानो। अपने श्रम पर जिओ। मनोरंजन की दक्षिणा पर नहीं। हिकारत की दक्षिणा जहर है, जहर। तुम्हें मारने का जहर। तुम्हें समाज से बाहर करने का जहर।'

लिंग दोषी समुदाय के मनोविज्ञान को विनोद पहचानता है। बा को लिखे पत्र में वह कहता है- "यह भीतर से खोखले और डरे हुए लोगों की जमाते हैं। ये चाहते हैं, जिस विशेष परिभाषा से उन्हें मंडित किया गया है, उसी रूप में ही सही, उनकी भी एक संगठित उपस्थिति समाज में बने। उनकी ताकत में इजाफा हो।" चित्रा मुद्गल के

पात्रों का यह वैशिष्ट्य ही उनके कथा-साहित्य का प्राण-तत्त्व है। विनोद अकेले मुक्त होना नहीं चाहता। वह सबके साथ मुक्ति चाहता है।

उपन्यास से गुजरते हुए अनायास ही यह अहसास हो जाता है कि गहरी संवेदनशीलता और विशिष्ट भाषा के कारण लेखिका किन्नर की जीवन-यात्रा के विविध प्रसंगों को सम्प्रेषित करने में पूर्ण सफल रही हैं। बा द्वारा विनोद को लिखे गये पत्रों के कुछ अंश अत्यंत काव्यात्मक हैं पर यह काव्यात्मकता कहीं भी सच्चाइयों के उद्घाटन में बाधक सिद्ध नहीं होती। स्त्री जीवन की नियति और पुरुष सत्ता के सामने उसकी बेबसी के अनगिनत चित्र चित्रा जी ने खींचे हैं। इन चित्रों की जीवंतता ने उपन्यास को और भी सशक्त बनाया है। एक उदाहरण देखिये- 'स्त्री के अंतर्प्रकोष्ठकों का वातावरण औरों की भंगिमाओं और भृकुटियों से निर्मित होता है। संज्ञा विहीन होती है स्त्री। उसके नाम नहीं होते। मुखौटे होते हैं गुहारने और हस्ताक्षर करने भर के लिए।'

चित्रा जी की ये पंक्तियाँ पढ़कर अनायास ही याद आ जाती है प्रसाद की पंक्तियाँ... 'तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधि पत्र लिखना होगा।' और यह संधि पत्र लिखते-लिखते चित्रा जी को यह अनुभूति है 'घर दुःख को गीला किये रहता है। सूखने ही नहीं देता उसे।' स्त्री जीवन की बेबसी और उसकी मनोदशा के अनगिनत बिंब उपन्यास में बिखरे पड़े हैं।

एक ओर विनोद के अन्तर्मन में अपनी बा के लिए अनंत आत्मीयतायें हैं तो दूसरी ओर आत्मीय उलाहने भी हैं। ये उलाहने विनोद और बा के मन के मन को ही निरंतर छीलते ही रहते हैं, पाठकों को भी भीतर तक हिला कर रख देते हैं। बा के आंचल की छाँह से दूर, बहुत दूर विषम परिस्थितियों में जिंदगी से जूझता हुआ विनोद पृच्छता है- 'तेरी कोख, बा तुझसे कभी लड़ती नहीं है कि तूने मेरी बिन्नी दीकरा के साथ ऐसा बर्ताव क्यों किया?' कोख का लड़ना जैसा प्रयोग चित्रा जी के अलावा कोई नहीं कर सकता।

अपनी जिंदगी के हर पल की जानकारी विनोद चिट्ठियों द्वारा माँ को देता है। उसकी और माँ की टूटन हमारी अपनी टूटन बन जाती है।

स्त्री को समाज के सोच के खिलाफ विद्रोह करना होगा। संध्या द्विवेदी को दिए गए एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा है, 'स्त्री ने कभी अपनी कोख को अपनी स्वायत्तता का विषय बनाया ही नहीं। शायद इसकी वजह पितृसत्ता का दबाव है, लेकिन अब समय आ गया है कि जबकि स्त्रियों को अपनी कोख पर हक जताना होगा।' (ओपीनियन पोस्ट)

चित्रा जी ने उपन्यास में वर्णित अनेक प्रसंगों के माध्यम से यह संदेश देना चाहा है कि किन्नर मस्तिष्क में बिल्कुल हमारे जैसे होते हैं, इसलिए हमारी ही तरह इन्हें भी अपना काम चुनने का हक है समाज और कानून का सहारा मिलने पर ये मुख्य धारा में आ सकते हैं और इन्हें मुख्य धारा में आना भी चाहिए। विनोद के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को इस तरह से अभिव्यक्त किया है— 'जरूरत है सोच बदलने की। संवेदनशील बनने की। सोच बदलेगी, तभी जब अभिभावक अपने लिंग दोषी बच्चे को कलंक मानकर किन्नरों के हवाले नहीं करेंगे। उन्हें घरे में नहीं फेंकेंगे। ट्रांसजेंडर के ढाँचे में नहीं ढकेलेंगे।'

विनोद की सोच विवेकपूर्ण है, उसके पास सामाजिक अंतर्विरोध को समझने की शक्ति है और उसके प्रति गहरा आक्रोश है। उसके इसी रूप के कारण विधायक जी को उस पर पूर्ण विश्वास है कि विनोद इरादे का पक्का है और अगर डट गया तो किन्नरों का वोट बैंक उनके पक्ष में होगा। इसी संदर्भ में तिवारी जी से उकसाते हुए कहते हैं, 'दलितों के लिए अंबेडकर पैदा हो सकते हैं तो किन्नरों के लिए विनोद क्यों नहीं पैदा हो सकता।'

कचोटने वाला राजनीतिक यथार्थ इस उपन्यास में भी बखूबी उभारा गया है। विधायक द्वारा विनोद को मोहरा बनाये जाने की कोशिश असफल सिद्ध होती है। विनोद किसी भी कीमत पर मूल्यों से समझौता नहीं करता। विनोद का मानना है कि आरक्षण निदान नहीं है। वह कहता है कि आत्म चेतना बुनियादी अधिकारों की मांग का पहला पायदान है। उसका कहना है कि किन्नर समुदाय को कंडीशंड आचरण और हावभावों का सुर्खी न बनाकर उसे मानवीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाये और उनकी पीड़ा व यातना को महसूस किया जाये। विनोद को यह अच्छी तरह से पता है कि समाज जननांग दोषियों की मुक्ति के रास्ते

नहीं तलाशेगा। वह यह भी जानता है कि इक्कीसवीं सदी में सदियों से पुराने अंधविश्वास से मुक्त होने के लिए समाज तैयार नहीं है, पर विनोद के भीतर गहरी छटपटाहट और संवेदना है। विधायक जी के लाख कहने के बावजूद वह किन्नरों के आरक्षण का मुद्दा न उठाकर उनके स्वाभिमान से जीने का मुद्दा उठाता है। विधायक जी के भतीजे व उसके दोस्तों द्वारा पूनम जोशी के प्रति नशुंस कामुकता रोंगटे खड़े कर देने वाली है। यहाँ अमानवीयता का चरम है, जिसमें कहीं भी कल्पना नहीं है। विधायक जी की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है कि हिजड़ा समुदाय का विकास हो। आजाद भारत में अछूतों से भी बदतर स्थिति उनकी संवेदना को आहत नहीं करती। विनोद का प्रयोग केवल वोट बैंक बढ़ाने के लिए किया जाता है लेकिन जब विधायक जी को लगता है कि वह उनके लिए चुनौती बन रहा है तो सांताक्रूज एयरपोर्ट जाते समय राजनीतिक दरिंदों द्वारा उसकी हत्या करा दी जाती है। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में यह खबर इस तरह छपती है— 'मुम्बई २७ दिसम्बर। कुर्ला, कालीना कॉम्पलेक्स से लगी हुई मिठी नदी में पुलिस ने एक किन्नर की फूली लाश बरामद की है। शव की शिनाख्त नहीं हो पाई है! सिर बुरी तरह कुचला हुआ। पुलिस इस वारदात को आपसी रंजिश का नतीजा मान रही है। उसका अनुमान है, हत्या का संबंध अंडरवर्ल्ड में इन दिनों में सक्रिय 'मुन्ना भाई' किन्नर गिरोह से हो सकता है।'

पूरा उपन्यास किन्नरों के नारकीय जीवन और उनकी अभिशप्त नियति से साक्षात्कार कराता है। मुक्ति का रास्ता तलाशता विनोद समाज की मानसिकता बदलने की कोशिश में निरंतर जूझता रहता है। २१ दिसम्बर २००१ को लिखे पत्र में वह कहता है, 'सड़ी-गली मान्यताओं को फाड़कर फेंक देना होगा। जला देना होगा। भस्म कर देना होगा। दुस्साहस करना होगा। मात्र साहस भर पर्याप्त नहीं। जननांग दोषी औलाद से क्षमा मांगते हुए। सार्वजनिक रूप से घोषित करते हुए। मेरे बेटे, मेरी बेटी, जहाँ भी हो, जैसे भी हो, अपने घर लौट आओ। घर तुम्हारा इंतजार कर रहा है। हम अपनी अमानवीय भूल का परिष्कार करना चाहते हैं। अपने बच्चे की घर वापसी चाहते हैं।'

'ससम्मान घर वापसी के लिए वह सरकार से अपील

करता है, 'मैं सरकार से अपील करता हूँ इस सभागार में, लिंग दोषी बिरादरी की घर वापसी को वह सुनिश्चित करे। कानून बनाए। बाध्य करे अभिभावकों को। घर से बहिष्कृत बच्चों को वह जिस भी उम्र के पड़ाव में हों, अपने साथ रखें। प्रचार करें, अखबारों, चैनलों और आकाशवाणी पर विज्ञापनों के माध्यम से। उनकी चेतना को झकझोरें, ताकि भविष्य में कोई माता-पिता लोकापवाद के भय से लिंगदोषी औलाद को दर-दर की ठोंकें खाने के लिए घूरे पर न फेंके।'

संघर्ष भरी जिंदगी और अँधेरे में डूबे होने के बावजूद नारकीय जिंदगी से मुक्ति का स्वप्न देखने वाली चित्रा जी किन्नरों के लिए आरक्षण को निदान नहीं मानती। वे चाहती हैं कि किन्नरों की मानसिक और दैहिक पीड़ा पर गौर किया जाये। बिना लिंग या अविकसित लिंग के प्राणी मनुष्य नहीं है, यह स्थापना आँख मूँद कर स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वे चाहती हैं कि किन्नर बिरादरी का संघर्ष उन्हें मनुष्य माने जाने का संघर्ष है। वे निर्भीकता से इस संवेदनशील विषय पर अपना पक्ष प्रस्तुत करती हैं। लेखिका की सृजनात्मक आभा और दृष्टि सम्पन्नता ने कृति को जो वैशिष्ट्य प्रदान किया है, वह निःसंदेह अद्भुत है। एक तरह से उन्होंने मानवता के उत्कर्ष पर बल दिया है। अन्य पात्रों की तरह इस उपन्यास के पात्र भी यथार्थ जीवन से लिए गये हैं। इसलिए वे प्रामाणिक भी हैं और उनकी पीड़ा हमारी अपनी पीड़ा है। अलग शरीरिक संरचना का दंश झेलता विनोद उर्फ बिन्नी जिन मर्मन्तक स्मृतियों के गलियारे से गुजरता है और पत्रों में अपनी बा के लिए आत्मीय ऊष्मा से भर उठता है और उसकी चिंताओं से जुड़ाव महसूस करता है। नाभि-नाल का यह अटूट संबंध चित्रा जी ने गहन संवेदनात्मक रूप से चित्रित किया है।

व्यवस्था के क्रूर और अमानवीय चरित्र से मुठभेड़

करता विनोद अंत में भले ही राजनैतिक ताकतों द्वारा मरवा दिया जाता है पर फिर भी कहीं न कहीं उसकी अपील अँधेरे में रोशनी की किरण बन कर उभरती है। माँ वंदना बेन का माफीनामा अखबार में छपता है और वह अपने किन्नर बेटे से घर वापसी की अपील करती हैं और अक्षम्य भूल के लिए क्षमा मांगती हुई रजिस्टर्ड वसीयत में संपत्ति का अधिकार भी बराबर से देती हैं। राजनीति का घिनौना चेहरा पाठकों को स्तब्ध कर डालता है। २१ दिसम्बर २०११ को लिखे पत्र में विनोद ससम्मान किन्नरों की घर वापसी की अपील करता है और २७ दिसम्बर २०११ यानि कि पाँच दिन बाद ही राजनैतिक ताकतों द्वारा उसकी हत्या करवा दी जाती है।

चित्रा मुद्गल इस उपन्यास द्वारा परिवार व समाज को अपनी गली-सड़ी सोच से तार्किक दृष्टि द्वारा बाहर लाने में पूरी तरह सफल रही हैं। जननांग दोषियों को मनुष्य माने जाने के संघर्ष के लिए उन्होंने जो सृजनात्मक पहल की है वह प्रशंसनीय है उनकी कलम संवेदनाओं के इस हासोन्मुख समय में संवेदना जगाने की कोशिश करती है। उम्मीद है यह उपन्यास जननांग दोषियों को दैहिक और मानसिक प्रताड़ना से कुछ हद तक मुक्ति अवश्य दिलायेगा। भ्रष्ट व्यवस्था, स्वार्थपूर्ण राजनीति, सड़ी-गली रूढ़ियों और विसंगतियों पर उनकी संवेदनशील प्रखर लेखनी का प्रहार निःसंदेह स्तुत्य है।

समीक्षित कृति: नाला सोपारा- पोस्ट बॉक्स न. २०३

लेखक: चित्रा मुद्गल

समीक्षक: सविता मिश्र

प्रकाशक: सामयिक पेपर बैक्स, दरियागंज,

नई दिल्ली-११०००२,

मूल्य: २००/- रुपये मात्र

संपर्क:

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, आर.बी.डी. पी. जी. कॉलेज,

बिजनौर-२४६७०१, मो. ९७१९६५९३१७, ई-मेल: drsavitamishra64@gmail.com

अहुरंगी अंखेदनाओं का संग्रह: 'कौन तार से बीनी चढ़िया'

पवन चौहान

पिछले दिनों प्रसिद्ध कहानीकार अंजना वर्मा जी का कहानी संग्रह “कौन तार से बीनी चढ़िया” पढ़ने का मौका मिला। कहानीकार ने कहानियों की पृष्ठभूमि को इस कदर रचा है कि पाठक अपने आप को इन कहानियों के अंत तक पहुंचने से रोक नहीं सकता। बहुत ही सरल शब्दों में बुनी गई ये कहानियाँ हमारे समाज के वर्तमान हालात और उसके बदलते स्वरूप को बखूबी प्रस्तुत करती हैं। कहानीकार की कथन शैली बहुत ही समर्थ है और कथा के चरित्रों के साथ पूरा न्याय करती है। संवेदनाओं को गहराई से छूते इस संग्रह में कुल १३ कहानियाँ हैं।

संग्रह की पहली कहानी “कौन तार से बीनी चढ़िया” है। कहानी थर्ड जेंडर की व्यथा कथा, उनके अपने परिवार द्वारा उनके तिरस्कार पर बुनी एक सुंदर कहानी है। सुन्दरी और कुसुम की आपस की बातचीत उनके परिवार के उनके प्रति रवैये और उनके दर्द को बताती है। उनका अपना परिवार है, पर परिवार उन दोनों को त्याग चुका है। दोनों अपने स्त्री-पुरुष के बीच होने का गम मनाती हैं और एक-दूसरे को कुछ इस तरह तसल्ली भी देती हैं। कुसुम बोलती है “जाने दे सुन्दरी। हम सबको उ सब नहीं सोचना चाहिए। हमको भी तो उसी ने बनाया जिसने मरद-मानुष बनाया, जनी-जात बनाया। काहे सोच करैं हम ? पेड़ में भी देख तो सब पेड़ों में फूल-बीज कहाँ होते हैं ? हम भी हैं उसी तरह। लेकिन हैं तो उसी के हाथ के बनाए। वही रामजी हमें भी बनाए हैं।” सुन्दरी बताती है कि परिवार वाले उसे अपने साथ रखने से किस कदर घबराते हैं। कहानी हमारे समाज की अनखुली परतों को उधेड़ती है। सुन्दरी की माँ का उसके साथ घर में न मिलकर मंदिर में मिलना थर्ड जेंडर के प्रति समाज और परिवार के नजरिये को समझा देता है।

संग्रह की दूसरी कहानी ‘यहां-वहां हर कहीं’ बुजुर्गों के अकेलेपन की दास्तां है। कहानी में मुख्य पात्र रवींद्र बाबू, उनका बेटा संजीव और बहू सुरुचि है। वे सब रवींद्र बाबू का पूरा ख्याल रखते हैं। लेकिन बहू-बेटे के ऑफिस चले जाने के बाद एकाकी की पीड़ा से रवींद्र बाबू त्रस्त हो उठते हैं। उन्हें अपने मनोभावों और दुःख-सुख को अभिव्यक्त करने का प्लेटफार्म नहीं मिल पाता। वे इस अकेलेपन में घुटते चले जाते हैं। उन्हें महसूस होता है कि उनके चारों ओर के संवाद- सूत्र टूट चुके हैं। अंत में उन्हें अपना छोटा-सा शहर याद आने लगता है और वे अपने शहर लौटने के लिए बेचैन हो उठते हैं।

“पेड़ का तबादला” शीर्षक कहानी एक वन में उगे पेड़ को उखाड़कर उसे दूसरे स्थान में रोपे जाने के कारण उसके भीतर उमड़ी व्यथा को दर्शाती है। कहानीकार ने एक पेड़ की वेदना को साकार करते हुए मनुष्य की संवेदना को भी झकझोरा है। मनुष्य की स्वार्थपरता को उकेरती, कई प्रश्नों को लिए यह कहानी हमें प्रकृति की दशा-दिशा के करीब पहुंचा देती है। ‘लालबती की आवाज’ एक वेश्या के जीवन और

उसकी विडंबनाओं को लेकर बुनी गई कहानी है। यह उस मजबूर माँ की दर्द भरी दास्ताँ है जो अपने बच्चों को उनके पिता का नाम ताउम्र नहीं बता पाती। शबनम खातून और उसकी माँ की कश्मकश और उनके संघर्ष की कथा सुनाती यह कहानी नारी जीवन के अंधेरे तहखानों की कहानी है।

‘सोयी झील में पत्थर’ कहानी पति-पत्नी के रिश्तों की कड़वाहट को अपने कथानक में समाए हुई है। लता को उसका पति आलोक उसकी कोई गलती के बिना त्याग देता है और किसी और के साथ रहने लग जाता है। लता दर-दर भटकने के लिए अकेली छोड़ दी जाती है। यह वह समय था जब वह अपना मायका छोड़कर पति के घर में रहने आई थी। लता को उस वक्त सबसे ज्यादा आलोक के सहारे की आवश्यकता थी। कहानी पुरुष प्रधानता के रौब और उसके स्वार्थ को बखूबी दर्शाती है। परंतु जब आलोक की प्रेमिका की मृत्यु हो जाती है तो उसे अपनी जिंदगी से ठुकराई गई अपनी पत्नी लता याद आती है। उम्र के इस अंतिम से पड़ाव में वह उसके पास बसने चला आता है। आलोक का दोबारा अपनी जिंदगी में आना लता को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी जिंदगी की शांत झील में किसी ने एक बड़ा-सा पत्थर गिरा दिया हो। आलोक के आने से लता को अपने सारे गम एक-एक कर स्मरण हो आते हैं। यह कहानी अपनी भाषा शैली और कथोपकथन के साथ अपने उद्देश्य को पूरा करती है।

अगली कहानी ‘नीला शून्य’ सूखे कुएं और उसमें गिरने वाले व्यक्ति के मनोभावों का सुन्दर विश्लेषण है। कहानी ‘अज्ञातवास’ गोहाटी से आए एक युवक राजकुमार की कहानी है। राजकुमार की गाड़ी की ठोकर से एक व्यक्ति की मौत हो जाती है जबकि गलती उसकी नहीं होती। वह घर से दूर मैडम नीहारिका के यहाँ एक ड्राइवर बनकर अज्ञातवास- सा जीवन जी रहा होता है। राजकुमार बेहद शर्मिला और कम बात करने वाला युवक है। राजकुमार के अतीत और वर्तमान को लेकर बुनी कहानी की कथा शैली बहुत रोचक है। जब राजकुमार का रहस्य खुलता है तो पता चलता है कि वह गरीब नहीं बल्कि खूब पैसे वाला आदमी है। बस यहाँ गुमनाम रहकर वह अपने लिए न्याय का इंतजार करता है। हालातों की मार व्यक्ति को कहां से

कहां ले जा सकती है कहानी जब राजकुमार का केस सुलझ जाता है और वह अपने घर जाने की तैयारी करने लगता है तो उस खुशी का, उसके अज्ञातवास के खत्म होने का जिक्र कथा लेखिका ने अपनी बेहतरीन भाषा शैली के द्वारा बहुत ही सुन्दर तरीके से किया है। यह बेहद ही रोचक कहानी है।

‘दुर्घटना’ कहानी उस भयावह समय को व्यक्त करती है जब किसी दुर्घटना के समय मार-काट, गुंडागर्दी और लूटखसोट जैसे नकारात्मक व हिंसात्मक पहलू हमारे समक्ष आ खड़े होते हैं। कोई दुर्घटना जहां मारपीट और झगड़े कारण बनती है वहीं ऐसी स्थिति में गुंडागर्दी और लूटखसोट अपने विकराल रूप में हमारे समक्ष खड़ी हो जाती है। ऐसे माहौल का फायदा उठाकर कुछ अपनी स्वार्थ सिद्धि में लिप्त हो जाते हैं। वे लोग ऐसे ही पलों की तलाश में रहते हैं। अपने कहन में खरी उतरती यह कहानी आज की दिशाहीन होती हुई युवा पीढ़ी का सजीव चित्र है। ऐसे वक्त में गरीब का ही सबसे ज्यादा नुकसान होता है। ‘जगमगाती रात’ मनोज और कामिनी शुक्ला की मैरिज एनीवर्सरी का पूरा चित्रण है जिसमें कामिनी की ढेरों आकांक्षाएँ हैं। परंतु इस रजत जयंती समारोह में भी कामिनी के सारे अरमान एक बार फिर से धराशायी होकर रह जाते हैं जब एक कीमती तोहफा लेकर मनोज आज के दिन भी अपनी प्रेमिका के मोहपाश में बंधा अपने कदमों को उसके घर की ओर मोड़ लेता है। कामिनी बिस्तर पर पड़ी जड़-सी होकर रह जाती है। सच्चाई आज भी उसको अपना कठोर रूप दिखाने से बाज नहीं आती। बहुत थोड़े शब्दों में रची गई यह कहानी अपनी संवेदनाओं से पाठक को गहरे तक छूती है।

‘रेलवे क्रॉसिंग’ कहानी रेलवे क्रॉसिंग के उस क्षेत्र का पूरा खाका पाठक के सामने खींचती है जहाँ घंटों क्रॉसिंग के खुलने के इंतजार में खड़े रहने के बाद जब फाटक खुलते हैं और जिस गति से सब वाहन अपने गंतव्य की ओर प्रस्थान करते हैं। फिर सभी की इस क्रॉसिंग को क्रॉस करने की जद्दोजहद में सुस्ताने बैठे बहुत से यात्रियों के जूते सड़क पर ही छुड़वा देती है। छूट गए जूते सबकी बेसब्री को बखूबी समझा देते हैं। रेलवे क्रॉसिंग के क्षेत्र का वर्णन

कहानीकार ने बहुत ही सुंदर तरीके और रोचकता के साथ हर पहलू को छुते हुए खूब बारीकी के साथ किया है। रेलवे क्रॉसिंग की हालत की बात कहानीकार कुछ इस तरह से करती हैं- 'रास्ते में वही क्रॉसिंग पड़ी थी जो अभी भी बंद थी। वर्षों बीतने के बाद भी उस जगह पर कुछ नहीं बदला था। न ही सड़क में कोई परिवर्तन हुआ था, न ही गुमटी ही आधुनिक रूप ले सकी थी। अभी भी वही लोहे का मोटा डण्डा था जो कभी सोकर तो कभी खड़ा होकर अपनी ड्यूटी बजा देता था। अभी वह सोया पड़ा था अपनी ड्यूटी बजाता हुआ।'

इस कहानी में रहस्य का स्पर्श भी है कि क्यों सबके जूते वहीं पर छूट जाते हैं ?

संग्रह की अगली कहानी 'हॉर्स रेस' परिवार की खुशियों को तरजीह देने की बात कहती हुई बहुत संवेदनशील कहानी है। रुपये कमाने की होड़ में कई बार हम अपने परिवार की खुशियों उनके जज्बातों से खेल बैठते हैं और यह दौड़ परिवार के बिखराव को जन्म देती है। कहानी का पात्र शिखर इसी हॉर्स रेस के कड़वे अनुभवों को अपने स्टाफ से साझा करते हुए उन्हें ऐसी हॉर्स रेस से सावधान करता है। कहानी 'अनारकली' एक अकेली विधवा दीपा के दर्द और उसके संघर्ष की दास्तां है जिसकी खुशियों पर ग्रहण उसके अपनों द्वारा ही लगाया जाता है। विधवा की छोटी-छोटी खुशियों का गला घोटते और उसके जीवन में कड़वाहट घोलते उसके अपने लोगों की कुटिलताओं से कहानी यथार्थ का दस्तावेज बन जाती है तथा बेहद मार्मिक भी। एक बानगी देखिए- "दीपा की भाभी आज किसी तरह उसके दिल को अपने व्यंग्य-बाणों से बेध देना चाहती थी। यह सुनते ही हाथ नचाकर बोल उठी, "और लो! कहती है जैसे पहनती थी, पहनती हूँ! अरे...ये बात तुम्हारी समझ में नहीं आती है क्या कि अब नहीं पहनना है तुम्हें वैसे...नहीं सजना है तुमको पहले की तरह...। समझती ही नहीं है यह तो! अगर पहनना ही

चाहती हो तो पहनो ननद रानी। पर जरा पता लगाना कि क्या कहते हैं सब तुम्हारे बारे में...।' यह कहकर सुनीता मुस्कुराने लगी।"

संग्रह की अंतिम कहानी है 'नंदन पार्क', गरीब और अमीर के पारंपरिक भेदभाव की दास्तां। गरीब को कोई अमीर पसंद नहीं करता जबकि उनका सारा काम गरीब ही करते हैं। उनका स्वार्थ अपने कार्य तक ही सिमट जाता है। जिस घर को गरीब मिसत्री, पेंटर या अन्य कोई दिहाड़ीदार तैयार करता है तो घर के पूरा होते ही उस गरीब मिसत्री का प्रवेश ही वर्जित हो जाता है। गरीब आदमी को केन्द्र में रखकर रची गई यह कहानी हमारे समाज की हकीकत को बयानती है। अमीरों को अपने घर के सामने गरीब बच्चों का खेलना उन्हें अपनी हैसियत, अपनी शानो-शौकत के खिलाफ लगता है। गरीब बच्चों को अपने मकानों के सामने खेलने से रोकने के लिए कुछ अमीर लोग नेता से मिलकर यहां पार्क की योजना बनवाते हैं और इसे पर्यावरण को शुद्ध करने का नाम दे दिया जाता है। कहानी हमारे तथाकथित उच्च वर्ग की निम्न व कुटिल सोच को सामने रखती है।

अंजना वर्मा का यह संग्रह पारिवारिक एवं वैयक्तिक विडंबनाओं, सामाजिक यथार्थ व पर्यावरण की चिंताओं का ताना-बाना है जो व्यक्ति को अपने भीतर की नकारात्मकता पर झांकने के लिए मजबूर कर देता है। समाज के विभिन्न पक्षों को छूता यह संग्रह अपनी कथा शैली, संवाद और चरित्र-चित्रण की बेहतर बुनावट के कारण पाठकों को अपने करीब ले आता है। अंजना वर्मा जी को इस बेहतरीन कहानी संग्रह हेतु साधुवाद!

समीक्षित पुस्तक: कौन तार से बीनी चदरिया

(कथा संग्रह)

समीक्षक: पवन चौहान

लेखिका: अंजना वर्मा

प्रकाशक: अनुज्ञा बुक्स, १/१०२०६, लेन नं.- १, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली - ३२

संपर्क: गांव व डा० महादेव, तहसील -सुन्दर नगर, जिला- मण्डी

(हि० प्र०)- १७५०१८, मो. ०९४१८५ ८२२४२

‘मुक्तांचल’ का जनवरी-मार्च २०१८ अंक प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। संपादकीय में आपका यह कथन कि “साहित्य से दूरी हमें जहाँ विचार और भावना से अलग करेगी, वही सभ्यता संस्कृति और संवेदना के परिसर से हमेशा के लिए बाहर धकेल देगी” हमें पुनः पुनः चिंतन करने के लिए बाध्य करता है। संस्कृति को केन्द्र में रखकर लिखा गया आपका संपादकीय वर्तमान समय की विध्वंसक एवं परस्पर बढ़ती असहिष्णुता पर तीखा प्रहार ही नहीं करता बल्कि साहित्य में उसका निदान ढूँढ़ने के लिए सबका आह्वान भी करता है। अस्तु,

सारगर्भित संपादकीय के पश्चात् स्वभावतः मेरा ध्यान इस अंक के प्रथम ऑलेख हिंदी साहित्य के सुधी समीक्षक अजय तिवारी लिखित ‘वर्तमान का कोण साहित्य प्रक्रिया के केन्द्र में होता है’ पर गया। इस आलेख में तिवारी जी ने भूमण्डलीकरण के आगमन के पीछे संचार और विज्ञान की प्रक्रिया को स्वीकार किया है, न कि मात्र बाजार की प्रक्रिया को। भूमण्डलीकरण के दौर में लिखे गये उपन्यासों पर अजय तिवारी की बेबाक समीक्षा सचमुच आकर्षित करती है। पर वर्तमान समय में वामपंथ से संबंधित उनकी टिप्पणी थोड़ा ठहरकर सोचने के लिए मजबूर करती है। वे लिखते हैं- “एक बात मैं और कहना चाहता हूँ। मेरे कुछ मित्रों को आपत्ति भी हो सकती है कि विचारधारा की जो जकड़बंदी थी उसका टूटना एक मायने में अच्छा हुआ। विचारधारा की जकड़बंदी के कारण, होता यह था कि जो सांगठनिक रणनीतियाँ थीं, प्रगतिशील या वामपंथी लेखक संगठनों की, उसके कारण बहुत खराब रचनाएँ बड़ी चर्चित हो जाती थीं। चाक, उस चिड़िया का नाम, नमो अंधकारम इनसे खराब रचनाओं की कल्पना नहीं हो सकती और ये रचनाएँ बड़ी चर्चित हो रही हैं। दूसरी ओर, बहुत अच्छी रचनाएँ चर्चा से बाहर रहती थीं।” अजय तिवारी की इस उद्घोषणा से अनेक सवाल उठते हैं। पहली बात तो यह कि उन्हें यह आशंका है कि उनके द्वारा उठाये गये सवालों पर उनके वामपंथी मित्र नाराज हो सकते हैं, आपत्ति कर सकते हैं, पर क्या इसी प्रकार का भय अथवा आशंका अन्य वामपंथी लेखकों में नहीं रही होगी? क्या आशंका की नींव पर ही अब तक की वामपंथी विचारधारा की अट्टालिका खड़ी रही है? क्या इसी आशंका के बलबूते वामपंथ को साहित्य की मुख्यधारा समझा जाता रहा है? वामपंथी लेखक संगठनों ने जानबूझकर खराब रचनाओं को उत्कृष्ट कहकर उसके लेखकों को महानता के शिखर पर क्यों बैठा दिया? क्या इससे साहित्यिक मर्यादा एवं गरिमा आहत नहीं हुई है? आदि अनेक प्रश्न स्वाभाविक रूप से किसी भी पाठक को उद्बलित कर सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि अजय तिवारी ही पहली बार इस सत्यता का उद्घोष कर रहे हैं, राजनीतिक क्षेत्र से प्रसिद्ध वामपंथी चिंतक एम.एन. राय, ज्योति बसु आदि ने वामपंथ की कमियों को रेखांकित किया और हिंदी साहित्य में नागार्जुन, मुक्तिबोध, दिनकर, शमशेर और यहाँ तक कि नामवर सिंह ने भी वामपंथी विचारधारा पर समय-समय पर तीखी प्रतिक्रिया दी है। पर असल बात यह है कि इन चिंतकों/लेखकों में से कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसने भारत की सामाजिक संरचना का ध्यान रखते हुए किसी ऐसे वामपंथ की नींव डालने का प्रयत्न किया हो जिससे सर्वहारा वर्ग को एक नई दिशा मिल सके। सर्वहारा अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर सके। वामपंथ के सारे सिद्धांत नारेबाजी में आकर इस प्रकार विलीन हो गये, अथवा बौद्धिकता के नाम पर गुटबाजी इस प्रकार वहाँ पलने लगी कि उससे मुक्त होना स्वयं वामपंथियों के लिए दुस्कर सा हो गया। इसे ही अजय तिवारी ‘सांगठनिक जकड़बंदी’ का नाम देते हैं।

ऐसी बात नहीं है कि मार्क्सवाद अथवा वामपंथ मर गया है। जब तक संसार में गरीबी, भूखमरी रहेगी, शोषण का क्रम चलता रहेगा तब तक मार्क्सवाद का सिद्धांत जीवित रहेगा, पर वह सिद्धांत बदलते परिवेश एवं देशकाल के अनुसार अपना नया स्वरूप गढ़ते चला जाएगा। दुख की बात है कि मार्क्सवादी चिंतक डायनासोर की तरह खुद को बदलते परिवेश के अनुसार नहीं ढालते परिणामतः उन्हें अपने ही मुख से अपने अवसान का गीत लिखना पड़ रहा है। बहरहाल, आशा है तिवारी जी की इस स्पष्ट स्वीकृति से अन्य वामपंथी लेखकों का अवश्य दिशा-निर्देश होगा।

आशा सिंह का लिखा आलेख 'सामाजिक बदलाव के अंतःसूत्रों की पड़ताल बरास्ता नागार्जुन' अप्रासंगिक तथ्यों तथा अनर्गल तर्कों से भरा पड़ा है। वे लिखती हैं- "इन चार वर्णों का निर्धारण मनु ने ऐसे ही नहीं किया बल्कि बाकायदा ब्रह्मा के शरीर से इनके पैदा होने की बात कही जो किसी भी तरह से वैज्ञानिक तो था ही नहीं, साथ ही विश्वास करने योग्य भी नहीं है।" आशा सिंह को शायद ज्ञात नहीं है कि चार वर्णों का निर्धारण मनु ने नहीं किया था। सनातन धर्म के प्राचीनतम ग्रंथ यजुर्वेद में एवं तत्पश्चात् श्रीमद्भागवतगीता में वर्ण विभाजन का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में लिखा है-

'ब्रह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

अरु तदस्य यद्वैश्यः पद्माभ्यां शूद्रो अजायत॥ (यजुर्वेद ३१/११)

इस मंत्र का अभिधेयार्थ हो ही नहीं सकता। इसके लक्ष्यार्थ को जो नहीं समझ सकता उसे इसका हिंदी अनुवाद करने का दुःसाहस नहीं करना चाहिए। परंतु लेखिका लिखती हैं- "समाज को अलग-अलग वर्णों में बांटना और उनके लिए कार्य निर्धारित करने का घटिया श्रेय 'मनुस्मृति' के रचयिता मनु को दिया जाता है।" सोचने वाली बात है, मनुस्मृति पढ़े बिना उसके रचनाकार को घटिया कह देना कितना बड़ा भाषिक एवं मानसिक अपराध है? मैं ऐसा लिख रहा हूँ क्योंकि संदर्भ सूची में लेखिका ने मनुस्मृति का नाम नहीं दिया है और इससे साफ जाहिर होता है कि वे मनुस्मृति पढ़ी नहीं हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि मनु 'मनुस्मृति' के रचनाकार नहीं हैं वे स्मृतिकार हैं। मनु ने वेद एवं वेदांत में उद्धृत वर्ण एवं जातिगत व्यवस्था का उल्लेख मात्र कर दिया है। वर्ण एवं जाति व्यवस्था धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना है। प्राचीन यूनान में भी यही व्यवस्था थोड़े परिवर्तन के साथ परिवर्तन रही। सामाजिक संरचना को सुचारू रूप से चलाने के लिए वर्ण एवं तत्पश्चात् जाति व्यवस्था की नींव पड़ी। अर्थशास्त्र की भाषा में इसे श्रम विभाजन कहा जाता है। इस वर्ण एवं जाति व्यवस्था ने हमें रोजगार के ऐसे कौशल दिये जिससे आज तक इस बेरोजगारी के युग में भी हम जातिगत रोजगार कौशल के बल पर आसानी से अपनी जीविका चला लेते हैं। यदि मान भी लिया जाय कि आज के संदर्भ में जाति व्यवस्था ठीक नहीं है, तो इसे मानने की आवश्यकता क्या है? यदि एक मनु (आप के अनुसार) वर्ण एवं जाति व्यवस्था की परंपरा चला सकता है तो आज उनके विरोध में खड़े करोड़ों लोग उस परंपरा का समूल नाश क्यों नहीं कर देते हैं? सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुस्मृति के सिद्धांत कभी देश के कानून नहीं बने, परंतु इसी देश में धर्म आधारित कानून भी बने हैं पर उसके विरोध के लिए कोई मुंह नहीं खोलता। खासकर लेखकों में इस तरह का वैचारिक दोहरापन नहीं होना चाहिए। विनम्रतापूर्वक एक बात उद्धृत कर दूँ कि 'मनुस्मृति' के प्रथम अध्याय में सृष्टि निरूपण का विवरण देते हुए मनु कहते हैं-

"इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।

विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन॥ (अध्याय १, श्लोक ५८)

(अर्थात् इस शास्त्र को बनाकर ब्रह्मा ने पहले मुझे विधिपूर्वक बताया इसके बाद मैंने ही मरीचि आदि महर्षियों को बताया।)

उपर्युक्त स्वीकारोक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि मनु के पहले से वर्ण, जाति, धर्म, संस्कार आदि जितनी चीजें मनुस्मृति में समाहित हैं, प्रचलित रही थीं।

ये व्यवस्थाएँ किसी को प्रताड़ित करने के उद्देश्य से नहीं बनी थीं, इसके निर्माण के पीछे जो कारण थे उसे मनु इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं-

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहुरुपादतः।

ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत॥ (अध्याय १, श्लोक ३१)

अर्थात् संसार की वृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की वर्णव्यवस्था कायम की गयी। यहाँ भावना लोकमंगल की रही है। सब अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने कर्म में प्रवृत्त होते थे। क्या आज वर्ग विभाजन योग्यता के अनुसार नहीं है? क्या वर्ग-विभाजन के बिना समाज के कार्य सुचारू रूप से संपन्न हो पायेंगे? क्या बहुत चाहकर भी मार्क्सवादी वर्ग विभाजन का अंत कर पाये? नहीं, इसका मूल कारण यह है कि वे व्यावहारिक धरातल पर उतरकर इन सिद्धांतों की

निष्पक्ष समीक्षा भी कर ही नहीं पाये। अपने विचारों को समाहार करते हुए मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि सनातन संस्कृति का संरचनात्मक वैभव सदियों से विवाद का विषय रहा है पर उसका यह विवादास्पद स्वरूप उसके अतिशय व्यापकता के कारण ही है। सनातन संस्कृति अपनी आकाशीय व्यापकता एवं महासागरीय गंभीरता के कारण उन लोगों के पल्ले नहीं पड़ती तो इसके किनारे किनारे चक्कर काटकर ज्ञानी बन जाने का अहं पाले रखते हैं। संस्कृत का गहन अध्ययन, व्याकरण की सूक्ष्म पकड़, भारतीय दर्शन का सम्यक् ज्ञान एवं परिष्कृत मानसिकता के बिना सनातन संस्कृति का विवेकवान अध्येता बनने का जो दावा करता है उसके जैसा दयनीय व्यक्ति दूसरा नहीं हो सकता।

बहरहाल, प्रो. सुधा जितेंद्र का आलेख 'अद्यतन भाषा विज्ञानी प्रो. शीतांशु की भाषा विज्ञान को देन' इस अंक की महतम उपलब्धि है। विनोद साव, राजेन्द्र परदेशी, तरसेम गुजराल, रणजीत कुमार सिन्हा, नेहा साव, विनय कुमार मिश्र, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. श्रीनारायण पांडेय, विमल वर्मा तथा गवेषणा में आनंद श्रीवास्तव के ऑलेख उच्च स्तरीय एवं निर्विवाद रूप से ज्ञानवर्द्धक है। 'अग्निबीज' उपन्यास की सारगर्भित व्याख्यात्मक प्रस्तुति अमर कुमार चौधरी ने की है। प्रकृति को साथ लेकर चलती मनीषा झा की कविताएँ काफी संदेशपरक हैं। उनकी कविताओं में व्यंग्य भी है, बेचैनी भी; तर्क भी है, यथास्थिति भी। पर शब्द शब्द पर चुस्ती एवं युक्ति की लगी मुहर उनमें स्वाभिमान का एक शाश्वत अहसास रचती है। रामदरश मिश्र की कविता 'टेलर', 'धूप और मैं', 'बल्ला और कलम', समकालीन सामाजिक बुनावट के विभिन्न स्तरों का अर्थ खोलती हैं। अन्य कविताएँ भी काफी उत्कृष्ट हैं। 'मानवीय जिजीविषा के प्रतीक हैं मेरे गीत' - शीर्षक से अनूप अशेष ने अपनी कविताओं पर खासकर अपनी भाषा के संबंध में जो कुछ भी कहा है, वह काफी सच है। 'सरगम के सुर साधे' स्तंभ साहित्य का भावी इतिहास रचता प्रतीत होता है। कहानियों में 'हर्ष या अर्श', अममाँ कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से प्रभावशाली है। बधाई।

हरeram पाठक, डी. लिट्., तिनसुकिया, असम, मो. ९४३५१३७६२४

‘मुक्तांचल’ प्राप्त स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सरणी, कोलकाता- 700007

पूजा बुक हाउस : 454, रवीन्द्र सरणी, नियर बी.के. पॉल, कोलकाता- 700005

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

राजकमल प्रकाशन : शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-१७

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन: 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल: आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नानगरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

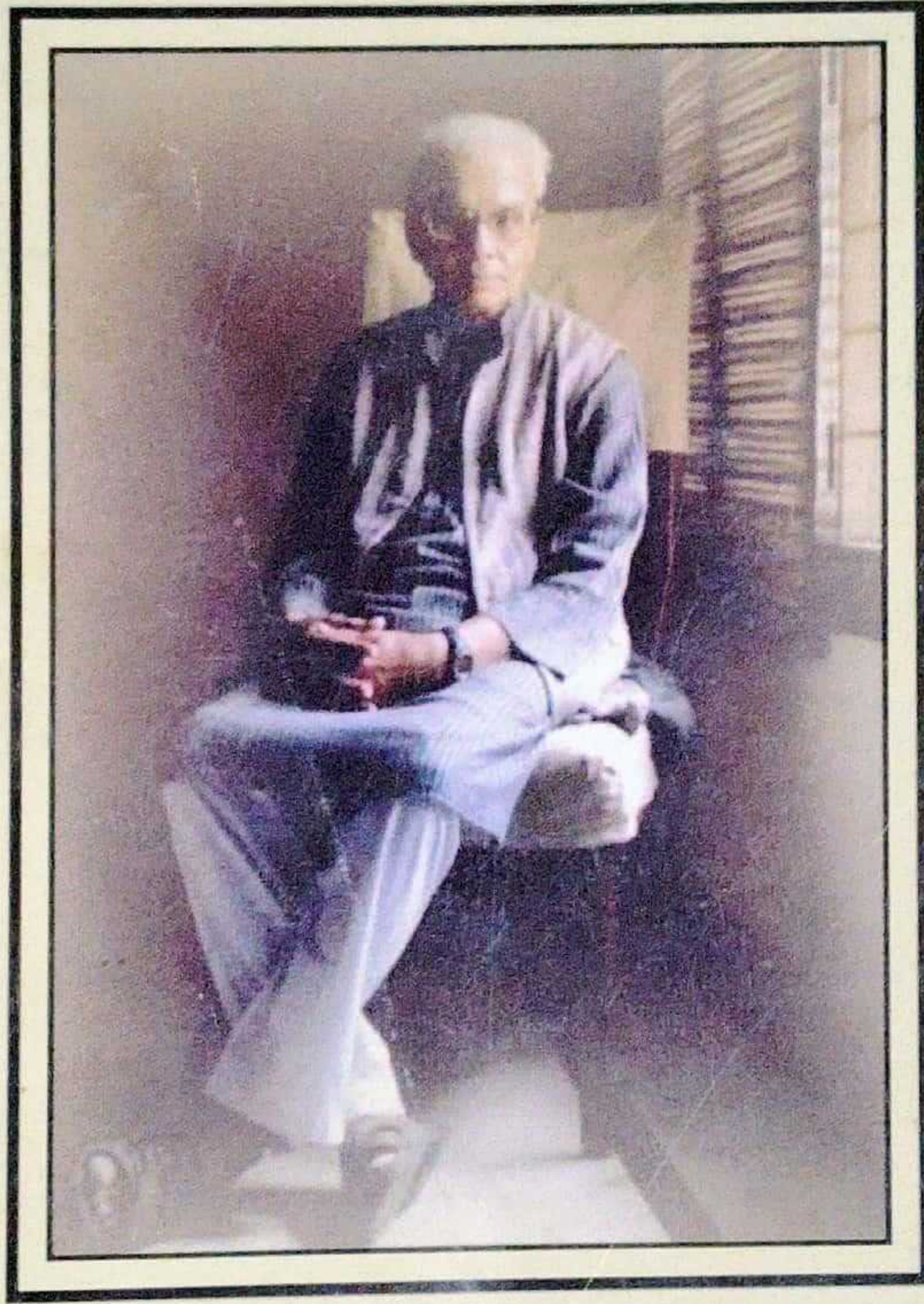
केदारनाथ सिंह
(07 जुलाई 1934 - 19 मार्च 2018)



जाऊंगा कहाँ

जाऊंगा कहाँ
रहूँगा यहीं
किसी किवाड़ पर
हाथ के निशान की तरह
पड़ा रहूँगा
किसी पुराने तारवे
या संदूक की गंध में
छिपा रहूँगा मैं
दबा रहूँगा किसी रजिस्टर में
अपने स्थायी पते के
अक्षरों के नीचे
या बन सका
तो ऊंची ढलानों पर
नमक ढोते खच्चरों की
घंटी बन जाऊंगा
या फिर माँझी के पुल की
कोई कील
जाऊंगा कहाँ
देखना
रहेगा सब जस का तस
सिर्फ मेरी दिनचर्या बदल जाएगी
साँझ को जब लौटेंगे पक्षी
लौट आऊँगा मैं भी
सुबह जब उड़ेंगे
उड़ जाऊँगा उनके संग...

(सृष्टि पर पहरा, सन् २०१४)



हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।
संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा